संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ५

श्रीमद् देवसेनाचार्यविरचितः

आराधनासारः

संस्कृत टीका

श्री पंडिताचार्य रत्नकीर्तिदेव

अनुवादक

पं० पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य'

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

आराधनासार

कृतिकार	:	आचार्य देवसेन
संस्कृत टीका	:	पण्डिताचार्य रत्नकीर्तिदेव
अनुवादक	:	पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
संस्करण	:	२८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्
आवृत्ति	:	२५४३) ११००
वेबसाइट	:	www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्रस्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की श्रृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

यह ग्रन्थ पूर्व में श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान महावीरजी से प्रकाशित था। इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्यश्री देवसेन महाराज हैं। चार आराधनाओं का बहुत ही सरल एवं रुचिपूर्ण वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। पंडिताचार्य रत्नकीर्तिदेव ने इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका की है तथा पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य जी ने हिन्दी अनुवाद किया है। पण्डित प्रवर आशाधरजी कृत टिप्पण भी परिशिष्ट में उपलब्ध थे, यह सब कार्य ज्यों का त्यों इस संस्करण में समाहित हैं। एतदर्थ पूर्व प्रकाशन संस्था, अनुवादक एवं पुनः प्रकाशन में सहयोगी सभी सुधी जनों का आभार व्यक्त करते हैं।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना। जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

प्रस्तावना

सम्पादन सामग्री—आराधनासार का सम्पादन निम्नलिखित ५ प्रतियों के आधार पर हुआ।

१. 'प' प्रति का परिचय

यह प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्राप्त हुई है। गाथा और संस्कृत टीका से सहित है। इसमें १२×६ साइज से १ पत्र हैं। प्रति पत्र में १३ पंक्तियाँ और प्रति पंक्तियाँ में ५०-५५ तक अक्षर हैं। लिपि सुवाच्य है, दशा अच्छी है। लेखक कृत अशुद्धियाँ हैं; लेखनकाल नहीं है। संस्कृत टीकाकार की प्रशस्ति भी नहीं है। संस्कृत टीका के रचयिता रत्नकीर्तिदेव हैं। इसका सांकेतिक नाम 'प' है।

२. 'ग' प्रति का परिचय

यह प्रति भी भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्राप्त हुई है। यह गुटका रूप में है। इसमें अनेक ग्रन्थों का संग्रह है। आराधनासार की मूल गाथाओं का ही संकलन है। भाषा की दृष्टि से लेख शुद्ध है। अक्षर सुवाच्य है। यह संग्रह कब और किसने किया, इसका पता नहीं चला। इस गुटका में एक कर्मविपाक ग्रन्थ भी संकलित है जो कि संस्कृत भाषामय है। इसके अन्त में सकल परमकीर्त्या संस्तुवे तद्गुणाप्त्यौ ऐसा उल्लेख है। उससे ''सकलकीर्ति की यह रचना है'' ऐसा जान पड़ता है। समयसार की गाथाएँ भी मूल रूप से संकलित हैं। कागज और लिपि की दृष्टि से प्रति प्राचीन मालूम होती है। इसमें वे पाठ भेद मिले हैं जिनका उल्लेख संस्कृत टीकाकार रत्नकीर्तिदेव ने अपनी टीका में किया है। इसका सांकेतिक नाम 'ग' है।

३.'म' प्रति का परिचय

यह प्रति पं० मनोहरलालजी शास्त्री द्वारा संपादित होकर माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से छपी है। इसमें संस्कृत गाथा और रत्नकीर्तिदेव की संस्कृत टीका है। अन्त में संस्कृत टीकाकार की प्रशस्ति दी हुई है। १६ पेजी फर्मों के १२७ पृष्ठ हैं। कुछ पाठ अशुद्ध छपे हैं। इसका सांकेतिक नाम 'म' है।

४. 'क' प्रति का परिचय

यह प्रति सर्वप्रथम श्री पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ के द्वारा सम्पादित होकर हिन्दी टीका सहित जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता से छपी थी, उसके बाद भी आचार्य शान्तिसागर जैन ग्रन्थमाला महावीरजी से इसका मुद्रण हुआ है। इसमें गाथा संस्कृत छाया और संस्कृत टीका के आधार पर सरल हिन्दी भाषा में अर्थ दिया हुआ है। सोलह पेजी फर्मों के १८० पृष्ठ में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ है। इसका सांकेतिक नाम 'क' है।

५. टिप्पण प्रति का परिचय

यह प्रति आमेर के शास्त्र भण्डार जयपुर की है। श्रीमान् डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इसमें १२×६ साइज के ७ पत्र है। प्रति पत्र में १३ पंक्तियाँ और प्रति पत्र में ३५-४० अक्षर हैं। अक्षर सुवाच्य है। लेखनकाल १५८१ विक्रम संवत् है। यह टिप्पण श्री पं० आशाधरजी ने श्री विनयचन्द्र के लिये लिखा था। बहुत ही संक्षिप्त टिप्पण है। उदाहरण के लिये आये हुए पुरुषों की कथाएँ भी इसमें दी हुई है। इसका अन्तिम पुष्पिका वाक्य है–

"श्री विनय चन्द्रार्थमित्याशाधर विरचिताराधनासार विवृति समाप्ता"

सम्पादन के बाद प्राप्त होने के कारण इसका उपयोग सम्पादन में नहीं किया जा सका है। परिशिष्ट के रूप में इस टिप्पण को ग्रन्थान्त में दिया जा रहा है। यह अब तक प्रकाशित नहीं हुई थी। टिप्पण की एक प्रति और भी जयपुर से प्राप्त हुई थी परन्तु उसके अक्षर एकदम पुछ गये हैं अतः उसका उपयोग नहीं हो सका।

सम्पादक के लिये प्रतियों की सुविधा कराने वाले महानुभावों के प्रति मेरा नम्र आभार है।

आराधनासार के रचयिता आचार्य देवसेन

आराधनासार के रचयिता आचार्य देवसेन हैं क्योंकि ग्रन्थ के अन्त मैं अपनी लघुता बतलाते हुए आपने अपना नामोल्लेख स्वयं किया है।

अमुणिय तच्चेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धं॥११५॥

तत्त्वों को न जानने वाले देवसेन ने यह जो कुछ कहा है उसमें यदि कुछ प्रवचन के विरुद्ध हो तो मुनिराज उसे शुद्ध कर लें।

आचार्य देवसेन संस्कृत और प्राकृत भाषा के महान् विद्वान् थे। जिनागम में प्रचलित नय-परम्परा के अच्छे जानकार तथा उनका सामंजस्य बैठाने वाले थे। निश्चयनय से वस्तुस्वरूप क्या है तथा व्यवहारनय से क्या है, इन सबका समीचीन उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। अपना अत्यन्त संक्षिप्त परिचय देते हुए इन्होंने अपने 'दर्शनसार' ग्रन्थ के अन्त में दो गाथाएँ लिखी हैं।

पुव्वापरियकमाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेण गणिणा धाराए संवसतेण॥४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णबसए णवई
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥

पूर्वाचार्यों के द्वारा रची हुई गाथाओं को एक जगह संचित करके श्री देवसेन गणी ने धारा नगरी में निवास करते हुए श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर में माघ सुदी दशमी विक्रम संवत् ९९० को यह

दर्शनसार रचा।

अपने अन्य किसी ग्रन्थ में उन्होंने ग्रन्थ रचना का समय नहीं दिया है। इन्होंने अपने आपको गणी लिखा है, इससे सिद्ध होता है कि वे लोकप्रिय साधु थे तथा अनेक मुनि इनके साथ थे। यद्यपि किसी ग्रन्थ में इन्होंने अपने संघ आदि का उल्लेख नहीं किया है तथापि दर्शनसार में उन्होंने काष्ठासंघ, द्रविडसंघ, माथुरसंघ और यापनीयसंघ आदि की जो उत्पत्ति बतलाई है तथा उन्हें जैनाभास कहा है उनसे सिद्ध होता है कि वे इन संघों में से किसी संघ के नहीं थे।

दर्शनसार की निम्न गाथा में उन्होंने कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन की चर्चा करते हुए उनके प्रति अपनी बहुत भारी आस्था प्रकट की है–

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥४३॥

यदि पद्मनन्दीस्वामी, कुन्दकुन्दस्वामी, सीमन्धरस्वामी के दिव्यज्ञान के द्वारा बोध नहीं देते तो मुनिजन सुमार्ग को कैसे जानते? इससे सिद्ध होता है कि वे कुन्दकुन्दाम्नाय के साधु थे।

इनके द्वारा रचित १. आराधनासार, २. दर्शनसार, ३. तत्त्वसार, ४. नयचक्र और ५. आलापपद्धति ये पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं, इनमें प्रारम्भ के ४ ग्रन्थ प्राकृत भाषा में और पाँचवाँ आलापपद्धति सरल संस्कृत भाषा में है।

इनका परिचय इस प्रकार है–

१. आराधनासार–यह ११५ गाथाओं का ग्रन्थ है इसमें आचार्य ने प्रारम्भ में व्यवहार और निश्चयनय के अनुसार सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं का वर्णन कर पश्चात् आराधक-सल्लेखना करने वाले का विस्तृत वर्णन किया है। सर्वप्रथम यह रत्नकीर्ति द्वारा रचित संस्कृत टीका के साथ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई से प्रकाशित हुआ था। उसके बाद भी पं० गजाधरलालजी के हिन्दी अनुवाद के साथ जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता और महावीरजी से इसके संस्करण प्रकाशित हुए। इसके प्रतिपाद्य विषय का विशद उल्लेख इसी प्रस्तावना में आगे किया जायेगा। शिवार्य रचित आराधना ग्रन्थ का सार इस ग्रन्थ में आया हुआ है! इसलिए इसका आराधनासार यह नाम सार्थक जान पड़ता है।

२.दर्शनसार–यह ५१ गाथाओं का अल्पकाय ग्रन्थ है। इसमें विविध दर्शनों की उत्पत्ति तथा जैन समाज के प्रचलित द्राविड, काष्ठा, माथुर और यापनीय आदि संघों की उत्पत्ति कब, किस प्रकार हुई इसका उल्लेख किया गया है। इसका एक संस्करण नाथूरामजी प्रेमी बम्बई ने विक्रम संवत् १९७४ में अपने जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित किया था। इसमें गाथाओं का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद दिया गया है तथा ग्रंथान्त में परिशिष्टरूप से एक विशद विवेचन के द्वारा

ग्रन्थोक्त वालों की ऐतिहासिक ढंग से समीक्षा की गई है।

दर्शनसार के अन्त में ग्रन्थकर्ता ने लिखा है कि पूर्वाचार्यों के द्वारा कृत गाथाओं को एक जगह संचित कर धारा नगरी में रहने वाले देवसेन गणी ने इस दर्शनसार की रचना वि० सं० ९९० को की है। इससे संभव है कि इसमें कुछ पूर्वाचार्यों की भी गाथाएँ संचित हैं और अब वे इसी का अंग बन गई हैं।

३. तत्त्वसार—यह ७४ गाथाओं का ग्रन्थ है इसमें आत्म-तत्त्व का सुन्दर निरूपण है। सर्वप्रथम मूलरूप से तत्त्वानुशासनादि संग्रह में माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला की ओर से इसका प्रकाशन हुआ था। पश्चात् ब्र० शीतलप्रसादजी ने वीर निर्वाण २४६४ में हिन्दी टीकाकर सूरत से इसका प्रकाशन करवाया था। उस समय जैन मित्र के ३९ वर्ष के ग्राहकों को यह भेंटस्वरूप दिया गया था।

४. नयचक्र- यह ८७ गाथाओं का ग्रन्थ है। इसमें जैन सिद्धान्त में प्रचलित नय-उपनयों का उदाहरणों के साथ विवेचन किया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई की ओर से नयचक्र संग्रह में किया गया था, इसी संग्रह में बृहत् नयचक्र नाम से एक दूसरा नयचक्र भी छपा है, इनमें ४२३ गाथाएँ हैं। इसका असली नाम 'दव्वसहाव पयास' (द्रव्यस्वभाव प्रकाश है) इसके रचयिता माइल्ल कवि हैं। इन्होंने दोहाबद्ध नयचक्र को गाथाओं में परिवर्तित किया है। इसमें देवसेन के नयचक्र का समस्त विषय अन्तर्निहित किया गया है तथा ग्रन्थकर्ता ने नयचक्र के कर्ता देवसेन के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव प्रकट किया है।

५. आलापपद्धति—यह जैन समाज का बहुप्रचलित ग्रन्थ है, इनमें नयों के स्वरूप तथा भेद और उपभेद सरलतापूर्वक समझाये गये हैं। सरल संस्कृत में इसकी रचना है। रचना पद्यरूप न होकर गद्य रूप है। जान पड़ता है आचार्य देवसेन ने अपने नयचक्र का सरलता से ज्ञान कराने के लिए इस आलापपद्धति को अंगीकृत किया है। इसका पुष्पिका वाक्य भी है-

''इति सुखबोधार्थमालापपद्धति विरचिता''

इसके कई जगह से हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। आलापपद्धति की कितनी ही प्रतियों में इसका नाम नयचक्र भी लिखा मिलता है। इनके सिवाय ९५० गाथाओं का एक 'भावसंग्रह' नाम का ग्रन्थ भी देवसेन के द्वारा रचित है, इसके अन्त में लिखा है-

सिरि विमलसेणगणहरसिस्सो नामेण देवसेणुत्ति।
अबहुजणबोहत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥

श्री विमलसेन गणी के शिष्य देवसेन ने अज्ञानीजनों के ज्ञान के लिए इस सूत्र-शास्त्र की रचना की है।

इसमें कई जगह दर्शनसार की अनेक गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं, इससे भी स्व० नाथूरामजी प्रेमी

का अभिप्राय रहा कि इसके कर्ता भी वही देवसेन है जो कि आराधनासार आदि के कर्ता हैं परन्तु पं० परमानन्दजी शास्त्री ने अनेकान्त वर्ष ७ अंक ११-१२ में इसके कर्ता देवसेन और सुलोचनाचरिउ (अपभ्रंशभाषात्मक) के कर्ता देवसेन को एक बताया है। अतः छानबीन की आवश्यकता है।

आराधनासार का प्रतिपाद्य विषय

११५ गाथाओं के अल्पकाय ग्रन्थ मैं ग्रन्थकर्ता ने प्रमुख रूप से आराधना सल्लेखना का वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र और सम्यक्तप; ये चार आराधनाएँ कहलाती हैं, इनका सार सल्लेखना धारण करना ही है। जीवन भर व्रताचरण या तपश्चरण करने वाला पुरुष अन्तिम समय में यदि सल्लेखना धारण नहीं कर पाता है तो उसकी वह सब साधना निरर्थक हो जाती है। इसलिए स्वामी समन्तभद्र ने अन्तर्क्रियाधिकरण-समाधिमरण की प्राप्ति को तप का फल कहा है। जिस प्रकार जीवन भर शस्त्र चलाने का अभ्यास करने वाला सुभट यदि समरांगण में लक्ष्यभेद नहीं कर पाता है तो उसका समग्र श्रम व्यर्थ जाता है। उसी प्रकार जीवन भर व्रताचरण या तपश्चरण करने वाला पुरुष अन्तिम समय में यदि सल्लेखना धारण नहीं कर पाता है तो उसका श्रम व्यर्थ जाता है अतः सल्लेखना धारण करने के लिये सदा सावधान रहना चाहिए।

कुन्दकुन्दस्वामी ने जो सल्लेखना को श्रावक के चार शिक्षाव्रतों में सम्मिलित किया है उसका अभिप्राय इतना ही है कि श्रावक को सदा ऐसी भावना रखनी चाहिए कि मेरा समाधिमरण हो। परवर्ती उमास्वामी तथा समन्तभद्र आदि आचार्यों ने यद्यपि इसे शिक्षाव्रतों में सम्मिलित नहीं किया है। तथापि ''मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता'' यह कहकर व्रती मनुष्य को आज्ञा दी है कि मरणान्तकाल में होने वाली सल्लेखना को अवश्य ही प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिए। पण्डित प्रवर आशाधरजी ने भी कहा कि -''जिसने संसार को नष्ट करने वाला समाधिमरण प्राप्त कर लिया उसने अपने धर्मरूप फल को सहगामी साथ जाने वाला कर लिया।''

चतुर्गति के दुःखों से संतप्त एक भव्य प्राणी भगवज्जिनेन्द्र की शरण में जाकर प्रार्थना करता है-हे भगवन्! 'दुक्खक्खओ' दुःखों का क्षय हो। भगवज्जिनेन्द्र की ओर से उत्तर आता है वत्स दुःखों का क्षय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि आत्मा के साथ कर्मों का अस्तित्व बना हुआ है। यह सुनकर भव्य प्राणी पुनः प्रार्थना करता है-भगवन्! कम्मक्खओ-

१. **अन्तक्रियाधिकरणं तपःफल सकलदर्शिनः स्तुवते।**
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥ (रत्नकरण्डकश्रावकाचार)

२. **सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः।**
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम्॥ (सागारधर्मामृत)

३. **दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य।**

मम होउ जगदबंधव तबह जिणवर चरणसरणेण॥ (समाधिभक्ति)

कर्मों का क्षय हो। भगवान् की ओर से उत्तर मिलता है वत्स! कर्मों का क्षय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि समाधिमरण की प्राप्ति न हो। इसके उत्तर में भव्य प्राणी फिर प्रार्थना करता है–भगवान् ''समाहि मरणं च'' समाधिमरण की प्राप्ति होओ। भगवान् की ओर से उत्तर मिलता है वत्स, समाधिमरण की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि बोधि–रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती। यह सुनकर भव्य प्राणी पुनः प्रार्थना करता है भगवन्! ''बोहिलाहो य'' रत्नत्रय की प्राप्ति भी हो।

इस तरह भव्य प्राणी कहता है कि हे जगत्बन्धो! हे जगत् के हितकारी जिनेन्द्र! आपके चरणों की शरण से मुझे इन चारों वस्तुओं की प्राप्ति हो। सारांश यह है कि समाधिमरण की प्राप्ति सम्यग्दृष्टि को ही हो सकती है। समाधिमरण से ही कर्मों का क्षय हो सकता है और कर्मों का क्षय होने से ही शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है। भगवतीआराधना में लिखा है कि–जो जीव एक भव में समाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर लेता है, वह ७-८ भवों से अधिक संसार में नहीं भटकता आराधनासार में भी उत्तम, मध्यम और जघन्य आराधना का फल बताते हुए कहा है कि आराधना का उत्तम फल तो यह है कि यह जीव काल आदि लब्धियों को पाकर तथा आठ कर्मों का क्षयकर केवलज्ञानी होता हुआ उसी भव में सिद्ध हो जाता है। मध्यम आराधना का फल यह है कि कोई जीव चार प्रकार की आराधनाओं की आराधना कर पुण्य शेष रहने से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र होते हैं और जघन्य आराधना का फल यह है कि सात आठ भवों में निर्वाण को प्राप्त होते हैं। इस तरह समाधिमरण की उपादेयता बतलाने वाले अनेक ग्रन्थ हैं।

भगवतीआराधना या मूलाराधना तो इसके विस्तृत ग्रन्थ हैं। प्रसंगोपात्त अन्य ग्रन्थों में भी इसकी अच्छी चर्चा की गई है। आचार्य देवसेन ने अपने आराधनासार में बड़े व्यवस्थित ढंग से इसकी चर्चा की है। प्रारम्भ में उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं का स्वरूप व्यवहार और निश्चयनय से बतलाकर व्यवहार आराधना को कारण और निश्चय आराधना को कार्य बतलाया है तथा यह कहा है कि क्षपक इन आराधनाओं के कारण कार्यविभाग को जानकर तथा काल आदि लब्धियों को प्राप्त कर इस तरह आराधना करे कि जिससे वह संसार से मुक्त हो जाये। व्यवहाराधना बाह्य कारण है और निश्चयाराधना अन्तरंग कारण है। इन दोनों के मिलने पर कार्य की सिद्धि अवश्य होती है। पृथक्–पृथक् एक कारण से कार्य सिद्धि संभव नहीं है। इसके लिये संस्कृत टीकाकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है–

कारणद्वय साध्यं न कार्यमेकेन जायते।
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित्॥

दो कारणों से सिद्ध होने वाला कार्य क्या एक कारण से सिद्ध होता है ? जैसे कि स्त्री-पुरुष दोनों से उत्पन्न होने वाली संतान क्या कहीं एक से उत्पन्न हो सकती है ?

इस तरह प्रारम्भ की १६ गाथाओं में चार आराधनाओं की संक्षिप्त चर्चा कर मरण के समय आराधना करने वाला कौन हो सकता है? इसकी विशद चर्चा की है-वे कहते हैं-जिसने कषायों को नष्ट कर दिया है, जो भव्य है, सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानसम्पन्न है तथा द्विविध परिग्रह का त्यागी है, वही मरण के समय आराधक हो सकता है। जो संसार के सुखों से विरक्त है, वैराग्य को प्राप्त है, परम उपशम भाव को प्राप्त हुआ है तथा विविध प्रकार के तपों से जिसका शरीर तप्त है ऐसा पुरुष ही मरण के समय आराधक हो सकता है। जो आत्मस्वभाव में लीन है। जिसने परद्रव्यों के संग से होने वाले सुख में रस लेना छोड़ दिया है तथा जिसके रागद्वेष नष्ट हो चुके हैं, ऐसा पुरुष ही मरण के समय आराधक हो सकता है। जो पुरुष रत्नत्रय से तन्मय अपने विशुद्ध आत्मा को छोड़कर पर द्रव्य का चिन्तन करता है, उसे आपने आराधना का विराधक कहा है। साथ ही यह भी कहा है कि-जो निश्चयनय का आश्रय लेकर न अपने आत्मा को जानता है और न पर को समझता है उसे न तो रत्नत्रय की प्राप्ति होती है और न सुसमाधि उसे प्राप्त होती है।

चिरसंचित कर्मों का क्षय करने के लिये आराधक को क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने १. अर्ह, २. संग त्याग, ३ कषाय सल्लेखना, ४. परीषहरूपी सेना को जीतना, ५. उपसर्गों का सहन करना, ६. इन्द्रियरूपी मल्लों को जीतना और ७. मनरूपी हाथी के प्रसार को रोकना; इन सात विशेषताओं का वर्णन किया है।

अर्ह का अर्थ योग्य होता है। संन्यास धारण करने योग्य कौन हो सकता है? इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि जिसने गृह-व्यापार को छोड़ दिया है, जो पुत्र आदि स्वजनों के साथ सम्बन्ध छोड़ चुका है तथा जो जीवन और धन की आशा से मुक्त हो चुका है, ऐसा पुरुष ही संन्यास धारण करने योग्य होता है, वास्तव में संन्यास का अर्थ ''सम्-सम्यक् प्रकारेण नि-नितराम् असनं परित्यजनमिति संन्यासः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अच्छी तरह सम्पूर्ण रूप से छोड़ना होता है, अनादिकाल से साथ में लगे हुए मोह के कारण यह जीव परपदार्थों से अलग होने पर भी उनसे अपने आपको संबद्ध मान रहा है उन्हीं की रक्षा के लिये रात-दिन गृह-व्यापार में संलग्न हो रहा है तथा स्त्री-पुत्रादि के चक्र में पड़ा रहता है अतः जब तक ''ये मेरे हैं'' और ''मैं इनका हूँ'' इस विपरीत मान्यता को नहीं छोड़ता तब तक संन्यास धारण करने के योग्य नहीं होगा। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है- जब तक वृद्धावस्थारूपी व्याघ्री आक्रमण नहीं करती है, जब तक इन्द्रियाँ विकल नहीं हुई हैं, जब तक बुद्धि हिताहित विचार की शक्ति नष्ट नहीं हुई है, जब तक आयुरूपी जल क्षीण नहीं हुआ है जब तक अपने आप में आहार, आसन और निद्रा को जीतने की सामर्थ्य है, जब तक स्वयं निर्यापक

होकर अपना संतरण करने की सामर्थ्य है, जब तक अंगोपांग और शरीर के बन्धन ढीले नहीं हुए हैं, मृत्यु के भय से जब तक शरीर नहीं काँपने लगता है और जब तक स्वयं तप, स्वाध्याय और ध्यान में उद्यम नष्ट नहीं होता, तभी तक यह पुरुष संन्यास धारण करने के योग्य है। इस तरह व्यवहार संन्यास की बात बतलाकर निश्चय संन्यास की चर्चा करते हुये कहा है कि जो श्रमण-साधु विकल्प से रहित होकर स्वकीय स्वभाव में संलग्न होता है, वही संन्यास धारण करने योग्य है।

संग का अर्थ परिग्रह है वह परिग्रह बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है-क्षेत्र वास्तु आदि बाह्य परिग्रह है और मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रह हैं। इन दोनों परिग्रहों का त्याग करने वाले पुरुष ही संन्यास के योग्य होता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि-संन्यास के इच्छुक मनुष्य को इस द्विविध परिग्रह का त्याग कर बाह्य आलम्बन से रहित अपनी आत्मा का ही ध्यान करना चाहिए। संग-परिग्रह के त्याग से ही जीव परम उपशमभाव को प्राप्त होता है और उपशमभाव को प्राप्त हुआ जीव ही आत्मस्वरूप में स्थिर हो सकता है। जब तक यह जीव परिग्रह को नहीं छोड़ता है तब तक चित्त की मलिनता को नहीं छोड़ सकता। द्विविध परिग्रह का त्याग होने पर ही क्षपक निर्मलचित्त होता है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का संक्षिप्त वर्णन करते हुए कहा कि शरीर बाह्य परिग्रह है और विषयों की अभिलाषा अंतरंग परिग्रह है। इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग होने पर ही निर्ग्रन्थ-मुनि वास्तव में निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रह होता है।

कषाय सल्लेखना का अर्थ कषाय को कृश करना है। इसकी सिद्धि का वर्णन करते हुए ग्रन्थकर्ता ने कहा-यह इन्द्रियरूप शरीर अपने-अपने विषयों में गमनशील है अर्थात् स्पर्शनादि इन्द्रियाँ अपने-अपने स्पर्श आदि विषयों की ओर निरंतर दौड़ रही हैं, जो जीव उन पर निर्मोह होता है, वही मन्दकषाय होता है। वास्तव में इन्द्रिय विषयों की पूर्ति के लिये ही इस जीव की कषाय जागृत होती है अतः जब इन्द्रियों के विषयों की ओर से उदासीनता आ जाती है तब कषाय स्वयं मन्द पड़ जाती है और धीर-धीरे बिल्कुल नष्ट हो जाती है। मुनि आतापनादि बाह्य योगों के द्वारा यद्यपि शरीर सल्लेखना करता है-शरीर को अत्यन्त कृश कर लेता है परन्तु जब तक कषायों को कृश नहीं करता तब तक उसकी शरीर सल्लेखना व्यर्थ ही रहती है। ये कषाय अत्यन्त बलिष्ठ तथा दुर्जेय है, इनके द्वारा ही यह समस्त त्रिभुवन, चतुर्गतिरूप भयंकर भवसागर में गोता लगा रहा है। जब-तक यह जीव कषायों को नष्ट नहीं करता है तब तक कषायी कहलाता है और कषायी संयमी कैसे हो सकता है? संयम से रहित मनुष्य के समस्त गुण, विशुद्धि के करने वाले नहीं होते इसलिए ज्ञानी जीवों को सदा कषायों को कृश करना चाहिए। कषायों के कृश होने पर ही मुनि आत्मस्वरूप में स्थिर होता है कृश की हुई कषायें मुनि के चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं करतीं तथा चित्त में क्षोभ न होने से मुनि उत्तम ध्यान को अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

शीतादि बाईस परीषह सुभटों के समान अत्यन्त बलवान है–ये बड़े-बड़े त्यागी व्रतियों को एक ही झटके में गृहीत मार्ग से च्युत कर देते हैं। मुनि को चाहिए कि वह उपशमभावरूपी खड्ग के द्वारा उन परीषहरूपी सुभटों को जीते। परीषहरूपी सुभटों के द्वारा पराजित हुए पुरुष संन्यासरूपी युद्ध से विमुख हो पुनः शारीरिक सुख की शरण में आते हैं। पर वह शारीरिक सुख भी उनके वश का नहीं है, सदा काल उनके पास नहीं रहता, परीषह को जीतने के लिये क्षपक को ऐसा विचार करना चाहिए कि हे आत्मन्! तूने इस संसार में परवश होकर अनेक दुःख सहे हैं अब अपने मन को आत्मस्वरूप में स्थिर करता हुआ स्ववश होकर इन दुःखों को सह। अत्यन्त तीव्र वेदना से आक्रांत हुआ तू यदि उपशमभाव को धारण करेगा तो आधे क्षण में ही अशुभ कर्मों को नष्ट कर देगा। जो पुरुष परीषहरूपी सुभटों से भयभीत होकर चारित्ररूपी रणभूमि को छोड़ देते हैं। वे पृथ्वी में उपहास को प्राप्त होते हुए दुःखों के घर बनते हैं। हे जीव! यदि तू परीषहरूपी परचक्र से भयभीत हुआ है तो गुप्तित्रयरूपी सुरक्षित स्थान में प्रवेश कर; स्व स्वभाव में स्थिर हो तथा मनरूप बाण को मोक्षगत कर–मोक्षस्वरूप के चिन्तन में लगा अथवा मनरूपी बाण को छोड़कर शत्रुदल का सामना कर परीषहरूपी दावानल से संतप्त हुआ जो जीव ज्ञानरूपी सरोवर में प्रवेश करता है। वह स्व स्वभावरूपी जल से सींचा जाकर निश्चित ही निर्वाण, परमसुख अथवा मोक्ष को प्राप्त होता है।

सल्लेखना में स्थित जीव को कदाचित् दुःख उत्पन्न करने वाले नाना प्रकार के उपसर्गों का भी सामना करना पड़े तो उन्हें साम्यभाव से सहन करना चाहिए। मनुष्यकृत, देवकृत, तिर्यंचकृत, अचेतनकृत के भेद से उपसर्ग के चार भेद होते हैं। ज्ञानमय भावना में चित्त लगाने वाले श्रेष्ठ पुरुष ही इन महान् उपसर्गों को सहन कर सकते हैं। उपसर्गों के उपस्थित होने पर पूर्व पुरुषों के चरित्र का चिन्तन करते हुए अपने परिणामों को स्थित करना चाहिए। इसी संदर्भ में ग्रन्थकर्ता ने शिवभूति मुनि; राजकुमार मुनि, श्रीदत्त, सुवर्णभद्र तथा सुकुमाल आदि मुनियों के दृष्टान्त देकर क्षपक को उपसर्ग सहन करने का मार्मिक उपदेश दिया है। संस्कृत टीकाकार ने इन सबकी कथाएँ देकर प्रकरण को अत्यन्त रोचक बना दिया है।

ये इन्द्रियाँ मल्लों के समान हैं, इनको जीते बिना संन्यास की सिद्धि होना दुर्भर है इसलिए आचार्य ने इन्हें जीतने की विशेष प्रेरणा दी है। वे कहते हैं–इन्द्रियरूपी शिकारियों के द्वारा पीड़ित ये प्राणीरूपी हरिण बाण पीड़ा से पीड़ित शरीर तथा चंचलचित्त होते हुए कहीं भी प्रीति को प्राप्त नहीं होते, सीधे विषयरूपी वन की ओर दौड़ते हैं। हे क्षपक! यदि तूने समस्त परिग्रहों का त्याग कर संन्यास धारण किया है, फिर भी तू विषयों की अभिलाषा करता है तो समस्त ज्ञान, दर्शन और तप को निष्फल बनाता है। जब तक मन में समाये हुए इन्द्रिय विषय सम्बन्धी विकार दूर नहीं होते हैं तब तक हे क्षपक! तू समस्त दोषों का परिहार करने में समर्थ नहीं हो सकता। इन्द्रियरूपी मल्लों

के द्वारा जीते हुए देव, धरणेन्द्र तथा उत्तमोत्तम मनुष्यों के समूह विषयों की शरण में जाकर उनमें सुख मानते हैं। इन्द्रियजन्य सुख; वास्तव में सुख नहीं हैं क्योंकि वह परद्रव्य के संसर्ग से होता है इसलिए ज्ञानी जीवों को इन्द्रियों से विरति करना ही श्रेष्ठ है। यह इन्द्रियरूपी सेना; मनरूपी राजा से प्रेरित होकर फैलती है इसमें संदेह नहीं है, इसलिए क्षपक को मन का नियन्त्रण सर्वप्रथम करना चाहिए। यह मनरूपी राजा; देव, दानव, मनुष्य और विद्याधरों से सहित जगत् का एक निमेष मात्र में उपभोग करने लगता है। इसका कोई सानी नहीं है। मनरूपी राजा का मरण होने पर इन्द्रियरूपी सेना मर जाती है। इन्द्रियरूपी सेना के मरने से समस्त कर्म, अपने आप नष्ट हो जाते हैं, कर्मों के नष्ट होने से मोक्ष होता है और मोक्ष प्राप्त होने पर शाश्वत सुख प्राप्त होता है। इसलिए इन्द्रिय विषयों से छूटने के लिये मन को मारने का प्रयत्न कर।

इसी मन के प्रसार को रोकने के लिये आचार्य कहते हैं–जिन पुरुषों ने दौड़ते हुए इस मनरूपी कलभ (हाथी) को (अथवा करभ–ऊँट को) ज्ञानरूपी सुदृढ़ रस्सी से नहीं बाँधा वे पुरुष दुःख भोगते हुए संसार में भटकते रहते हैं। हे क्षपक! देख; तन्दुलमत्स्य मन के द्वारा किये हुए दोषों से नरक को प्राप्त हुआ। यह जानकर तुझे भी मन का निरोध करना चाहिए।

हे आराधक! तू मन को वश करना सीख, क्योंकि इसके वश कर लेने से मनुष्यों के रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं; रागद्वेष के नष्ट हो जाने से परम साम्यभाव प्राप्त होता है। साम्यभाव को प्राप्त हुआ जीव मन का निग्रह करने में समर्थ होता है और मन का प्रसार रुक जाने पर आत्मा ही परमात्मा हो जाता है। ज्ञान का आलम्बन करने से ज्यों-ज्यों मनुष्य की विषय सम्बन्धी अभिलाषा प्रशान्त होती जाती है, त्यों-त्यों आलम्बन से रहित होता हुआ मन का प्रसार रुक जाता है! जिस समय यह मन विषयों का आलम्बन छोड़ ज्ञानस्वभाव का आलम्बन लेता हुआ आत्मस्वभाव में क्रीड़ा करने लगता है, उसी समय इसे मोक्ष सुख की प्राप्ति हो जाती है। हे क्षपक! तू इस मनरूपी वृक्ष को काट दे, इसकी राग-द्वेषरूपी शाखाओं को खण्डित कर दे तथा इसे मोहरूपी जल से मत सींच; इसे निष्फल बना दे। मन का व्यापार नष्ट हो जाने पर इन्द्रियाँ विषयों में नहीं जाती हैं। वृक्ष की जड़ कट जाने पर पल्लव कैसे हो सकते हैं ? मन का व्यापार नष्ट हो जाने पर कर्मों का आस्रव रुक जाता है और मन का व्यापार जारी रहते हुए कर्मों का बन्ध जारी रहता है।

आगे मन को शून्य-निर्विकल्प बनाने का उपदेश देते हुए आचार्य कहते हैं –

जब-तक यह जीव राग-द्वेष को छोड़कर तथा अपने मन को शून्य कर नहीं बैठता है तब तक कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता। जब तक मुनि आत्मा ज्ञान के द्वारा अपने मन को निर्व्यापार नहीं बनाता, तब तक काय और वचन योग का निरोध होने पर भी कर्मों के आस्रव नहीं रुकते। मन का संचार क्षीण हो जाने तथा दोनों प्रकार का आस्रव रुक जाने पर पुरातन कर्म खिर जाते हैं और

केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। हे क्षपक! यदि तू कर्म क्षय करना चाहता है तो अपने मन को शीघ्र ही शून्य कर। चित्त के शून्य हो जाने पर आत्मा निश्चित ही प्रकाशमान हो जाता है-ज्ञान स्वभाव से तन्मय हो जाता है। यदि तू अपने चित्त को ऊजड़ बनाता है-अनेक विकल्प जाल से शून्य करता है तथा स्वकर्म शुद्ध स्वभाव में निवास करता है तो अवश्य ही तुझे ज्ञानमय शुद्धात्मा का दर्शन-अनुभव होगा।

शून्यध्यान की प्रभुता का वर्णन करते हुए कहते हैं-जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा चिन्तन का कोई विकल्प नहीं है वह शून्यध्यान है। इस शून्यध्यान की अच्छी तरह भावना करनी चाहिए। जो योगी शून्यध्यान में प्रविष्ट होता है वह अवश्य ही स्वाभाविक सुख से सम्पन्न होता हुआ परमानन्द में स्थित होता है। ऐसा मुनि भृतावस्थ-गुणगण से परिपूर्ण होता है। निश्चयनय से दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा से भिन्न नहीं हैं इन तीन रूप ही आत्मा है इसलिए आत्मा का जो शुद्ध भाव है, वही रत्नत्रय है। यह रत्नत्रय मोक्ष का साक्षात् मार्ग है।

[१]जिस प्रकार जल के संयोग से नमक विलीन हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन ध्यान में विलीन हो जाता है उसके शुभ-अशुभ कर्मों को जलाने वाली आत्मारूपी अग्नि स्वयं प्रकट हो जाती है। जब मनरूपी घर ऊजड हो जाता है, समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाता है और आत्मस्वभाव प्रकट हो जाता है तब आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। इस प्रकार के निर्विकल्प ध्यान में लीन ध्यानी मनुष्य के चिरबद्ध कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

[२]शून्यध्यान के फलस्वरूप यह जीव शरीर बंधन से मुक्त होता हुआ अनन्तकाल तक अतीन्द्रिय एवं अनुपम आत्मसुख का अनुभव करता है। जो ज्ञानी जीव अन्त में समस्त परिग्रह का त्याग कर इस सल्लेखनारूप उत्तमार्थ को सिद्ध करते हैं, वे धन्य हैं, भाग्यवान् हैं।

अन्त में ग्रन्थकर्ता ने क्षपक को सावधान करते हुए बहुत मार्मिक देशना दी है। वे कहते हैं-

[३]हे क्षपक! तू धन्य है, तेरा सुयश चिरकाल तक विद्यमान रहेगा क्योंकि तूने मनुष्य भव पाकर संयम धारण किया है और उत्तम संन्यास मरण का संकल्प किया है, कठोर संथारे के ग्रहण से यदि तुझे दुःख होता है तो तू समभाव से उसे सहन कर। क्षुधा, तृषा आदि परीषहों से ज्यों-ज्यों तेरी देह को पीड़ा होती है त्यों-त्यों तेरे चिरबद्ध कर्म निर्जीण होते हैं। जिस प्रकार अग्नि के संयोग से जल संतप्त होता है उसी प्रकार तू शरीर के संयोग से चतुर्गतियों में दुःख से संतप्त हो रहा है। जब तक यह जीवरूपी स्वर्ण शरीररूपी भूसा के अन्दर ज्ञानरूपी पवन से प्रज्ज्वलित होता हुआ तपरूपी अग्नि से संतप्त नहीं होता तब तक निष्कलंक नहीं बन सकता। हे क्षपक! तू ऐसा विचार कर कि-मैं देहस्वरूप हूँ। ऐसा विचार करने से तू शारीरिक और मानसिक दुःखों को अनायास ही सहन कर

१. गाथा ८४-८६, २. गाथा ८९-९०, गाथा ९२-१०५

सकेगा। न तुझे कोई रोग है न कोई पीड़ा है और न तेरा मरण है। यह सब शरीर की अवस्थाएँ हैं, ''मैं शरीर से भिन्न ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण एक शुद्ध आत्मा हूँ, सुख ही मेरा स्वभाव है, जन्म-मरण मेरी अवस्थाएँ नहीं हैं।'' ऐसी भावना करने से तू आत्मा को शरीर से उस तरह पृथक् कर लेगा जिस तरह कि कोई म्यान से तलवार को पृथक् कर लेता है।

अन्त में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य आराधना मरण का फल बताते हुए ग्रन्थ का समारोप किया है।

संस्कृत टीकाकार श्री पण्डिताचार्य रत्नकीर्तिदेव और उनकी संस्कृत टीका—

आराधनासार पर सर्वप्रथम पण्डित प्रवर श्री आशाधरजी ने संस्कृत गद्य में एक संक्षिप्त टिप्पण लिखा था, जो अब तक अप्रकाशित रहा। जयपुर के भंडारों में इसकी प्रतियाँ थीं। श्री डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल के सौजन्य से उसकी प्रतियाँ प्राप्त हो गईं और उनके आधार पर सम्पादित कर इसी संस्करण के अन्त में परिशिष्ट रूप से उसे प्रकाशित किया गया है। पं० आशाधरजी तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैन ग्रन्थकर्ता हैं। अनेक ग्रन्थों की रचना आपके द्वारा हुई है।

प्रस्तुत संस्कृत टीका के कर्ता पण्डित श्री रत्नकीर्तिदेव हैं। इन्होंने टीका के अन्त में अपनी प्रशस्ति दी है। उसमें लिखा है–

टीका के अन्त में अपनी प्रशस्ति दी है। उसमें लिखा है—

शास्त्ररूपी समुद्र के पारदर्शी एक अश्वसेन नाम के मुनि हुए हैं, जो स्याद्वादरूपी विशाल आकाश में पूर्णचन्द्र के समान जान पड़ते थे। माथुर संघरूपी महोदधि को उल्लसित करने के लिए पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य थे, मोहरूपी अन्धकार के प्रसार को उन्होंने नष्ट कर दिया था, प्रशान्त तथा अनन्तयश के धारक थे तथा ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा उन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया था। इनके बाद जगत् प्रसिद्ध काष्ठासंघ में क्षेमकीर्ति नामक तपस्वी-मुनि हुए, जो लीलाओं के ध्यान से फैलने वाले महामोहरूपी दावानल को शान्त करने के लिए जलस्वरूप थे, जिन्होंने काम को जीत लिया था तथा बड़े-बड़े राजाओं के समूह के जिनके चरणयुगल वन्दनीय थे। उन्हीं के पट्ट पर हेमकीर्ति मुनि हुए, जो कि सूर्य के समान अपनी ज्ञानरूपी किरणों के द्वारा रागद्वेषरूपी महान् अन्धकार को नष्ट करते थे, भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करते थे और दिगम्बर पथ के आभूषणस्वरूप थे। उन्हीं हेमकीर्ति के शिल्प रत्नकीर्ति थे, जो ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता थे, मंगलकारी कीर्ति से सहित थे, इनके पट्टधर शिष्य अनन्तकीर्ति हुए। ये अनन्तकीर्ति चन्द्रमा के समान जिनका सुयश वाणी था; मंगलमूर्ति थे और जिनेन्द्र भगवान् की पवित्र अमृत वाणी में स्नान करने से जिनका संताप नष्ट हो गया था। उन्हीं आगमाभ्यासी रत्नकीर्ति मुनि ने गुरु का आदेश प्राप्त कर परमात्मा का प्रबोध कराने

के लिए आराधनासार की यह अत्यन्त स्पष्ट टीका लिखी है।

यह टीका इन्होंने कब लिखी; इसका उल्लेख नहीं दिया। परन्तु टीकामिमो स्पष्ट तमां व्यधत्त, टीका के स्पष्ट अन्य इस विशेषण से सिद्ध होता है कि यह टीका उन्होंने आशाधरजी के बाद ही लिखी है क्योंकि आशाधरजी के संक्षिप्त टिप्पण से ग्रन्थ का पूरा भाव प्रकट नहीं होता था इसलिए इनका प्रयास स्पष्टतम टीका लिखने की ओर हुआ, आप अनेक शास्त्रों के दृष्टा तथा काव्य शास्त्र के निष्णात विद्वान् थे। इन्होंने आराधनासार के मंगलाचरण में आए हुए 'सुरसेणवंदियं' पद के जो बारह अर्थ प्रकट किये हैं, वह इनकी काव्य शास्त्र विषयक प्राप्ति को प्रकट करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं। इस टीका में इन्होंने अनेक प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण देकर विषय को स्पष्ट किया है। उपसर्ग सहने वाले महापुरुषों की कथाएँ देते हुए आपने अनेक दुर्लभ सुभाषितों का भी संकलन किया है। इस तरह यह टीका अपने विषय को स्पष्ट करने वाली होने से सचमुच ही स्पष्ट है। श्री पं० परमानन्दजी शास्त्री दिल्ली के अन्वेषण के फलस्वरूप टीकाकार श्री रत्नकीर्ति का समय पन्द्रहवीं शताब्दी है।

आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराज का संघ सहित प्रतापगढ़ में चातुर्मास था। प्रसंगवश वहाँ जाने का अवसर प्राप्त हुआ। तब दो दिन रहने के बाद जब आने लगा तब महाराजजी ने रोक दिया। गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर रुक गया। मध्याह्न की सामायिक के बाद महाराज ने आज्ञा की- आराधनासार की टीका करवाना है। मैंने स्वीकृति दे दी। सागर आने पर चालू कामों में व्यस्त रहने के कारण काम शुरू नहीं हो सका। इसी बीच महावीरजी क्षेत्र पर आचार्य महाराज का समाधिमरण हो गया। समाधिमरण का समाचार सुनकर हृदय पर एक बड़ा आघात लगा कि मैं उनकी आज्ञा का पालन नहीं कर सका। पुनः चैत्र में महावीरजी जाने का प्रसंग आया तब श्री १०८ श्रुतसागर महाराजजी ने कहा कि-आचार्य महाराज की अंतिम इच्छा पर आपने ध्यान नहीं दिया। मैंने कहा महाराजजी, चालू कार्यों की इतनी व्यस्तता रहती है कि कोई अतिरिक्त काम होना कठिन होता है, परन्तु अब ग्रीष्म अवकाश आ रहा है इसलिए काम शीघ्र कर लूँगा, ऐसी आशा है। महावीरजी से वापस आते ही भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से प्राचीन प्रतियाँ बुलाने के लिए पत्रव्यवहार किया तथा वहाँ से एक सटीक तथा एक मूलगाथा मात्र इस तरह दो प्रतियाँ प्राप्त हो गईं। भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट एक ऐसी सार्वजनिक संस्था है कि जिससे सुविधापूर्वक प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त किए जा सकते हैं। अपनी समाज के शास्त्र भण्डारों से प्राचीन शास्त्र प्राप्त करना बड़ा कठिन है। प्रथम तो पत्रों का उत्तर प्राप्त नहीं होता, द्वितीय नगद डिपोजिट की माँग रहती है, जिसे साधारण लेखक को जुटा पाना सरल नहीं होता है।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित आराधनासार पर प्राचीन प्रतियों से पाठभेद लेकर शुद्ध

पाठों का निर्धारण किया और तदनन्तर टीका का कार्य शुरू किया। कुछ समय में ही कार्य सम्पन्न हो गया। कार्य पूर्ण होते ही पाण्डुलिपि श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज के पास भेज दी! आपने उसे आद्योपांत देखकर आवश्यक संशोधनों की ओर हमारी दृष्टि आकर्षित की। तदनुसार संशोधन कर पाण्डुलिपि महावीरजी भेज दी गई। प्रसन्नता की बात है कि श्रीमान् ब्र० लाडमलजी तथा श्री महेशजी की देखरेख में उसका शीघ्र ही प्रकाशन हो गया। प्रूफ का अवलोकन पं० महेन्द्रकुमारजी 'महेश' ने किया है। श्री ब्र० लाडमलजी प्रकाशन के लिये योग्य दानी भी खोज लेते हैं और सरलता से इस प्रकाशन के कार्य को सम्पन्न कर लेते हैं। इसकी बड़ी प्रसन्नता है। उनके प्रति मैं आभार प्रकट कर सकता हूँ।

प्राकृत संस्करण में मूल गाथा का अर्थ देने के बाद संस्कृत टीका खण्डान्वय की पद्धति से लिखी होने के कारण उसका शब्दशः अनुवाद करने पर हिन्दी का व्यवस्थित रूप रहना संभव नहीं था, अतः उसके आश्रय से विवेचन किया गया है, संस्कृत टीकाकार ने अनेक जगह ग्रन्थान्तरों के उद्धरण दिये हैं, उन सबका अर्थ टीका में दिया गया है। जिन उद्धरणों का पता चल सका है टिप्पण में उनके मूल ग्रन्थ का उल्लेख कर दिया है। टीकाकार ने कितना ही विषय सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों से लिया है, उनका मिलान तद्-तद् ग्रन्थों से कर अर्थ की संगति बैठाई है तथा जहाँ आवश्यकता दिखी, वहाँ ग्रन्थों से विषय को स्पष्ट कर दिया है। इस तरह अपने क्षयोपशम के अनुसार ग्रन्थ को सरल एवं सुबोध बनाने के लिये मैंने बुद्धिपूर्वक प्रयास तो किया है पर ज्ञान की न्यूनता के कारण अनेक त्रुटियों का रह जाना संभव है, उन सबके लिये मैं विद्वज्जनों से क्षमाप्रार्थी हूँ। प्राचीन साहित्य के उद्धार में जिन महानुभावों से जो भी सहयोग प्राप्त होता है, उस सबके लिये मैं उन सब महानुभावों का आभार मानता आया हूँ। हमारे ऋषि-महर्षि अपने जो भी विचार शास्त्रों में अंकित कर गये हैं, जनकल्याण की भावना से उनका प्रचारित करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है; इसी भावना से साहित्यिक क्षेत्र में कुछ काम करता रहता हूँ।

विनीत

पन्नालाल जैन

विषय-सूची

श्रीमद् देवसेनाचार्यविरचितः

आराधनासारः

(श्री रत्नकीर्तिदेव विरचित संस्कृतटीका सहित)

मंगलाचरण

सिद्धानाराधनासार-फलेन फलितात्मनः।
ध्यात्वा व्याख्यानतीर्थेन स्वस्यात्मानं पुनाम्यहम्॥१॥
जिनेन्द्रहिमवद्वक्त्रपद्मह्रदविनिर्गता ।
सप्तभङ्गमयी गङ्गा मां पुनातु सरस्वती॥२॥
गुरूणां चरणद्वन्द्वं महामन्त्रोपमं वसत्।
सदा मद्हृदयांभोजे ह्रियाद्विघ्नपरम्पराम्॥३॥

टीकाकार का मंगलाचरण

आरुह्याराधनानावं तीर्णो यैर्भवसागरः।
सिद्धांस्तान्मनसा ध्यात्वा प्रणमामि निरन्तरम्॥
आचार्यदेवसेनेन रचितं प्रचितं गुणैः।
ग्रन्थमाराधनासारं विवृणोमि समासतः॥
श्री रत्नकीर्तिदेवेन निर्मिता गुणहारिणी।
देववाणीमयी टीका साहाय्यं विदधातु मे॥

श्री देवसेनाचार्यरचित आराधनासार ग्रन्थ की संस्कृत टीका रचते हुए श्रीरत्नकीर्तिदेव मंगलाचरण पूर्वक प्रतिज्ञावाक्य को प्रकट करते हैं–

सिद्धानिति–आराधनासार के फल से जिनकी आत्मा फलयुक्त हुई है, ऐसे सिद्ध भगवान् का ध्यान कर व्याख्यानरूप तीर्थ के द्वारा मैं अपनी आत्मा को पवित्र करता हूँ ॥१॥

जिनेन्द्र–जिनेन्द्र भगवान्‌रूपी हिमवान् पर्वत के मुखस्वरूप पद्मनामक सरोवर से निकली हुई सप्तभंगों से युक्त जिनवाणीरूपी गंगा-नदी मुझे पवित्र करे।

गुरूणामिति–मेरे हृदयरूपी कमल में निरन्तर निवास करने वाले तथा महामन्त्र की उपमा से युक्त गुरुओं के चरण-युगल विघ्नों की संतति को नष्ट करें।

अथ संसार-महापारावारपारासन्नप्रदेशस्थेन निरुपाधिनिरुपद्रवाविनश्वरसनातनानन्त सौख्य-समुदायोपायचिंतनं निर्गमितनिरन्तरकालेन सिद्धालयवेलापत्तनं जिगमिषुणा जिनोदितभेदाभेदरत्नत्रय-पोतसमारूढेन स्वभावोत्थितपरमकरुणारसपूरप्रभावेण भवदु:खाग्निदह्यमानानन्यानपि भव्यजीवांस्तद्-योग्योपदेशवचनैस्तत्रारोप्य पारं कर्तुकामेन स्वयं कर्णधारायमानेन स्वयमेव सार्थवाहाधिपायमानेन तन्मार्गलग्नशीघ्रतरप्रधावमानमहामोहाभिधानचौरनरेन्द्रकिङ्करीभूतविषयकषायलुण्टाकभीतिनिराकरणाय समाश्रितसकलसिद्धान्तरहस्यभूतनिश्चयव्यवहारभेदभिन्न-चतुर्विधाराधनाग्रन्थसङ्ग्रथितपरम-शब्दब्रह्मप्रयत्नेन अनेकान्तमरुन्मार्ग[१]तरीयमानेन श्रेयोमार्गसंसिद्धिशिष्टाचारप्रपालननास्तिक्य-परिहारार्थनिर्विघ्न-परिसमाप्ति-फलचतुष्टयाभिलाषुकेण परमसम्यक्त्वाद्यष्टप्रसिद्धविमलतरगुणसमृद्धानां सिद्धानां महावीरविशेषणयुक्तानां द्रव्यभावभेदभिन्नं द्विविधं नमस्कारं कुर्वाणेन आराधनासारं वक्ष्येहमिति प्रतिज्ञां विरचयता च श्रीमत्परम-भट्टारकश्रीदेवसेनाचार्येणस्तोत्रमिदं विधीयते।

अथेति—तदनंतर जो संसाररूपी महासागर के तट के निकटवर्ती प्रदेश में स्थित हैं, जो व्यतीत हुए अनन्तकाल से मोक्षरूपी उस तटवर्ती नगर को प्राप्त करना चाहते हैं, जिसमें बाह्य परिकर से रहित, निरुपद्रव, अविनाशी, नित्य और अनन्तसुख समूह के उपायों का चिन्तन किया जाता है, जो जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित भेद और अभेद-निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयरूपी जहाज पर आरूढ़ हैं तथा जो स्वभाव से उत्पन्न परम करुणा रस के पूर के प्रभाव से सांसारिक दु:ख रूपी अग्नि से अतिशय जलते हुए अन्य भव्य जीवों को भी उनके योग्य उपदेशरूप वचनों के द्वारा उस भेदाभेद रत्नत्रय रूप जहाज पर चढ़ाकर पार कराना चाहते हैं, जो स्वयं ही कर्णधार के समान हैं, जो स्वयं ही झुण्ड के अधिपति के तुल्य हैं, जो उस मार्ग में लीन और अत्यन्त शीघ्रता के साथ दौड़ते हुए महामोह रूपी चोरों के राजा किंकर स्वरूप विषय कषायरूप लुटेरों के भय को दूर करने के लिए समस्त जिनागम के रहस्यभूत निश्चय एवं व्यवहार के भेद से भिन्न चार प्रकार की आराधनाओं की रचना से युक्त उत्कृष्ट शब्द ब्रह्म में प्रयत्नशील हैं अर्थात् शास्त्रों के अध्ययन में संलग्न हैं, जो अनेकान्त रूपी आकाश को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान हैं, जो श्रेयोमार्ग की सिद्धि, शिष्टाचार का पालन, नास्तिकता का परिहार और निर्विघ्नरूप से ग्रन्थ की समाप्ति; इन चार फलों को प्राप्त करने के इच्छुक हैं, जो उत्कृष्ट सम्यक्त्व आदि आठ प्रकार के प्रसिद्ध एवं अत्यन्त निर्मल गुणों से समृद्ध तथा महावीर विशेषण से युक्त सिद्ध भगवान् को द्रव्य और भाव के भेद से भिन्न दो प्रकार का नमस्कार कर रहे हैं तथा जो मैं आराधनासार ग्रन्थ को कहूँगा, इस प्रकार के प्रतिज्ञा वाक्य की रचना कर रहे हैं, ऐसे परम भट्टारक श्री देवसेनाचार्य के द्वारा यह स्तवन किया जाता है।

---

१. मरुन्मार्गस्तर्यायमानेन (?) म०।

विमलयरगुणसमिद्धं, सिद्धं सुरसेणवंदियं सिरसा।
णमिऊण महावीरं, वोच्छं आराहणासारं ॥१॥

वोच्छं वक्ष्ये। कोऽसौ? अहं देवसेनाचार्यः। कं? आराहणासारं आराधनासारं मुमुक्षुभिराराध्यते या सा आराधना, आराधनायाः सारः आराधनासारः तं आराधनासारं सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयरूपेण सारीभूतं। किं कृत्वा? **णमिऊण** नत्वा नमस्कृत्य। कं? **सिद्धं** केवलज्ञानाद्यनन्त-गुणप्रादुर्भावलक्षणं परमात्मानं। किंविशिष्टं? **विमलयरगुणसमिद्धं** निर्मलतर-शुद्धचैतन्यगुणसंपूर्णं। पुनः किं विशिष्टं? **सुरसेणवंदियं** [१]सुरसेनवन्दितं सौधर्मेन्द्रप्रमुखचतुर्णिकायामरानीक-नमस्कृतं। पुनरपि किंविशिष्टं? महावीरं अन्येषामप्याराधकपुरुषाणां ध्यानरणरङ्गभूमावनादि-लग्नकर्माष्टकविपक्षचक्रविनाशनैकसुभटं। केन? **सिरसा** मस्तकेन। यदि च महावीरमिति विशेष्यपदपक्षं पक्षीकृत्य व्याख्यायते तदा। नत्वा। कं? महावीरं। ई इति चतुर्थस्वररूप-मेकाक्षराभिधानं प्रसिद्धं लक्ष्मीनामा 'रा' 'ला' इति धातुद्वयं, आदाने ग्रहणे इत्यस्मिन्नर्थे वर्तते। वि-विशिष्टां बाह्यचतुस्त्रिंशदतिशयप्रादुर्भूति-विराजमानसमवसरणपरमविभूत्यभ्यन्तर सहज-वस्तुस्वभावी भूतानन्त-चतुष्टयव्यक्तिलक्षणामीं लक्ष्मीं रात्यादत्ते गृह्णातीति वीरः, महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तं महावीरं चरमतीर्थंकर-

---

गाथार्थ—(अहं) मैं देवसेनाचार्य **(विमलयरगुणसमिद्धं)** अत्यन्त निर्मल शुद्ध, चैतन्य गुण से परिपूर्ण, **(सुरसेणवंदियं)** सौधर्मेन्द्र आदि चतुर्णिकाय की देवसेनाओं से नमस्कृत और **(महावीरं)** अपने तथा अन्य आराधक पुरुषों के ध्यानरूपी रण की रंगभूमि में अनादिकाल से लगे हुए आठ कर्मरूप शत्रु समूह के नष्ट करने में अद्वितीय सुभट **(सिद्धं)** केवलज्ञानादि अनन्त गुणों के प्रादुर्भाव रूप लक्षण से युक्त सिद्ध परमात्मा को **(सिरसा)** शिर से **(णमिऊण)** नमस्कार कर **(आराहणासारं)** सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं से सारभूत आराधनासार ग्रन्थ को **(वोच्छं)** कहूँगा।

टीका—संस्कृत टीकाकार श्री रत्नकीर्तिदेव ने इस गाथा के अनेक अर्थ प्रकट किये हैं। यथा उपर्युक्त अर्थ के सिवाय यदि महावीर को विशेष्य पद स्वीकृत किया जाये तो अन्य विशेषण महावीर के पक्ष में लगाकर गाथा का अर्थ होगा कि मैं महावीर-वर्धमान स्वामी को नमस्कार कर आराधनासार को कहूँगा। महावीर शब्द का अर्थ लगाते हुए कहा है कि 'ई' यह चतुर्थ स्वर रूप एकाक्षर वाला शब्द लक्ष्मी का पर्यायवाची है और 'रा' तथा 'ला' ये दो धातुएँ ग्रहण करने के अर्थ में आती हैं। 'वि' उपसर्ग विशिष्ट अर्थ का वाचक है, अतएव वि विशिष्टात् ईं-लक्ष्मीं राति-आदत्ते-गृह्णातीति वीरः इस प्रकार वीर शब्द की व्युत्पत्ति कर महत् शब्द के साथ उसका 'महाश्चासौ वीरश्चेति' यह कर्मधारय समास किया है। विशिष्ट लक्ष्मी बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो प्रकार की है। ३४ अतिशयों के प्रादुर्भूत से सुशोभित समवसरण की विभूति बाह्य लक्ष्मी है और सहज वस्तु-आत्मतत्त्व के स्वभावभूत अनन्तचतुष्टय-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल

---

१. सुराणां सेना सुरसेनं ''विभाषा सेना सुराच्छाया शालानिशानाम्'' इति सूत्रेण वैकल्पिकं क्लीवत्त्यम्।

परमदेवं अर्हद्भट्टारकं श्रीवर्धमानस्वामिनामानं। किंविशिष्टं? विमलतरगुणसमृद्धं प्रसिद्धघातिकचतुष्टयरूप-संतमसविनाशप्रादुर्भूत-युगपत्प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिसूर्योदयदृष्टान्तास्पदीभूतातीतानागत-वर्तमानत्रिकाल-गोचरोत्पादव्ययध्रौव्यलक्ष्मत्रितयालिङ्गितत्रिभुवनोदर-विवरवर्तिशुद्धचैतन्यविलासप्रवर्तमानपरमात्मपदार्थादि-समस्तवस्तुस्वभावबोभूयमानकालकलानिदर्शनाश्लिष्टैक-समयग्रहणसमर्थ-सामान्य-विशेषरूपवर्तमान-निर्मलतरज्ञानदर्शनाभिधानसर्वज्ञगुणसंपूर्णं। पुनः किं विशिष्टं ? सिद्धं प्रसिद्धं। पुनरपि किं विशिष्टं ? सुरसेनवन्दितं गर्भादिमहाकल्याणमहोत्सवेषु पितृभ्यां सह सकलगीर्वाण-चक्रनमस्कृतं। केन? शिरसा मस्तकेनेति योजनिकाद्वारः। विमलतरगुणसमृद्धं सुरसेन-वन्दितं महावीरं सिद्धं, पक्षे विमलतर-गुणसमृद्धं सिद्धं सुरसेनवन्दितं महावीरं शिरसा नत्वा आराधनासारमहं वक्ष्य इति संक्षेपान्वयद्वारः।

सुरसेनवन्दितमित्यत्र सिद्धविशेषणपदे अभिधानसामर्थ्यात् केचन छायार्था अपि निष्पाद्यन्ते। कथम्?

रूप अन्तरंग लक्ष्मी है। भगवान् महावीरस्वामी उक्त दोनों प्रकार की लक्ष्मी को ग्रहण करने वाले हैं, वे वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर हैं, चार घातियाँ कर्मों को नष्ट करने से अरहन्त भट्टारक कहलाते हैं तथा वर्धमानस्वामी इस नाम से सहित हैं। वे महावीर स्वामी विमलतरगुण समृद्ध हैं अर्थात् अत्यन्त निर्मल ज्ञान और दर्शन नामक सर्वज्ञ के गुणों से परिपूर्ण हैं। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही उसके प्रताप और प्रकाश युगपत् प्रकट होते हैं उसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नाम से प्रसिद्ध चार घातिया कर्मरूपी गाढ़ अन्धकार के नष्ट होने पर उनके ज्ञान और दर्शन गुण युगपत् प्रकट होते हैं। उनके वे ज्ञान और दर्शन, भूत, भविष्यत् और वर्तमान के भेद से त्रिकाल सम्बन्धी तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन लक्षणों से युक्त तीनों लोकों के मध्य में रहने वाले, शुद्ध चैतन्य के विलास से परिपूर्ण परमात्म पदार्थ को आदि लेकर समस्त पदार्थों को एक ही काल में सामान्य और विशेष रूप से ग्रहण करने में समर्थ हैं अर्थात् दर्शन गुण सामान्यरूप से और ज्ञान गुण विशेष रूप से समस्त पदार्थों को जानने में समर्थ है, वे महावीरस्वामी सिद्ध अर्थात् प्रसिद्ध हैं-इतिहास और परम्परा आदि से प्रसिद्धि को प्राप्त हैं तथा सुरसेन वन्दित हैं अर्थात् गर्भादि महाकल्याणक सम्बन्धी महोत्सवों के समय समस्त देवों का समूह माता-पिता के साथ उन्हें नमस्कार करता था। इस प्रकार अत्यन्त निर्मल गुणों से सम्पन्न, देवों की सेना समूह से वन्दित और कर्म समूहरूप शत्रु को नष्ट करने में अद्वितीय सुभट सिद्ध भगवान् को तथा दूसरे पक्ष में केवलज्ञानादि निर्मल गुणों से सम्पन्न, प्रसिद्ध और देवसमूह से वन्दित महावीर अंतिम तीर्थंकर को शिर से नमस्कार कर आराधनासार ग्रन्थ को कहूँगा। प्रतिज्ञा वाक्य ग्रन्थकर्ता श्री देवसेनाचार्य ने प्रदर्शित किया है।

यहाँ सिद्ध भगवान् को जो '**सुरसेनवन्दित**' यह विशेषण दिया है, उसमें शब्दों की सामर्थ्य से कितने ही छाया अर्थ निकलते हैं। जैसे सुर का अर्थ देव होता है, उससे यद्यपि ऊर्ध्वलोक के

सुराणां देवानां ग्रहणेन यद्यप्यूर्ध्वलोकस्वामित्व[१]शालिनः पञ्चविधाः ज्योतिष्काः, सौधर्मेन्द्रप्रमुखाः कल्पवासिनो भावनां कुर्वाणाः कल्पातीता अपि, अधोलोकस्वामित्व[२]शालिनो भवनवासिदेव-निकायत्वाद्धरणेद्रप्रमुखाश्च केचन व्यन्तराधिपतयोऽपि, तथा व्यन्तरास्तिर्यग्लोक-निवासिनोपि सर्वे त्रिभुवनोदरविवरवर्तिनो देवाः गृह्यन्ते मध्यलोकस्वामित्व [३]शालिनः चक्रवर्तिप्रमुखा नराः, तिरश्चां स्वामित्वशाली सिंहः तन्मुखा अन्येऽपि पशवो गृहीताः।

भवणालय चालीसा विंतरदेवाण हुंति बत्तीसा।
कप्पामर चउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ।

इति गाथाकथितशतेन्द्रवन्दितत्वं कथं घटिष्यते अयमप्यर्थोऽत्रैवान्तर्भवति। कथं? रसा पृथ्वी पूर्वोपार्जितविशिष्ट[४]तमागण्यपुण्यकर्मोदयाश्लिष्टनायकप्रतापा जनधनधान्यकनकसमृद्धत्वाच्छोभन-विशेषणयुक्ता शोभनरसा सुरसा तस्या इनः स्वामी सुरसेनः अथवा सर्वराजाधिराजमहाराजमण्डलेश्वर-मुकुटबद्धमूर्द्धभूतत्वात् शोभनो रसेनः सुरसेनः, सुरसेनेन चक्रवर्तिना वन्दितं। सिंहपक्षेप्ययमेवार्थः। कथं?

स्वामित्व से सुशोभित पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव, सौधर्मेन्द्र आदि कल्पवासी देव तथा अपने ही स्थान पर रहकर भावना करने वाले ग्रैवेयकादि वासी कल्पातीत देव, अधोलोक के स्वामित्व से सुशोभित धरणेन्द्र आदि भवनवासीदेव तथा कुछ व्यन्तरों के अधिपति इनके सिवाय मध्यम लोक में निवास करने वाले व्यन्तरदेव इस प्रकार तीनों लोकों के मध्य में निवास करने वाले समस्त देवों का ग्रहण होता है तो भी मध्यलोक के स्वामित्व से सुशोभित चक्रवर्ती आदि मनुष्य और तिर्यञ्चों के स्वामित्व से सुशोभित सिंह एवं उनको आदि लेकर अन्य पशुओं का भी ग्रहण होता है।

भवणालय इंति—भवनवासियों के चालीस, व्यन्तरों के बत्तीस, कल्पवासियों के चौबीस, ज्योतिषियों के चन्द्रमा और सूर्य इस प्रकार दो तथा मनुष्यों का एक और तिर्यञ्चों का एक।

इस गाथा में कथित सौ इन्द्रों के द्वारा वन्दितपना भी लिया जाता है। मनुष्यों का इन्द्र चक्रवर्ती और तिर्यञ्चों का इन्द्र सिंह इनके द्वारा वन्दित होना भी इसी 'सुरसेनवन्दित' शब्द से सिद्ध होता है, जो इस प्रकार है—रसा का अर्थ पृथ्वी है, जो पृथ्वी पूर्वोपार्जित अत्यन्त विशिष्ट अगण्य पुण्य कर्म के उदय से अपने नाम के प्रताप से युक्त है तथा जन, धन, धान्य और सुवर्ण से समृद्ध होने के कारण शोभना विशेषण से सहित है, वह "**शोभना रसा सुरसा**" इस विग्रह के अनुसार सुरसा कहलाती है। "**सुरसाया इनः स्वामी सुरसेनः**" अर्थात् उत्तम पृथ्वी का स्वामी सुरसेन कहा जाता है। इस तरह सुरसेन शब्द का चक्रवर्ती अर्थ होता है। अथवा '**रसाया इनः**' व्युत्पत्ति के अनुसार रसेन का अर्थ राजा होता है और "**शोभनः रसेनः सुरसेनः**" इस विग्रह के अनुसार सुरसेन का अर्थ उत्तम राजा अर्थात् चक्रवर्ती होता है क्योंकि चक्रवर्ती ही समस्त राजाओं, अधिराजों, महाराजों, मण्डलेश्वरों

---

१. मालिनः, २. मालिनो म०, ३. मालिनः म०, ४. विशिष्ट पततमागण्य-म०।

शोभना पुष्पितफलितशाड्वलितवनराजिमंडिता वनभूमिरिति सुरसा, तस्या इनः सकल-वनेचरमृग-वृंदनायकत्वात्स्वामी सुरसेनः सिंहस्तेन वन्दितं सुरसेनवन्दितमिति समर्थनतया मानवेन्द्र-तिर्यगिन्द्रग्रहणसमर्थ इत्येकश्छायार्थः। अनेन कायवाग्भ्यां द्रव्यनमस्कारः सूचितो, भावनमस्कारः कथं घटिष्यते? वाचा अर्हत्सिद्धप्रमुखपरमेष्ठिस्वरूपशुद्धपरमात्मद्रव्यवस्तुस्तव गुणस्तवन-गम्भीरोदारार्थ-विराजमानसकलेश-ब्रह्मबीज-भूतनानास्तोत्ररूपः। कायेन पञ्चाङ्गनत्या प्रणमनरूपो **द्रव्यनमस्कार**। इति द्रव्यनमस्कारलक्षणं। त्रिगुप्तिगुप्तमुनिनायकेनारभ्यमाणो दुःकर्मोदयसंपादितनानासंकल्प-विकल्पजालेऽप्याधिविरहितस्य शुद्धपरमात्मनः सकलचराचरमिदं जगत्सुप्तं लोष्टनिष्पन्नं वेति प्रतिभासकारणेन निर्विकल्पसमाधिनानुभवनं **भावनमस्कार** इति भावनमस्कारलक्षणं। द्रव्यनमस्कारः सूचितो भावनमस्कारः कथं घटिष्यते इत्याशङ्का भवतां चेतसि वर्तते तदुत्तरं शृण्वन्तु भवन्तः। रसा शृङ्गारादयो लोके प्रसिद्धास्तेषां मध्ये चरमः शान्तरसः अनादिकालप्रज्वलितपञ्चप्रकार-संसारदुःखमहादावानलविध्यापन-समर्थत्वात् परमानंदोत्पादकत्वाच्च

और मुकुटबद्ध राजाओं में मस्तकस्वरूप होता है। "**सुरसेनेन वन्दितं सुरसेनवन्दितं**" इस तरह समस्त पद का अर्थ चक्रवर्ती के द्वारा वन्दित होता है। सिंह पक्ष में भी यही अर्थ होता है क्योंकि पुष्प, फल और हरी-हरी घास से युक्त वनपंक्तियों से सुशोभित वनभूमि सुरसा कहलाती है। उसका स्वामी सिंह कहा जाता है क्योंकि वही समस्त वनचर जीवों के समूह का नायक होता है। इस तरह "**सुरसेनेन-सिंहेन वन्दितम्**" इस विग्रह के अनुसार सुरसेन वन्दित का अर्थ तिर्यञ्चों के राजा सिंह के द्वारा वन्दित होता है। इस तरह सुरसेन वंदित शब्द का एक छाया अर्थ यह हुआ कि जो मनुष्यों और तिर्यञ्चों के द्वारा वन्दित है। यहाँ किसी का प्रश्न है कि '**सुरसेनवन्दित**' इस विशेषण द्वारा काय और वचन से होने वाला द्रव्य नमस्कार तो सूचित होता है पर भावनमस्कार किस प्रकार घटित होता है ? अरहन्त और सिद्ध जिनमें प्रमुख हैं, ऐसे परमेष्ठीस्वरूप शुद्ध परमात्म द्रव्य का स्तवन करना अथवा उनके केवलज्ञानादि गुणों का स्तवन करना अथवा गम्भीर तथा उदार अर्थ से सुशोभित सकल परमात्मा के बीजभूत नाना स्तोत्र पढ़ना यह वचन से होने वाला द्रव्यनमस्कार है और दो हाथ, दो पैर तथा सिर इन पाँच अंगों से प्रणाम करना यह काय से होने वाला द्रव्यनमस्कार है और तीन गुप्तियों से गुप्त-सुरसेन मुनिराज के द्वारा जिसका प्रारम्भ होता है, ऐसा दुष्ट कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाले नाना संकल्प और विकल्पों के जाल में भी आकुलता से रहित शुद्ध परमात्मा का उस निर्विकल्प समाधि के द्वारा जिसमें कि यह समस्त चराचर विश्व सोये हुए के समान अथवा मिट्टी के ढेले से रचे हुए के समान जान पड़ता है, अनुभव करना भावनमस्कार है। यहाँ द्रव्य नमस्कार तो सूचित है पर भाव नमस्कार किस प्रकार घटित होता है, ऐसी आशंका आपके चित्त में है, उसका उत्तर आप सुनिये-लोक में शृंगार रस आदि प्रसिद्ध हैं, उनमें अन्तिम शान्त रस, अनादिकाल से प्रज्वलित पाँच प्रकार के संसार-सम्बन्धी दुःखरूपी महादावाग्नि के बुझाने में

शोभनविशेषणविशिष्टो भवति। ततः संसारशरीरभोगेषु परमनिर्वेदमापन्नैः परमयोगीश्वरैः सुरसेन सकलाध्यात्मकलाविलासास्पदीभूतेन शान्तरसेन निर्विकल्पसमाधिना वन्दितमनुभूतं सुरसेनवन्दितम्। वन्दितमनुभूतमित्येतस्मिन्नर्थे कथमिति चेत्? सत्यं, वदि अभिवादनस्तुत्योः, वदि इत्ययं धातुरभिवादने नमस्कारे स्तुतौ स्तवने चेत्यर्थद्वये वर्तते। स्तुतिस्तु वचसा मनसा च कृत्या[१] द्विविधा। यत्र केवलेन वस्तुतत्त्वैकनिष्ठेन मनसा योगेन स्तुतिर्विधीयते तत्र तस्या अनुभूतिपर्यायः केन निषिध्यते, ततो वन्दितमनुभूतमित्यर्थः कथं न घटते। समाध्यवस्थास्वीकृतशान्तरसेन मनसानुभूतमिति ताडितार्थः। तथा च **द्वितीयपक्षे** रसशब्दः स्वादेऽपि वर्तते। ये किल पञ्चेन्द्रियविषयामिषस्वादास्ते जीवस्य जालौकोजन्तुविशेषस्य दुष्टरुधिरपानवदतृप्ति-जनकत्वाच्च न शोभनाः। अयं तु वीतरागनिर्विकल्पसमाधिनानुभूयमानः स्वस्वभावोत्थः परमातीन्द्रिय-सुखरसास्वादः-संसारतृष्णास्फेटकत्वाद्वैस्याभावात् प्रतिसमयं साररसस्य संपादकत्वाच्च विशेषतः शोभनविशेषणेन विशेष्यते। ततः सुरसेन निर्विकल्पसमाधिजन्यमान-परमानन्दातीन्द्रियसुखस्वादेन वन्दित-मनुभूतमित्यर्थद्वयाश्लिष्ट-भावनमस्कार-प्रतिपादको द्वितीयश्छायार्थः।

समर्थ होने तथा परम आनन्द को उत्पन्न करने वाला होने से सुरस कहलाता है। इस तरह संसार, शरीर और भोगों से परम वैराग्य को प्राप्त उत्कृष्ट योगिराज, सुरस अर्थात् समस्त अध्यात्म कला सम्बन्धी विलास के स्थान रूप शान्त रस के द्वारा निर्विकल्प समाधि से जिनकी वन्दना अर्थात् अनुभव करते हैं, ऐसा सुरसेनवन्दित शब्द का अर्थ है। यही भाव नमस्कार है। यहाँ कोई कहता है कि वन्दित शब्द अनुभूत अर्थ कैसे हो गया ? उसका उत्तर यह है कि व्याकरण में "**वदि अभिवादन स्तुत्यो**" यह धातु है। इसका अर्थ होता है कि वदि धातु अभिवादन अर्थात् नमस्कार और स्तुति इन दो अर्थों में आती है, स्तुति वचन से तथा मन से की जाती है इसलिए दो प्रकार की है। जहां केवल वस्तु तत्त्व में एकमात्र स्थित मनोयोग से स्तुति की जाती है, वहाँ उस स्तुति की अनुभूति पर्याय है, इसका कौन निषेध कर सकता है? इस तरह वन्दित शब्द का अनुभूत अर्थ अवश्य ही घटित होता है। समाधि अवस्था में शान्त रस को स्वीकृत करने वाले मन के द्वारा जो अनुभूत है, ऐसा सुरसेनवन्दित शब्द का मथितार्थ है। अथवा **द्वितीय पक्ष** में रस शब्द स्वाद अर्थ में भी आता है। वास्तव में पञ्चेन्द्रियों की भोग्य वस्तुओं के जो स्वाद हैं, वे सुरस नहीं हैं क्योंकि जिस प्रकार दोषयुक्त रुधिर के पीने से जौंक को तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार भोग्य वस्तुओं के स्वाद से जीव को तृप्ति नहीं होती। परन्तु वीतराग निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव में आने वाला, स्वकीय स्वभाव से उत्पन्न परम अतीन्द्रिय सुखरस का जो स्वाद है, वह संसार सम्बन्धी तृष्णा का नाशक होने से, चिरसत्ता का अभाव होने से और प्रत्येक समय सारभूत रस का संपादक होने से सुरस कहलाता है, यही शोभन विशेषण से विशिष्ट है। इस प्रकार सुरस अर्थात् निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न होने वाले परमानन्दरूप अतीन्द्रिय सुख के स्वाद से जो वन्दित अर्थात् अनुभूत हैं, यह सुरसेनवन्दित शब्द का अर्थ

---

१. कृत्वा

तृतीयपक्षे सुरसेण वंदियमित्येकविभक्त्यन्तस्य खण्डनत्रयं विभज्य व्याख्या विधीयते कथं? सुरसेण वंदियं सुरसे नवं द्विजमिति। कथंभूतं सिद्धं? द्विजं द्विजमिव द्विजं ब्राह्मणं। क्व? सुरसे स्वस्वभावामृतजले। रसशब्दो जलेप्यस्ति जलं तु स्नानपानशौचकारणं स्यात्। ततः सिद्धात्मनां स्नानपानशौचकारणगुणोपचारात् स्वस्वभावोत्थममृतजलं शोभनविशेषणविशिष्टमभिधीयते तस्मिन्, नान्यस्मिन् लौकिक [१]क्षारसागरगङ्गादि-तीर्थसमुद्भूते। ब्राह्मणा हि स्नानाचमनशौचपरायणा गङ्गादिमहातीर्थ-जलेषु निलीना भवन्ति। ततः सिद्धात्मनां सर्वकालस्वस्वभावामृतजलनिलीनानां ब्राह्मणोपचाररूपकालङ्कारविशेषणमस्मिन् व्याख्याने न दोषाय। पुनः किंविशिष्टं? नवं प्रतिसमयस्वभावोत्थानन्तगुणानामनुभवनमुख्यतया नवमिति यावत्। अथवा अनवं, न नवः अनवस्तं अनवं द्रव्यस्वभावापेक्षया पुरातनमनादिकालीनमित्यर्थः। तथा चास्मिन्नेव पदखण्डनत्रये अन्यापि व्याख्या भवति। शोभनो रसो जलं पानीयं विद्यते यस्मिन्निति सुरसो मानसरोवरः, यतो लोके किलैषाप्रसिद्धिः।

है। इस तरह दो अर्थों से युक्त भावनमस्कार का कथन करने वाला दूसरा छायार्थ है।

तृतीय पक्ष में **'सुरसेणवंदियं'** इस एक विभक्त्यन्त पद का तीन प्रकार से पदच्छेद कर व्याख्या की जाती है, जो इस प्रकार है। मूल शब्द **'सुरसेणवंदियं'** है। उसके **सुरसे णवं दियं—सुरसे नवं द्विजं** इस प्रकार पदच्छेद कर उसे सिद्ध पद का विशेषण बनाया जाता है। द्विज का अर्थ ब्राह्मण है और सुरस का अर्थ स्वस्वभाव रूप अमृतजल है। रस शब्द जल अर्थ में भी आता है और जल स्नान, पान तथा पवित्रता का कारण होता है। इसलिए सिद्धात्माओं के स्नान, पान तथा पवित्रता के कारणरूप गुणों के उपचार से उनके स्वस्वभाव से उत्पन्न अमृतजल सुरस कहलाता है। सिद्ध भगवान् रूपी द्विज-ब्राह्मण उसी सुरस में निमग्न रहते हैं, अन्य लौकिक खारे समुद्र तथा गंगा आदि तीर्थों से उत्पन्न हुए सुरस में नहीं। स्नान, आचमन तथा अन्य प्रकार की पवित्रता में तत्पर ब्राह्मण गंगा आदि महातीर्थों के जल में विलीन रहते है, इसलिए सदा स्वभाव रूप अमृतजल में निलीन रहने वाले सिद्धात्माओं को इस व्याख्यान में जो रूपकालंकार द्वारा ब्राह्मण का उपचार दिया गया है, वह दोष के लिए नहीं है। इस प्रकार **'सुरसे द्विज'** का अर्थ कर अब नव शब्द का अर्थ करते हैं वे सिद्ध परमेष्ठी प्रति समय स्वस्वभाव से उत्पन्न होने वाले अनन्त गुणों के अनुभव की मुख्यता से नव-नवीन रहते हैं। अथवा पूर्व रूप द्वारा **'सुरसे अनवं'** इस प्रकार की सन्धि द्वारा सिद्ध परमेष्ठी अनव-नवीन नहीं, किन्तु द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा पुरातन या अनादिकालीन हैं, ऐसा भी व्याख्यान हो सकता है अथवा इसी त्रिविध पदच्छेद में उक्त व्याख्या के सिवाय-निम्नलिखित अन्य व्याख्या भी होती है। **''शोभनो रसो जलं-पानीयं विद्यते यस्मिन् स सुरसः''** इस प्रकार की समास से सुरस शब्द का मानससरोवर अर्थ होता है क्योंकि लोक में यह प्रसिद्धि है-

---

१. क्षीरसागर म०।

''अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरजमण्डितम्।
रमते न मरालस्य मानसं मानसं विना॥''

इति सुभाषितत्वात्। ततः सर्वेषु जलाशयेषु मानससरोवर एव सुरस इत्याख्यायते। अत्र तु स्वस्वभावोत्थपरमामृतरसपरिपूर्णत्वात् सुरसो मोक्षाभिधानमानससरोवरो गृह्यते। किं विशिष्टं सिद्धं? द्विजं हंस पक्षित्वात् द्विजग्रहणेन सामान्यत्वात्सर्वे पक्षिणो गृह्यन्ते। कुतः? हंसविशेषग्रहणं? विशेषणसामर्थ्येन। किंविशिष्टं द्विजं? अनवं पुरातनं पुरातनशब्दस्तु ज्येष्ठगरिष्ठोत्तमप्रधानार्थेषु प्रवर्तते। ततोऽनवमिति विशेषणेन सकलपक्षिज्येष्ठत्वाद्गरिष्ठत्वादुत्तमत्वात्प्रधानत्वाच्च द्विजो हंस एव लभ्यते। क्व? सुरसे मोक्षमानससरोवरे। यथा–मानसरोवरे हंसास्तिष्ठन्ति तथा मोक्ष–मानसरोवरे सिद्धहंसास्तिष्ठन्ति इत्यभिप्रायः। इति पदखण्डनत्रय–समुद्भूतार्थ–द्वयगर्भस्तृतीयश्छायार्थः।

तथा च चतुर्थपक्षे रसशब्देन वीर्यं ततः सुष्ठु अतिशयवान् कर्मारिचक्र–शातनत्वात् रसो वीर्यं, बलं यस्य स सुरसः अर्थसामर्थ्यान्मुनिसमुदायः तस्यैव तत्र प्रधानत्वात्, नान्ये रणशूराः सुभटाः रौद्रध्यानाधीनतया नारकगतिसाधकत्वात्, सुरसेन मुनिसमुदायेन वन्दितं निर्विकल्पसमाधिनानुभूतं सुरसेन वन्दितमिति

अस्तीति–यद्यपि कमलों से सुशोभित जल सब जगह है परन्तु हंस का मन मानस–सरोवर के सिवाय अन्यत्र नहीं रमता।

इस सुभाषित से मानस–सरोवर के जल की महिमा न्यारी है। अतः समस्त जलाशयों में मानस–सरोवर ही सुरस कहलाता है। इस प्रकरण में स्व–स्वभाव से उत्पन्न परमामृतरूप रस के पूर से परिपूर्ण होने के कारण सुरस शब्द से मोक्ष नामक मानस–सरोवर का ग्रहण होता है। उस मोक्षरूपी मानस–सरोवर में सिद्ध परमेष्ठी द्विज–हंस के समान है। यद्यपि सामान्यतया द्विज शब्द से समस्त पक्षियों का ग्रहण होता है तथापि विशेषण की सामर्थ्य से हंस नामक विशिष्ट पक्षी का ग्रहण होता है। द्विज का एक विशेषण अनव है और अनव का अर्थ पुरातन है। पुरातन शब्द ज्येष्ठ, गरिष्ठ, उत्तम और प्रधान अर्थ में प्रवृत्त होता है, इसलिए अनव इस विशेषण से समस्त पक्षियों में ज्येष्ठ होने से, श्रेष्ठ होने से, उत्तम होने से और प्रधान होने से द्विज का अर्थ हंस ही लिया जाता है। वे सिद्ध परमेष्ठी सुरस अर्थात् मोक्षरूपी मानस–सरोवर में हंस पक्षी की तरह निमग्न रहते हैं अर्थात् जिस प्रकार मानस–सरोवर में हंस स्थित रहते हैं, उसी प्रकार मोक्षरूपी मानस–सरोवर में सिद्ध–परमेष्ठीरूपी हंस स्थित रहते हैं। इस तरह त्रिविध पदच्छेद से उत्पन्न दो अर्थों से युक्त तृतीय छायार्थ है।

चतुर्थपक्ष में रस शब्द से वीर्य अर्थात् बल अर्थ लिया जाता है, इसलिए '**सुष्टु रसो यस्य स सुरसः**' इस समास द्वारा सुरस शब्द से कर्म रूपी शत्रु समूह को नष्ट करने वाले अतिशय पूर्ण बल से युक्त मुनि समुदाय का ग्रहण होता है, क्योंकि उन्हीं की प्रधानता है, रौद्रध्यान के अधीन होने से नरक गति के साधक होने के कारण अन्य रणशूरा योद्धाओं की यहाँ प्रधानता नहीं है। इस तरह

चतुर्थश्छायार्थः।

पञ्चमे पक्षे रसशब्दो रागेऽपि वर्तते। शोभनः संवेगास्तिक्यानुकम्पादिगुणविशिष्टलक्षणो रसो रागो यस्य स सुरसः, अर्थाच्चतुर्थगुणस्थानादिवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिजीववृन्दं तस्यैव तत्र प्रवर्तनत्वात्। न तु संसारसमुद्रसंपातकारणस्रक्-चंदनवनितादिविषयसुखरागरसलम्पटो महामिथ्यात्वाविष्टो जन्तूत्करः, किन्तु स कुरस एव अनन्तभवभ्रान्तिसाधकत्वात्, तेन सुरसेण वन्दितं नमस्कृतं स्तुतमनुभूतं [1]सुरसवन्दितं। यतः सरागसम्यग्दृष्टयो जीवा संवेगास्तिक्यपरमानुकम्पादानपूजाषडावश्यकक्रियामूलोत्तरगुणपरायणाः शास्त्रे व्यावर्णिताः। वीतरागसम्यग्दृष्टयस्तु प्रतिगुणस्थानमनन्तगुणविशुद्धितोयप्रक्षालितपरिणामत्वात् केवलेन सकलक्रियाकाण्डगर्भेण निर्विकल्पसमाधिना परमात्मानमनुभवन्ति। एवं सरागवीतरागयोः सम्यग्दृशोर्भेदो भवतीत्यभिप्रायः इति पञ्चमश्छायार्थः।

'सुरसेन वन्दितं सुरस वन्दितं' इस समास द्वारा सुरस वन्दित का अर्थ होता है–सुरस मुनि समुदाय के द्वारा वन्दित–निर्विकल्प समाधि के द्वारा जिनका अनुभव होता है, ऐसे सिद्ध भगवान्। यह चतुर्थ छायार्थ है।

पञ्चमपक्ष में रस शब्द राग अर्थ में भी आता है, अतः **'शोभनः रसो रागो यस्य स सुरसः'** इस समास द्वारा सुरस शब्द का अर्थ चतुर्थ आदि गुणस्थानों में रहने वाले सरागसम्यग्दृष्टि जीवों का समूह होता है क्योंकि उन गुणस्थानों में उसी की प्रवृत्ति होती है। सरागसम्यग्दृष्टि जीव का राग संवेग, आस्तिक्य तथा अनुकम्पा आदि गुणों से विशिष्ट होने के कारण सुराग कहा जाता है। संसाररूपी समुद्र में पतन के कारण माला, चन्दन तथा स्त्री आदि विषय सुख के रागरस में आसक्त तथा महामिथ्यात्व से युक्त जीवों का समूह सुरस नहीं कहा जाता किन्तु कुरस ही कहा जाता है क्योंकि वह अनन्त भव–भ्रमण का साधक है। **'तेन सुरसेन वन्दितं सुरसवन्दितं'** इस समास द्वारा विशेषण का अर्थ होता है, सरागसम्यग्दृष्टि जीवों के द्वारा वन्दित, नमस्कृत, स्तुत अथवा अनुभूत। शास्त्रों में सराग सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें कहा गया है जो संवेग, आस्तिक्य, परम अनुकम्पा, दान, पूजा, षडावश्यक क्रियाओं का पालन मूलगुण तथा उत्तरगुणों के धारण करने में तत्पर रहते हैं। इस तरह वन्दना, नमस्कार तथा स्तवन आदि में प्रवृत्ति सरागसम्यग्दृष्टि जीवों की होती है। किन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के परिणाम प्रत्येक गुणस्थानों में बढ़ती हुई अनन्तगुणी विशुद्धतारूपी जल से प्रक्षालित होते रहते हैं, अतः वे मात्र निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमात्मा का अनुभव करते हैं। वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव जिस निर्विकल्प–समाधि द्वारा परमात्मा का अनुभव करते हैं, सकल क्रियाकाण्ड उसके अन्तर्गत रहते हैं, अर्थात् बाह्य क्रियाकाण्ड की उसमें सर्वथा उपेक्षा नहीं होती। किन्तु परमात्मा के अनुभव काल में वे गौण हो जाते हैं। इस प्रकार सराग और वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों में भेद है। यह पंचम छायार्थ है।

---

१. सुरसेन वन्दितं म०।

तथा च **षष्ठे पक्षे** सुरसेण वंदियमित्यस्य पदत्रयं विधायार्थः समर्थ्यते। सुरसेण वंदियं, रसशब्देन विषं ''विषः क्ष्वेडो रसस्तीक्ष्णमिति'' विश्वः। ततोऽनन्तानन्तजन्ममहामूर्च्छाबीजत्वप्राणापहारकत्वात् सुष्ठु अतिशयवान् योऽसौ रसो विषः स सुरसः सुविषः। व्युत्पत्त्या कर्मैव न तु हालाहलादिः तस्य एकजन्मन एव प्राणापहारकत्वात्। ततः कथंभूतं सिद्धं? तेन सुरसेन कर्मणा दितं खण्डितं 'दो अवखण्डने' वियोजितमिति यावत्। यथा किल खण्डितः पदार्थः उभयापेक्षया वियोजितः स्यात् तथा चायं सिद्धः कर्मणा वियोजितः पृथग्भूत इत्यर्थः। पुनः किं विशिष्टं? वं पश्चिमदिगीशं ''वः पश्चिमदिगीशे स्यादित्यभिधानात्''। पश्चिमदिगीशमित्युक्ते कोऽर्थो लभ्यते? पश्चिमश्चासौ दिक् पश्चिमदिक् तस्या ईशः स्वामी। इह दिक्शब्दो गत्यर्थे गृह्यते यतो जीवस्य सर्वाभ्यो गतिभ्यः पश्चिमा चरमा गतिमुक्तिर्भवति ततः पश्चिमदिगीशं मुक्तिस्वामिनमित्यभिप्रायः इति षष्ठश्छायार्थः।

सप्तमेऽपि पक्षे रसशब्दो देहधातुषु वर्तते। अत्राप्युपरितनपदखण्डनत्रयं विगृह्य व्याख्या विधीयते। सुष्ठु अतिशयेन रसा असृङ्मज्जामेदास्थिप्रमुखाः शरीरधातवो यस्मिन् स सुरसः शरीरमेव। किं विशिष्टं सिद्धं? दित खण्डितं रहितं वियोजितमिति यावत्। केन? सुरसेन शरीरेण। पुनः किं विशिष्टं? वं पश्चिमदिगीशं

इसी तरह **छठवें पक्ष** में '**सुरसेण वंदियं**' इस पद के तीन पद करके अर्थ का समर्थन किया जाता है। ये तीन पद हैं–सुरसेण, वंदियं। यहाँ रस शब्द से विष अर्थ लिया जाता है क्योंकि विश्वकोष में विष, क्ष्वेड, रस और तीक्ष्ण ये चार नाम विष के बताये गये है। यहाँ ''सुट्ठु अतिशयवान् योऽसौ रसो विषः स सुरसः सुविषः'' इस व्युत्पत्ति द्वारा सुरस शब्द से कर्म ही लिया जाता है, क्योंकि कर्म ही अनन्तानन्त जन्मों में महामूर्छा का कारण होने से प्राणापहारक होता है, हलाहल आदि नहीं, क्योंकि हलाहल आदि एक जन्म में प्राणापहारक होते हैं। सिद्ध परमेष्ठी उस सुरस अर्थात् कर्मरूपी विष से दित अर्थात् खंडित हैं। दित शब्द '**दो अवखण्डने**' इस धातु से '**क्त**' प्रत्यय होकर बनता है, उसका खण्डित अर्थात् वियोजित पृथग्भूत अर्थ होता है। जिस प्रकार खण्डित पदार्थ दोनों की अपेक्षा वियोजित–पृथग्भूत होता है, उसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी भी कर्म से वियोजित–पृथग्भूत हैं। इस प्रकार '**सुरसेण दियं**' इन दो पदों का अर्थ कर अब '**वं**' इस पद का अर्थ करते हैं। '**वः पश्चिम दिगीशे स्यात्**' अर्थात् '**व**' शब्द पश्चिम दिशा के स्वामी अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस कथन से '**वं**' का अर्थ पश्चिमदिगीश होता है। यहाँ दिश शब्द गति अर्थ में लिया गया है और पश्चिम का अर्थ अन्तिम लिया गया है। इस तरह समस्त गतियों के अन्त में प्राप्त होने के कारण पश्चिमदिग् मुक्ति कहलाती है। सिद्ध परमेष्ठी उसके स्वामी हैं। यह छठवां छायार्थ है।

सप्तम पक्ष में रस शब्द देह की धातुओं में आता है। यहाँ भी उपर्युक्त **(सुरसेण वंदियं)** पद के तीन खण्ड कर व्याख्या की जाती है। '**रस**' शब्द से रुधिर, मज्जा, मेदा और हड्डी आदि शरीर की धातुएं ली गई हैं और **(सुष्ठु रसा यस्मिन् स सुरसः)** इस विग्रह के अनुसार सुरस शब्द का अर्थ

मुक्तीशमिति सप्तमश्छायार्थः।

अष्टमेऽपि पक्षे रसशब्दो बोले वर्तते। बोलशब्दस्तु गन्धरसे प्राणार्थेऽपि वर्तते ''बोलो गन्धरसे प्राणे ''इत्यभिधानात्'' इह तु प्रयोजनवशात् प्राणार्थे गृह्यते। सुष्ठु अतिशयवता रसेन बोलेन पञ्चेन्द्रियादि-दशप्राणसमुदायेन दितं खण्डितं वियोजितमिति। वमिति पूर्वोक्तमेवेत्यष्टमश्छायार्थः।

नवमे पक्षे रसशब्दस्तिक्तादौ वर्तते, तिक्ताम्लमधुरकटुकषायरसनेन्द्रियविषयाः सर्वजनप्रसिद्धाः। तिक्तादिरित्युपलक्षणं रूपादीनां ग्राहकत्वात्। शोभनस्तिक्तादिरसोपलक्षणः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्द-समुदयः सुरसः, सुरसेन तिक्तादिरसोपलक्षणेन स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दसमुदायेन दितं खण्डितं रहितं वियोजितमिति यावत्। उक्तं च परमात्मप्रकाशे (१/१९)

''जासु ण वण्णु ण गन्धु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णामु णिरंजणु तासु॥''

इति। पुनः किं विशिष्टं? वमिति पूर्वोक्तमिति नवमश्छायार्थः। **दशमे पक्षे** रसशब्दो द्रवेऽपि वर्तते।

शरीर ही होता है। सिद्ध परमेष्ठी उस सुरस–शरीर से दित–खण्डित–पृथग्भूत है। साथ ही **वं** अर्थात् पश्चिमदिगीश–मुक्ति के स्वामी हैं। यह सप्तम छायार्थ है।

अष्टम पक्ष में रस शब्द बोल अर्थ में आता है और बोल शब्द गन्ध रस तथा प्राण अर्थ में आता है **(बोलो गन्धरसेप्राणे)** ऐसा कोषकार का कथन है। यहाँ पर प्रयोजन वश बोल शब्द से प्राण अर्थ ग्रहण किया जाता है। **(सुष्ठु अतिशयवता रसेन–बोलेनपंचेन्द्रियादिदशप्राणसमुदायेन दितं खण्डितं)** इस व्युत्पत्ति के अनुसार सिद्ध परमेष्ठी पंचेन्द्रियादि दश प्राणों से दित–खण्डित–पृथग्भूत हैं। **(वं)** इस शब्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है अर्थात् सिद्ध परमेष्ठी मुक्ति के स्वामी हैं। ऐसा सप्तम पक्ष के व्याख्यान में कहा गया है। इस तरह अष्टम छायार्थ है।

नवम पक्ष में रस शब्द तिक्त आदि अर्थ में आता है। तिक्त–चरपरा, खट्टा, मीठा, कडुवा और कषायला ये रसना इन्द्रिय के विषय सब लोगों में प्रसिद्ध हैं। यहाँ तिक्तादि शब्द उपलक्षण हैं, क्योंकि वे रूप आदि अर्थ को भी ग्रहण करते हैं। **(शोभनो रसः सुरसः)** इस व्युत्पत्ति के अनुसार सुरस शब्द का अर्थ उच्चकोटि के स्पर्श रस, गन्ध, वर्ण और शब्द का समुदाय होता है। सिद्ध परमेष्ठी ऐसे सुरस से दित–खण्डित अर्थात् पृथग्भूत हैं जैसा कि परमात्म प्रकाश में कहा है–

जासु–जिसके न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न शब्द है, न स्पर्श है, न जन्म है और न मरण है, उसी शुद्ध आत्मा का निरंजन ऐसा नाम है। **(वं)** का अर्थ ऊपर कहे अनुसार मुक्ति के स्वामी होता है। यह नवम छायार्थ है।

दशम पक्ष में रस शब्द द्रव अर्थ में भी आता है। जो शुद्ध गुण और पर्याय रूप परिणमन करता है, वह सुद्रव कहलाता है। सिद्ध परमेष्ठी उस सुद्रव के द्वारा अर्थात् शुद्ध द्रव्य गुण और पर्याय रूप

सुष्ठु द्रवति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति सुद्रवः। सुद्रवेण शुद्धद्रव्यगुणपर्यायपरिणमनशीलेन वन्दितमभिनन्दितं समृद्धमिति यावत्। धातूनामनेकार्थत्वात्, धातवो हि गजेन्द्रलक्षणाः स्वच्छन्दचारित्वात् अनेकार्थविंध्याचलवनं पर्यऽन्तीति दशमश्छायार्थः॥

तथैकादशेपि पक्षे रसशब्दः पारदेपि वर्तते, पारदस्य वस्तुविशेषं विमुच्य निरुक्तिवशादर्थान्तरं गृह्यते, नामानि हि समस्याप्रहेलिकाछलादिकौतुकप्रयोजनेन बलादर्थान्तरेण नीयन्ते न दोषाय। सुष्ठु अतिशयेनाजवंजवसागरं पारं ददातीति पारदः स्वपरोद्धरणशीलः पञ्चाचारविराजमान आचार्यसमुदायः सुपारदः सुरसस्तेन वन्दितमभिनन्दितमित्येकादशश्छायार्थः। ''जले वीर्ये विषे रागे तिक्तादौ देहधातुषु। द्रवे त्रिनेत्रवीर्ये च रसशब्दः प्रकीर्तितः'' इत्यनेकार्थः।

द्वादशे पक्षे ग्रन्थकारेण श्रीसुरसेनाचार्येण निजनाम सूचितमिति प्रसिद्धं। आगमार्थो हि प्रसिद्ध एव यत एवं गुणविशिष्टाः भवन्त्येव। मतार्थस्तु सकलमतनिराकरणशीलो विशेषणद्वारेण विजयते। यद्यपि परमतेषु मिथ्यादृष्टिसुरसमुदायनमस्कृताः किञ्चिच्चमत्कारमात्रपराक्रमेण महावीराः अंजनगुटिकादिसिद्धाः प्रसिद्धा

परिणमन करने वाले शुद्ध आत्मतत्त्व के द्वारा वन्दित–अभिनन्दित अथवा समृद्ध हैं। धातुओं के अनेक अर्थ होने से रस शब्द का द्रव अर्थ होना बाधित नहीं है। वास्तव में धातुएँ गजराज की तरह स्वच्छन्दचारी होने से अनेकार्थरूप विन्ध्याचल में पर्यटन करती रहती हैं। यह दशम छायार्थ है।

इसी तरह **एकादश पक्ष** में रस शब्द पारद अर्थ में भी आता है। यद्यपि पारद शब्द का अर्थ लोक में पारा नामक वस्तु विशेष होता है तथापि उस वस्तु विशेष को छोड़कर **(पारं ददातीति पारदः)** इस निरुक्ति द्वारा दूसरा अर्थ लिया जाता है। वास्तव में शब्द, समस्या प्रहेलिका और छल आदि कौतुक के कारण बलपूर्वक अन्य अर्थ में प्रयुक्त हो जाते हैं, इसमें दोष नहीं है। **(सुष्ठु पारं ददातीति सुपारदः)** इस व्युत्पत्ति के अनुसार अतिशयपूर्वक संसार–सागर के पार को जो देवे, वह सुपारद कहलाता है। ऐसा सुपारद निज और पर का उद्धार करने वाला तथा दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँच आचारों से सुशोभित आचार्यों का समूह ही है। यह आचार्य समूह ही सुरस है। सिद्धपरमेष्ठी इस सुरस से वन्दित अर्थात् अभिनन्दित हैं। यह एकादश–ग्यारहवां छायार्थ है। अनेकार्थ कोष में रस शब्द जल, वीर्य, विष, राग, तिक्तादिरस, शरीर की धातुएँ, द्रव और शंकर का वीर्य, इतने अर्थों में कहा गया है।

द्वादशपक्ष में ग्रन्थकार ने सुरसेन नाम से अपना देवसेनाचार्य नाम सूचित किया है। आगम का अर्थ तो प्रसिद्ध ही है क्योंकि इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट सिद्ध परमेष्ठी होते ही हैं। रहा मतार्थ, सो वह अन्य सब मतों का निराकरण करता हुआ विशेषण द्वारा विजय को प्राप्त है। यद्यपि अन्य मतों में मिथ्यादृष्टि देवों के द्वारा नमस्कृत और किंचित् चमत्कारमात्र पराक्रम से महावीर–महाशक्तिशाली, अञ्जनगुटिका आदि को सिद्ध करने वाले पुरुष भी सिद्ध नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे अत्यन्त निर्मल

न ते विमलतरगुणसमृद्धमण्डिताः ततो विमलतरगुणसमृद्धिमिति विशेषणं स्वमतोपात्तसिद्धलक्षणविजयेन परमतोपात्तपराजयेन निःशङ्कं प्रद्योतते। भावार्थश्चायं, यो यद्गुणार्थी भवति स तद्गुणविशिष्टपुरुषविशेषं नमस्कुरुते, अयं तु स्वामी श्रीसुरसेनाचार्यः मुमुक्षुरन्यांश्च मुमुक्षून् मोक्षमार्गनेता चतुर्विधाराधनासारफलप्राप्तं सिद्धपरमात्मानं नमस्कृत्य ग्रन्थारम्भे प्रवर्तते। अनेन द्वारेण प्रोक्तार्थसमुदायः स्वावसरे स्वावसरे सर्वत्र ज्ञातव्यः। गाथा छन्दः। गाथापादत्रयेण स्वेष्टदेवतानमस्कारप्रतिपादनेन चरमपादेनाराधनासारं वक्ष्येऽहमिति प्रतिज्ञाकरणे प्रथमगाथासूत्रं गतं ॥१॥

अथ निर्दिष्टाराधनासारस्य गाथापूर्वार्धेन लक्षणमपरार्धेन तद्विभागं च दर्शयति–

आराहणाइसारो तवदंसणणाणचरणसमवाओ।
सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव[1] परमट्ठो ॥२॥

भवतीति क्रियापदमध्याहृत्य व्याख्या विधीयते। भवति। कोऽसौ? **आराहणाइसारो** आराधनादिसारः। आदिपदग्रहणस्य गाथाछन्दसः प्रथमपादस्य द्वादशमात्रापूरणार्थमेव प्रयोजनं नान्यत्। यथा दशादिरथः

गुणरूपी समृद्धि से सुशोभित नहीं हैं। इसलिए गाथा में सिद्धपरमेष्ठी के लिए जो **(विमलतर गुणसमृद्धं)** विशेषण दिया गया है, वह अपने मत में स्वीकृत सिद्धपरमेष्ठी के लक्षण की विजय और परमत में स्वीकृत सिद्ध के लक्षण की पराजय को प्रकट करता हुआ निशंक ही अपनी सार्थकता रखता है। यहाँ भावार्थ यह है कि जो मनुष्य जिस गुण का अभिलाषी होता है, वह उस गुण से विशिष्ट पुरुष विशेष को नमस्कार करता है। यह स्वामी देवसेनाचार्य स्वयं मुमुक्षु–मोक्ष के इच्छुक हैं और अन्य मुमुक्षजनों को मोक्षमार्ग प्राप्त कराने वाले हैं, इसलिए चार प्रकार की आराधनाओं के श्रेष्ठ फल को प्राप्त सिद्ध परमात्मा को नमस्कार कर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं। इसी पद्धति से कहा हुआ अर्थ समूह अपने–अपने अवसर पर सर्वत्र जानने योग्य है। इस श्लोक में गाथा छन्द है। संस्कृत में यही छंद आर्या नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ गाथा के तीन पदों के द्वारा अपने इष्ट देवता को नमस्कार कर अन्तिम पद के द्वारा (मैं आराधनासार को कहूँगा) यह प्रतिज्ञा की गई है ॥१॥

अब गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा आराधनासार का लक्षण और उत्तरार्द्ध द्वारा उसके भेद दिखलाते हैं–

आराहणाइ–गाथार्थ–(तवदंसणणाणचरणसमवाओ) तप, दर्शन, ज्ञान और चरित्र का समूह **(आराहणाइसारो)** आराधनासार है **(सो)** वह आराधनासार **(दुब्भेओ)** दो भेद वाला **(उत्तो)** कहा गया है **(ववहारो चेग परमट्ठो)** एक व्यवहार और एक परमार्थ।

टीका–तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समूह आराधनासार है। यहाँ गाथा में 'आराधनादिसार' इस शब्द में जो आदि शब्द दिया हुआ है, उसका प्रयोजन गाथा छन्द के प्रथम पाद सम्बन्धी बारह मात्राओं की पूर्ति ही है, जिस प्रकार कवि लोग दशरथ के लिए दशादिरथ, दशकन्धर के लिए

---

१. चेग म०।

दशपूर्वकन्धरः भीमादिसेन इत्यादिप्रयोगात्[1] छन्दःपूरणार्थं कवयः प्रयुञ्जते न दोषाय। आराधनेति पदमादौ यस्य सारस्य असौ आराधनासारः इति लक्ष्यनिर्देशः कृतः। किंलक्षणः? **तवदंसणणाणचरणसमवाओ** तपोदर्शनज्ञानचरणसमवायः। आदौ तपोग्रहणमपि छन्दःपूरणाय, तपश्च दर्शनञ्च ज्ञानञ्च चरणञ्च तपोदर्शनज्ञानचरणानि एतेषां समवायः समुदायस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवायः तपोदर्शनज्ञानचरणान्येतानि चत्वार्यपि अस्मिन्नेवाराधनासारे समवेतान्यवकाशमतियातानि ततस्तपो-दर्शनज्ञानचरणसमवाय इति सम्यग्लक्षणमाराधनासारस्य भवति। अथायमभेदः सभेदो वेत्याशङ्कायां विभागं सूचयति। उत्तो उक्तः। कोऽसौ? यः। स आराधनासारः। कतिभेदः? दुब्भेओ द्विभेदः द्वौ भेदौ यस्यासौ द्विभेदः। कौ तावित्याह–**ववहारो** एको व्यवहारः **परमट्ठो** एकश्च परमार्थः व्यवहाराराधनासारः परमार्थाराधनासार इत्यर्थः इति योजनिकाद्वारः। तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय आराधनासारो भवति स व्यवहारः परमार्थश्चैवेति द्विभेद उक्तः इति संक्षेपान्वयद्वारः। इत्याराधनासारलक्षणविभागप्रतिपादकं द्वितीयं गाथासूत्रं गतं ॥२॥

अथादावुद्दिष्टस्य प्रथमभेदस्य व्यवहाराराधनासारस्य लक्षणं सविभागं प्रतिपादयति –

ववहारेण य सारो भणिओ आराहणाचउक्कस्स।
दंसणणाणचरित्तं तवो य जिणभासियं णूणं ॥३॥

दशादिकन्धर और भीमसेन के लिए भीमादिसेन शब्दों का प्रयोग छन्द पूर्ति के लिए करते हैं, उसी प्रकार यहाँ आचार्य ने छन्दपूर्ति के लिए आराधनासार के स्थान पर आराधनादिसार शब्द का प्रयोग किया है। तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये चार आराधनाएँ हैं। इनमें आराधनाओं का क्रम दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप है परन्तु छन्दपूर्ति की दृष्टि से यहाँ पहले तप आराधना का उल्लेख किया गया है। तप आदि चारों आराधनाएँ इस ग्रन्थ में एकत्रित हो विस्तार को प्राप्त हैं अर्थात् इन आराधनाओं का इस ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया गया है। उक्त चारों आराधनाओं का समूह आराधनासार है। वह आराधनासार दो भेद वाला कहा गया है। एक व्यवहार आराधनासार और दूसरा परमार्थ आराधनासार ॥२॥

इस प्रकार आराधनासार के लक्षण और भेदों का निरूपण करने वाला द्वितीय गाथा सूत्र समाप्त हुआ।

अब पहले कहे हुए प्रथम भेद स्वरूप व्यवहाराराधनासार का लक्षण उसके भेदों के साथ कहते हैं–

ववहारेणेति–गाथार्थ–(णूणं) निश्चय से **(जिणभासियं)** जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ **(दंसणणाणचरित्तं तवोय)** दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप **(ववहारेण)** व्यवहारनय से **(आराहणाचउक्कस्स)** चार आराधनाओं का **(सारो)** सार **(भणिओ)** कहा गया है।

---

१. प्रयोगात् म०।

भणिओ भणितः प्रोक्तः। कोऽसौ? **सारो** सारः **रहस्यो धारः**[१]। कस्य? **आराहणाचउक्कस्स** आराधनाचतुष्कस्य। केन? **ववहारेण** व्यवहारेण व्यवहरणं व्यवहारः यथोक्तक्रियाचारस्तेन। चकारोनुक्त-समुच्चयार्थः तेन परमात्मध्यानावस्थायां निश्चयेन च। यदुक्तम् –

"ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिर्जिनभाषितैः ।
आराधनाचतुष्कस्य व्यवहारेण सारता॥"

तैरेव परमब्रह्मध्यानात्तन्मयतां गतैः आराधनाचतुष्कस्य निश्चयेन च सारता। किं तत् आराधनाचतुष्कं? **दंसणणाणचरित्तं** दर्शनज्ञानचारित्रं। न केवलं दर्शनज्ञानचारित्रं। तवो च तपश्च। किं विशिष्टं? **जिणभासियं** जिनभाषितं जिनेन वीतरागेन सर्वज्ञेन भाषितं प्रतिपादितं जिनभाषितं अतएव णूणं नूनं निश्चितं। यदेव हि जिनोक्तं तदेव नूनं जितरागादिद्वेषत्वात्। यदुक्तम् –

"रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥"

टीका—जिनागम में निश्चयनय से निरपेक्ष व्यवहार नय और व्यवहार नय से निरपेक्ष निश्चयनय मान्य नहीं है। इसलिए जहाँ व्यवहारनय से कथन है, वहाँ निश्चयनय के कथन को भी तदन्तर्गत समझा जाता है। गाथा में जो '**ववहारेण य**'(व्यवहारेण च) यहाँ व्यवहार के साथ च शब्द का प्रयोग हुआ है, वह अनुक्त समुच्चय के लिए है अतः उससे निश्चयनय का बोध होता है। '**व्यवहरणं व्यवहारः**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यथोक्त क्रियाओं का आचरण करना व्यवहार है और परमब्रह्म के ध्यान के समय तन्मयता को प्राप्त होना निश्चय है। जिनेन्द्र भगवान् ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का जैसा स्वरूप कहा है, तदनुरूप आचरण करना व्यवहार नय की अपेक्षा आराधनाचतुष्क की सारता है, जैसा कि कहा है–

ज्ञानेति—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के द्वारा व्यवहारनय से आराधना चतुष्क की सारता है और परमब्रह्म के ध्यान से तन्मयीभाव को प्राप्त हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के द्वारा निश्चयनय से आराधनाचतुष्क की सारता है। यहाँ जिनभाषित दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से ही आराधनाचतुष्क की सारता बतलाने का प्रयोजन यह है कि जिन भगवान वीतराग तथा सर्वज्ञ होते हैं, अतः उनके द्वारा भाषित दर्शन, ज्ञान आदि यथार्थता से युक्त होते हैं। जैसा कि कहा गया है–

रागाद्वेति—राग से, द्वेष से अथवा मोह से असत्य वचन कहे जाते हैं जिसके ये दोष नहीं हैं, उसके असत्य वचन का कोई कारण नहीं है।

---

१. रहस्यो धारः म०।

ततो जिनभाषितान्येव दर्शनज्ञानचारित्रतपांस्युपादेयानि सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं सम्यक् तपश्चेत्यस्य चतुष्कस्य यदाराधना उपासना विधीयते तदाराधनाचतुष्कं। अत्र प्रवृत्ति-र्व्यवहाराराधनासारो भवतीति रहस्यमिति योजनिकाद्वारः। आराधनाचतुष्कस्य व्यवहारेण सारो भणितः नूनं जिनभाषितं दर्शनज्ञानचारित्रं तपश्चेति चतुष्कं भवतीति विशेष इति संक्षेपान्वयद्वारः। इति व्यवहाराराधनासारलक्षणप्रतिपादनेन तृतीयं गाथासूत्रं गतं ॥३॥

अथ व्यवहाराराधनासारसामान्यलक्षणं प्रतिपाद्य तस्य प्रथमभेदस्य सम्यग्दर्शनाराधनाया लक्षणं प्रतिपादयति–

भावाणं सद्दहणं कीरइ जं सुत्तउत्तजुत्तीहिं।
आराहणा हु भणिया सम्मत्ते सा मुणिंदेहिं ॥४॥

भणिया भणिता। काऽसौ? सा **आराहणा** आराधना। कथं? हु खलु, हु शब्दः खल्वर्थे प्राकृतत्वात्। कैः? **मुणिंदेहिं** मुनीद्रैः। क्व? **सम्मत्ते** सम्यक्त्वे। सेति का? **कीरइ** क्रियते किं तत्? जं यत्। यदिति किं? सद्दहणं श्रद्धानं विश्वासो रुचिः प्रतीतिरिति यावत्। केषां? **भावाणं** भावानां जीवादिपदार्थानां। काभिः

मोहनीय कर्म से रहित होने के कारण जिनेन्द्र भगवान रागद्वेष और मोह से रहित हैं तथा ज्ञानावरणादि शेष घातिया कर्मों का अभाव होने से सर्वज्ञ हैं। इस प्रकार उनमें असत्य बोलने का एक भी कारण नहीं है, अतः उन्होंने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का जैसा स्वरूप बतलाया है, वही परमार्थ है। उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप उपादेय हैं, ग्रहण करने के योग्य हैं। इन्हीं को जिनागम में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप कहा गया है। इनकी जो आराधना या उपासना है, वह आराधना चतुष्क है। इसी आराधना चतुष्क रूप प्रवृत्ति करना व्यवहाराराधना का सार है। इस प्रकार व्यवहाराराधनासार के लक्षण का प्रतिपादन करने वाला तृतीय गाथा सूत्र पूर्ण हुआ ॥३॥

अब व्यवहार आराधनासार का सामान्य लक्षण कहकर उसके प्रथम भेद स्वरूप सम्यग्दर्शन आराधना का लक्षण कहते हैं–

भावाणमिति–गाथार्थ–(सुत्तउत्तजुत्तीहिं) आगम में कही हुई युक्तियों के द्वारा **(भावाणं)** जीवादि पदार्थों का **(जं)** जो **(सद्दहणं)** श्रद्धान **(कीरइ)** किया जाता है **(सा)** वह (**मुणिंदेहि**) मुनिराजों के द्वारा **(हु)** निश्चय से **(सम्यत्ते)** सम्यग्दर्शनविषयक **(आराहणा)** आराधना **(भणिया)** कही गई है।

टीका–परमागम में जो युक्तियाँ कही गई हैं। उनके अनुसार जीव-अजीव आदि भावों-पदार्थों का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन आराधना है। प्राकृत में हु शब्द का अर्थ खलु-निश्चय होता है। श्रद्धान का अर्थ विश्वास, रुचि अथवा प्रतीति है। द्रव्य, गुण और पर्याय जिनमें होते हैं, वे भाव

करणताभिः? **सुत्तउत्तजुत्तीहिं** सूत्रोक्तयुक्तिभिः सूत्रे परमागमे उक्ता या युक्तयः सूत्रोक्तयुक्तयस्ताभिः सूत्रोक्तयुक्तिभिरिति योजनिकाद्वारः। सूत्रोक्तयुक्तिभिर्यद्भावानां श्रद्धानं क्रियते सम्यक्त्वे सा आराधना मुनीन्द्रैर्भणिता खलु इति संक्षेपान्वयद्वारः। तथाहि–द्रव्यगुणपर्याया एतेषु भवन्तीति भावा जीवादयो नवपदार्था भवन्ति। एतेषां किञ्चिन्निर्देशः क्रियते। तत्र चेतनालक्षणो जीवः, तद्विलक्षणः पुद्गलधर्माधर्माकाश-कालस्वरूपपञ्चविधोऽजीवः, योगद्वारेण कर्मागमनमास्रवः, जीवकर्मणोरन्योन्य-प्रदेशप्रवेशात्मको बन्धः, आस्रवनिरोधः संवरः, कर्मणामेकदेशगलनं निर्जरा, बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः, सद्वेद्य शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं, अतोऽन्यत्पापं। अमी नव पदार्थसंज्ञां लभन्ते। उक्तस्य पञ्चविधस्याजीवस्य निर्देशो विधीयते। तत्र स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः, जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं धर्मः, स्थानयुक्तानां स्थितेः सहकारिकारणमधर्मः, सर्वद्रव्याणामवकाशदानदायकमाकाशं, वर्तनालक्षणः कालः। अमी कालेन विना जीवेन सह पञ्चास्तिकायसंज्ञां लभन्ते। पुण्यपापाभ्यां विना नव पदार्थाः सप्त तत्त्वसंज्ञां लभन्ते। एतेषां सप्रपञ्चविशेषाः परमागमतो विज्ञेया अत्र तु नोच्यन्ते ग्रन्थगौरवभयात् बहुषु ग्रन्थेषु प्रोक्तत्वाच्च। अमी यथा

कहलाते हैं, जिनागम में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ भाव या पदार्थ कहलाते हैं। यहाँ इनका कुछ स्वरूप कहा जाता है। जिसमें चेतना अर्थात् सामान्य और विशेष रूप से पदार्थ को जानने की शक्ति पाई जावे, उसे जीव कहते हैं। सामान्य रूप से पदार्थ को जानना दर्शन चेतना है और विशेष रूप से जानना ज्ञान चेतना है, यह द्विविध चेतना ही जीव का लक्षण है। जो चेतना लक्षण से रहित है, वह अजीव है। अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच भेद हैं। मन, वचन, कायरूप योग के द्वारा कर्मों का आना आस्रव है। जीव और कर्मों का परस्पर प्रदेश प्रवेश–एक क्षेत्रावगाह होना बन्ध है। आस्रव का रुकना संवर है। कर्मों का एक देश झड़ना निर्जरा है। बन्ध के कारणों का अभाव अर्थात् संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय होना मोक्ष है। शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र पुण्य हैं और इससे भिन्न पाप है। ये नौ पदार्थ संज्ञा को प्राप्त हैं। ऊपर जो पाँच प्रकार का अजीव कहा गया है, उसका वर्णन किया जाता है। जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित हैं, उन्हें पुद्गल कहते हैं। जीव और पुद्गलों की गति का जो सहकारी कारण है, वह धर्म है। ठहरते हुए जीव और पुद्गलों की स्थिति का जो सहकारी कारण है, वह अधर्म है। समस्त द्रव्यों को अवकाश देने वाला आकाश है और जो वर्तना लक्षण से सहित है अर्थात् द्रव्यों के परिणमन में जो सहायक कारण है, वह काल है। काल को छोड़कर शेष चार अजीव और जीव ये पाँच अस्तिकाय संज्ञा को प्राप्त हैं। जो अस्तित्व रूप होता हुआ बहुप्रदेशी होता है, उसे अस्तिकाय कहते हैं। कालद्रव्य एक–प्रदेशी ही हैं अतः उसे अस्तिकाय में सम्मिलित नहीं किया जाता। पुण्य और पाप के बिना शेष सात पदार्थ तत्त्व संज्ञा को प्राप्त हैं। इन सबका विस्तार सहित विशेष वर्णन परमागम से जानना चाहिए। ग्रन्थ गौरव के भय से अथवा

जिनेन्द्रेण प्रतिपादितास्तथैव सम्यक्त्वलिङ्गिता भवन्ति नान्यथेति विश्वासः प्रतीतिः रुचिः श्रद्धानं भण्यते। तच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वेति वचनात्कारण-द्वयवद्भवति। जीवस्य अनादिकाल-कर्मपटलाष्टकमात्मानं मिथ्यात्वं क्वापि न परित्यजति। तद्विविधं अगृहीतगृहीतभेदात्। प्रथमं तावत् सकलस्य जीवराशेर्भवति तदुदयेन तत्त्वातत्त्वश्रद्धानं किमपि न भवति। तत्र सम्यग्विपरीत-तत्त्वश्रद्धानयोर्द्वयोरप्यनवकाशत्वात्। द्वितीयं तु विशिष्टपञ्चेन्द्रियजीवराशेर्भवति तदुदयेन जीवो विपरीतं तत्त्वं श्रद्धत्ते न सम्यक्। यदा तु लब्धकालादिलब्धिको भवति जीवस्तदा निसर्गाधिगमाख्यकारणद्वयं प्राप्नोति। निसर्गः स्वभावः आचार्यादीनां धर्मोपदेशविशिष्टोपायः अधिगमः। निसर्गेणापि पूर्वमधिगमेन भूत्वा भाव्यं अन्यस्मिन् जन्मनि भावितयोगत्वात्। ततः अधिगम एव सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्तं प्रधानं। निसर्गे अधिगमे वा सत्यपि जीव औपशमिकं क्षायोपशमिकं क्षायिकं चेति कारणत्रयं समाश्रित्य तत्त्वश्रद्धानं विधत्ते। अथैतेषां औपशमिकादीनां यथानुक्रमेण लक्षणमाह। लक्षणं द्विविधं सामान्य-विशेषभेदात्। अनेकव्यक्तिनिष्ठं सामान्य एकव्यक्तिनिष्ठो विशेषः। तत्र तावत्सामान्यलक्षणमुच्यते।

अन्य बहुत ग्रन्थों में चर्चित होने से यहाँ विशेष कथन नहीं किया जाता है। जिनेन्द्र भगवान् ने इन सबका जैसा निरूपण किया है, वैसा ही यथार्थता से सहित है, अन्य प्रकार नहीं है। इस प्रकार विश्वास, प्रतीति या रुचि करना श्रद्धान कहलाता है। वह सम्यग्दर्शन '**तन्निसर्गादधिगमाद्वा**' इस कथन से दो कारणों से युक्त होता है, अर्थात् किन्हीं जीवों के वह निसर्ग-स्वभाव से होता है और किन्हीं जीवों के अधिगम परोपदेश से होता है। निसर्ग-स्वभाव से होने वाला सम्यग्दर्शन निसर्गज और अधिगम-परोपदेश से होने वाला अधिगमज कहलाता है। जीव के अनादिकाल से आठ कर्मों का पटल लग रहा है, उसके कारण मिथ्यात्व किसी भी गति में आत्मा का पिण्ड नहीं छोड़ता है वह मिथ्यात्व अगृहीत और गृहीत के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से पहला अगृहीत मिथ्यात्व समस्त जीवराशि के होता है। उस अगृहीत मिथ्यात्व के उदय से तत्त्व-अतत्त्व श्रद्धान कुछ भी नहीं होता है क्योंकि उसमें समीचीनतत्त्व और विपरीत तत्त्व दोनों के श्रद्धान के लिए अवकाश नहीं रहता। दूसरा गृहीत मिथ्यात्व विशिष्ट पञ्चेन्द्रिय जीवों के ही होता है, उसके उदय से जीव विपरीत तत्त्व की श्रद्धा करता है, समीचीन तत्त्व की नहीं। परन्तु जब कालादिलब्धियों से युक्त होता है, तब निसर्ग और अधिगम इन दो कारणों को प्राप्त होता है। निसर्ग का अर्थ स्वभाव है और अधिगम का अर्थ आचार्य आदि का धर्मोपदेश रूप विशिष्ट उपाय है। निसर्ग भी अधिगमपूर्वक होता है क्योंकि पूर्व पर्याय में जो उपदेश आदि का योग मिलता है, उसी से आगामी पर्याय का निसर्ग सिद्ध होता है। इस तरह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का प्रधान निमित्त अधिगम ही है। निसर्ग अथवा अधिगम के प्राप्त होने पर भी जब जीव औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक अवस्था रूप तीन कारणों का आश्रय

अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व की यह व्याख्या पूर्वाचार्यों के द्वारा लिखे ग्रन्थों में नहीं मिलती है तथा तत्त्व श्रद्धान औपशमिक आदि तीन कारणों के आश्रय से होता है, यह बात विचारणीय है।

आत्मनि कर्मण: स्वशक्ते: कारणवशादनुद्भूतिरुपशम: कतकादिद्रव्य-सम्बन्धादम्भसि पङ्कस्यानुद्भूतिवत्। आत्यन्तिकी निवृत्ति: क्षय: तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसङ्क्रान्ते पङ्कस्यात्यन्ताभाववत्। उभयात्मको मिश्रस्तस्मिन्नेवाम्भसि कतकादिद्रव्यसम्बन्धात् पङ्कस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिवत्। उपशम: प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकं, क्षय: प्रयोजनमस्येति क्षायिकं, क्षयोपशम: प्रयोजनमस्येति क्षायोपशमिकं। मोहनीयकर्मण: अनन्तानुबन्धि-चतुष्टयं मिथ्यात्वत्रयं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वं भवति। तत्कथं भवतीति चेत्? अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति। कुतस्तदुपशम:? काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्[१]। तत्र काललब्धिस्तावत् कर्माविष्ट आत्मा भव्य: काले अर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धि:।

लेता है, तब तत्त्व श्रद्धान को करता है। अब इन उपशमादिक के क्रम से लक्षण कहते हैं। सामान्य और विशेष के भेद से लक्षण दो प्रकार का होता है। जो अनेक व्यक्तियों में रहता है, वह सामान्य है और जो एक व्यक्ति में रहता है, वह विशेष है। उपशमादिक का सामान्य लक्षण इस प्रकार है। जिस प्रकार निर्मली आदि पदार्थों के सम्बन्ध से पानी में पंक की शक्ति की अनुद्भूति होती है अर्थात् निर्मली आदि के संसर्ग से पंक, पानी की स्वच्छता को नष्ट करने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप कारण के वश आत्मा में कर्म की स्वशक्ति की जो अनुद्भूति है, वह उपशम कहलाता है। आत्मा में कर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाना क्षय है, जिस प्रकार उसी जल को दूसरे उज्ज्वल पात्र में नितरा लेने पर पंक की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षय और उपशम दोनों रूप जो अवस्था है, उसे मिश्र या क्षयोपशम कहते हैं, जिस प्रकार कि निर्मली आदि द्रव्य के सम्बन्ध से जल में पंक की क्षीण और अक्षीण दोनों प्रकार की अवस्था होती है, जिसका प्रयोजन उपशम है, उसे औपशमिक, जिसका प्रयोजन क्षय है, उसे क्षायिक और जिसका प्रयोजन क्षयोपशम है, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं।

मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी चार और मिथ्यात्व सम्बन्धी तीन इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। वह औपशमिक सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है, इसकी चर्चा की जाती है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि भव्य अनादि मिथ्या दृष्टि जीव के जब अनादिकाल से कर्मोदय के कारण होने वाली कलुषता विद्यमान है, तब उसके पूर्वोक्त सात प्रकृतियों का उपशम कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि काललब्धि आदि के निमित्त से उपशम होता है। यहाँ काललब्धि का वर्णन कई प्रकार से किया जाता है। **एक काललब्धि** यह है कि कर्म सहित भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरावर्तन नामक काल के अवशिष्ट रहने पर प्रथम सम्यक्त्व-औपशमिक सम्यग्दर्शन के ग्रहण करने के योग्य होता है, इससे अधिक काल अवशिष्ट रहने पर नहीं।

---

१. निमित्तवान्

अपरा काललब्धिः कर्मस्थितिका उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? अन्तःकोटाकोटी-सागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्ध-परिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपम-सहस्रोनायामंतः कोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति।

अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया, भव्यः, पञ्चेन्द्रियः, संज्ञी, पर्याप्तः, सर्वविशुद्धः, प्रथमसम्यक्त्व-मुत्पादयति। आदिशब्देन जातिस्मरणादि परिगृह्यते। इत्यौपशमिकसम्यक्त्वलक्षणं पूर्णं। अनन्तानुबंधि-चतुष्कस्य मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्तेषामेव सदवस्थोपशमाच्च सम्यक्त्वस्यैकदेश-घातिन उदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं। तासां पूर्वोक्तानां सप्तानां प्रकृतीनामत्यन्तक्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वं। सम्यक्त्वलक्षणं व्याकृत्य कस्यां गतौ कति सम्यक्त्वानि भवन्ति इति सूच्यते।

तत्र नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां पर्याप्तकानां औपशमिकं[१] क्षायोपशमिकं चेति सम्यक्त्वद्वयं

दूसरी काललब्धि कर्मस्थिति से सम्बन्ध रखने वाली है। जब उत्कृष्टस्थिति वाले अथवा जघन्य स्थिति वाले कर्म बन्ध को प्राप्त हो रहे हैं, तब इस जीव को प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तो कहाँ होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब अन्तः कोटा-कोटी सागर प्रमाण स्थिति वाले कर्मबन्ध को प्राप्त हो रहे हैं और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्म, वर्तमान में बंधने वाले कर्मों की स्थिति से संख्यात हजार सागर प्रमाण कम अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति में रह जाते हैं, तब प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है।

तीसरी काललब्धि भव की अपेक्षा है अर्थात् भव्य पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध परिणामों को धारण करने वाला जीव प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। आदि शब्द से जातिस्मरण आदि बाह्यनिमित्त का ग्रहण होता है। इस प्रकार औपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण पूर्ण हुआ। अनन्तानुबन्धी की चार और मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय में आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय में आने वाले उन्हीं छह प्रकृतियों के निषेकों का सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाति प्रकृति का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इसी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व है। पूर्व में कही हुई उन्हीं सात प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस तरह सम्यग्दर्शन के लक्षण की व्याख्या कर अब किस गति में कितने सम्यग्दर्शन होते हैं, इसकी चर्चा करते हैं।

नरकगति में सभी पृथिवियों के पर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो

---

१. क्षायिकं

भवति। प्रथमायां पुन: पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चेति द्वयं भवति। तिर्यग्गतौ तिरश्चां पर्याप्तकानामौपशमिकमस्ति तेषां पर्याप्तापर्याप्तकानां तु क्षायिकं क्षायोपशमिकं चेति द्वितयमस्ति, तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति, औपशमिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानां। एवं मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति, औपशमिकं पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानां, मानुषीणां तु त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानां, क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव। देवगतौ देवानां पर्याप्तापर्याप्तकानां

सम्यग्दर्शन होते हैं, परन्तु प्रथम पृथ्वी के पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर प्रथम पृथ्वी से आगे नहीं जाता। इसलिए द्वितीयादि पृथिवियों में अपर्याप्तक अवस्था में कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, केवल पर्याप्तक अवस्था में नवीन उत्पन्न होने से औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कर्मभूमिज मनुष्य के ही होती है, अत: उसकी वहाँ संभावना नहीं है। क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मरकर पहली पृथ्वी तक जा सकता है, इसलिए वहाँ अपर्याप्तक और पर्याप्तक दोनों अवस्थाओं में क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव देवगति को छोड़कर अन्य किसी गति में नहीं जाता, इसलिए देव को छोड़कर अन्य तीन गतियों की अपर्याप्तक अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु नवीन उत्पन्न होने की अपेक्षा पर्याप्तक अवस्था में होता है। तिर्यञ्च गति में पर्याप्तक तिर्यञ्चों के औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनों तिर्यञ्चों के होते हैं। यहाँ इतनी विशेषता स्मरणीय है कि पूर्व का बद्धायुष्क जीव यदि तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है तो नियम से भोगभूमि का ही तिर्यञ्च होता है, कर्मभूमि का नहीं। इसलिए अपर्याप्तक अवस्था में भोगभूमिज तिर्यञ्च के ही क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते हैं, कर्मभूमिज तिर्यञ्चों के नहीं। नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा पर्याप्तक अवस्था में औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। **तिर्यञ्चों**–स्त्री जाति के तिर्यञ्चों के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि पहले का सम्यग्दृष्टि स्त्रीवेदियों में उत्पन्न नहीं होता और नवीन क्षायिक सम्यग्दर्शन उनके उत्पन्न नहीं हो सकता। नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन हो सकते हैं, सो पर्याप्तिकाओं के ही होते हैं अपर्याप्तिकाओं के नहीं। इसी प्रकार मनुष्य गति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्यों के क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तकों के ही होता है अपर्याप्तकों के नहीं। मानुषियों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु पर्याप्तक मानुषियों के ही होते हैं अपर्याप्तक मानुषियों के नहीं। क्षायिक सम्यग्दर्शन भाव वेद की अपेक्षा ही होता है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं। देवगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के देवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। यहाँ यदि

त्रितयमप्यस्ति। औपशमिकमपर्याप्तकानां कथमितिचेत्? चरित्रमोहोपशमेन सहमृतान् प्रति। भवनवासिव्यन्तर-ज्योतिष्काणां देवानां देवीनां च सौधर्मैशानकल्पवासिनीनां च क्षायिकं नास्ति तेषां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। **अस्य साधनमपि कथ्यते।** साधनं द्विविधमाभ्यन्तरं बाह्यं च। आभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। बाह्यं नारकाणां प्राक् चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिज्जाति-स्मरणं, केषांचिद्धर्मश्रवणं, केषांचिद्वेदनाभिभवः, चतुर्थीमारभ्य आसप्तम्यां नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च। तिरश्चां केषांचिज्जातिस्मरणं, केषांचिद्धर्मश्रवणं, केषांचिज्जिनबिम्बदर्शनं। मनुष्याणामपि तथैव। देवानामपि केषांचिज्जातिस्मरणं, केषांचिद्धर्मश्रवणं, केषांचिज्जिनमहिमदर्शनं, केषांचिद्देवर्द्धिदर्शनं। एवं प्रागानतात्। आनतप्राणतारणाच्युतदेवानां देवर्द्धिदर्शनं मुक्त्वा अन्यत्रितयमप्यस्ति। नवग्रैवेयकवासिनां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं। अनुदिशानुत्तरविमानवासिनामियं कल्पना न भवति प्रागेव गृहीत-

---

कोई प्रश्न करें कि अपर्याप्तक देवों के औपशमिक सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है ? तो उसका उत्तर यह है कि जो जीव चारित्रमोह के उपशम के साथ मरकर देवों में उत्पन्न होते हैं, उनकी अपेक्षा अपर्याप्तक अवस्था में भी औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव उनकी देवियाँ तथा सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में निवास करने वाली देवियों के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता। किन्तु नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा पर्याप्तकों के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। यहाँ सौधर्म और ऐशानस्वर्ग सम्बन्धी देवियों की ही चर्चा करने का अभिप्राय यह है कि देवियों की उत्पत्ति इन्हीं दो स्वर्गों तक होती है, आगे नहीं। नियोगी देव अपनी-अपनी नियोगिनी देवियों को सोलहवें स्वर्ग तक ले जाते हैं, इसलिए सभी देवियाँ सौधर्म और ऐशानस्वर्ग की देवियों में ही गर्भित समझना चाहिए।

अब सम्यग्दर्शन के **साधन** का भी कथन करते हैं। आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से साधन दो प्रकार का है। दर्शनमोह का उपशम, क्षय और क्षयोपशम आभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन नारकियों के चतुर्थ पृथ्वी के पहले अर्थात् तीसरी पृथ्वी तक किन्हीं के जाति स्मरण, किन्हीं के धर्म श्रवण और किन्हीं के वेदना का अनुभव और चतुर्थ पृथ्वी से लेकर सप्तमी पृथ्वी तक किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के वेदना का अनुभव है। तीसरी पृथ्वी तक धर्मोपदेश का निमित्त पूर्व भव के स्नेही देवों के द्वारा संभव है। तिर्यञ्चों में किन्हीं के जाति स्मरण, किन्हीं के धर्म श्रवण और किन्हीं के जिनबिम्ब दर्शन बाह्य निमित्त हैं। मनुष्यों के भी तिर्यञ्चों के समान उक्त तीन बाह्य निमित्त हैं। देवों में किन्हीं के जाति स्मरण, किन्हीं के धर्म श्रवण, किन्हीं के जिनमहिमादर्शन-जिनकल्याणक दर्शन और किन्हीं के देवर्द्धिदर्शन बाह्य निमित्त हैं। ये बाह्य निमित्त आनतस्वर्ग के पहले पहले तक जानना चाहिए। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गों में देवद्धिदर्शन को छोड़कर अन्य तीन बाह्य निमित्त हैं, नवग्रैवेयक वासियों में किन्हीं के जाति स्मरण और किन्हीं के धर्म श्रवण बाह्य निमित्त है।

सम्यक्त्वानां तत्रोत्पत्तेः।

अस्याधिकरणमपि कथ्यते। अधिकरणं द्विविधं आभ्यन्तरं बाह्यं च। आभ्यन्तरं स्व स्वामिसम्बन्धार्ह एवात्मा, विवक्षातः कारक-प्रवृतेः। बाह्यं लोकनाडी। सा कियती? एकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्ज्वायामा।

स्थितिरप्यस्य कथ्यते। औपशमिकस्य जघन्योत्कृष्टा चान्तर्मौहूर्तिकी। क्षायिकस्य संसारिणः जघन्यान्तर्मौहूर्तिकी उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षहीनपूर्वकोटीद्वयाधिकानि। मुक्तस्य सादिरप्यपर्यवसाना। क्षायोपशमिकस्य जघन्यान्तर्मौहूर्त्तिकी उत्कृष्टा [1]**षट्षष्टिसागरोपमाणि।**

विधानमप्यस्य कथ्यते। विधानं सामान्यादेकं सम्यग्दर्शनं द्वितयं निसर्गजाधिगमज-भेदात्; त्रितयं औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदात् एवं संख्येया विकल्पा शब्दतः। असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति

नवग्रैवेयक वासियों में धर्मश्रवण का निमित्त स्वेच्छा से प्राप्त अन्य अहमिन्द्रों के द्वारा प्राप्त होता है। अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवों में बाह्य निमित्त की कल्पना नहीं है क्योंकि वहाँ पहले से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुकने वाले जीवों की ही उत्पत्ति होती है।

अब सम्यग्दर्शन के **अधिकरण** का भी कथन किया जाता है। आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से अधिकरण दो प्रकार का है। इनमें आभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामिसम्बन्ध के योग्य आत्मा ही है। सम्यग्दर्शन आत्मा में है। यहाँ सम्यग्दर्शन स्व है और आत्मा स्वामी है। गुण और गुणी में भेद की कल्पना कर आत्मा को ही सम्यग्दर्शन का आभ्यन्तर अधिकरण कहा है क्योंकि विवक्षा के अनुसार कारकों की प्रवृत्ति होती है। बाह्य अधिकरण लोकनाड़ी है। वह लोकनाड़ी कितनी बड़ी है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह एक राजू चौड़ी और चौदह राजू लम्बी है।

अब सम्यग्दर्शन की **स्थिति** भी कहते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार की स्थिति अंतर्मुहूर्त की है। क्षायिक सम्यग्दर्शन की संसार में रहने की अपेक्षा जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ वर्ष पूर्व अधिक तैंतीस सागर की है। मुक्त जीव की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति सादि होने पर भी अनन्त है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छयासठ सागर प्रमाण है।

अब सम्यग्दर्शन का **विधान** भी कहते हैं। विधान का अर्थ प्रकार अथवा भेद है। सामान्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शन एक प्रकार का है। निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा दो प्रकार का है और औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक की अपेक्षा तीन प्रकार का है। शब्द की अपेक्षा संख्येय विकल्प हैं और श्रद्धान करने वाले तथा श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा असंख्येय तथा अनन्त

---

१ सौधर्मे २ शुक्रे १६ शतारे १८ अष्टमग्रैवेयके ३० अथवा सौधर्मेद्विरुत्पन्नस्य ४ सनत्कुमारे ७ ब्रह्मणि १० लान्तवे १४ नवग्रैवेयके ३१। अन्त्यसागर शेषे मनुष्यायुहीनं क्रियते तेन षट्षष्टिसागराः सा साधिका न भवन्ति। तत्त्वार्थवृत्तौ।

श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात्। इत्युक्तलक्षणा नानाविधाः सूत्रोक्तयः सन्ति। अत्र तूपदेशो मुख्यवृत्त्या मनुष्यगतौ कथ्यते तद्भव-मुक्तिसाधनत्वात्। मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलपरिहारेण हेयस्य त्यागेनोपादेयस्योपादानेन जीवादितत्त्वश्रद्धानं विधीयते यत्र सा व्यवहारसम्यग्दर्शनाराधना सा च क्षपकेणाप्रमत्तेनाराधनीया भवतीति तात्पर्यम्।

"येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना प्रोक्तं जिनेन स्वयं,
सम्यक्त्वाद्भुतरत्नमेतदमलं चाभ्यस्तमप्यादरात्।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्या च सम्यक्पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानन्दं पदं विन्दते॥"

इति सम्यग्दर्शनाराधनालक्षणप्रतिपादनेन चतुर्थगाथासूत्रं गतम् ॥४॥

अथ व्यवहारज्ञानाराधनां प्रतिपादयति –

सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमहिगमो जो वा।
णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुत्ते ॥५॥

विकल्प होते हैं। इस तरह नाना प्रकार की परमागम की उक्तियाँ हैं अर्थात् नाना प्रकार से जीवादि पदार्थों का वर्णन परमागम में पाया जाता है। उसके अनुसार जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन आराधना है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से मनुष्य गति सम्बन्धी उपदेश कहा गया है क्योंकि मनुष्य गति उसी भव से मुक्ति का साधन है। तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शङ्कादिक आठ दोष तथा ज्ञानमद आदि आठ मद ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं। इनका परिहार करते हुए हेय अर्थात् छोड़ने योग्य दोषों का परित्याग करना चाहिए और प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये गुण अथवा निःशंकता आदि अंग ये उपादेय हैं, इन्हें ग्रहण करना चाहिए। इस तरह हेय के त्याग और उपादेय के ग्रहण से जिसमें जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान किया जाता है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शनाराधना है। क्षपक अर्थात् सल्लेखना करने वाले व्यक्ति को प्रमादरहित होकर इस व्यवहार सम्यग्दर्शन रूप प्रथम आराधना की उपासना करना चाहिए। अब व्यवहार सम्यग्दर्शन आराधना का फल बताते हैं–

येनेदमिति–तीनों जगत् के श्रेष्ठ स्वामी जिनेन्द्र भगवान के द्वारा स्वयं कहे हुए इस सम्यग्दर्शन रूपी अद्भुत एवं निर्मल रत्न का जिसने आदरपूर्वक अभ्यास किया है, वह बलपूर्वक दुष्ट कर्मों के समूह का नाश कर समीचीन तल्लीनता के द्वारा परब्रह्म की आराधना स्वरूप उस समीचीन पद को प्राप्त होता है, जिसमें चिदानन्द अर्थात् आत्मा का सहज सुख आश्चर्यकारी रूप से उदित रहता है तात्पर्य यह है कि व्यवहार सम्यग्दर्शनाराधना निश्चय सम्यग्दर्शनाराधना का कारण है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आराधना के लक्षण सम्बन्धी प्रतिपादन से चतुर्थ गाथा सूत्र व्यतीत हुआ ॥४॥

हवदि भवति। कासौ? **आराहणा** आराधना। कस्य? **णाणस्य** ज्ञानस्य। कासावाराधना? **एसा** एषा। किंविशिष्टा? **उत्ता** उक्ता प्रोक्ता। कस्मिन्? **सुत्ते** सूत्रे परमागमे। एषेति का? **सुत्तत्थभावणा** वा सूत्रार्थभावना परमागमभावना। अथवा यः इति कः? **अहिगमो** अधिगमः सम्यक् परिज्ञानं। केषां? **भावाणं** भावानां। **तेसिं** तेषां पूर्वोक्तानामिति योजनिकाद्वारः। सूत्रार्थभावना वा तेषां भावनां यो वा अधिगमः एषा सूत्रे उक्ता ज्ञानस्याराधना भवतीति संक्षेपान्वयद्वारः।

''काले विणये उवहाणे बहुमाणे तहेवऽणिण्हवणे।
विंजण[1] अत्थे तदुभय णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥''

अब व्यवहार ज्ञानाराधना का प्रतिपादन करते हैं–

गाथार्थ–(सुत्तत्थभावणा) आगम के अर्थ की भावना **(वा)** अथवा **(तेसिं भावाणं)** उन जीवादि पदार्थों का **(जो)** जो **(अहिगमो)** सम्यग्ज्ञान है **(ऐसा)** यह **(सुत्ते)** परमागम में **(णाणस्स)** ज्ञान की **(आराहणा)** आराधना **(उत्ता हवदि)** कही गई है।

टीका–आगम के अर्थ का चिंतन करना अथवा पहले जिन जीव–अजीव आदि पदार्थों का कथन किया गया है, उनको अच्छी तरह जानना यह आगम में ज्ञानाराधना का स्वरूप कहा गया है।

[1]**कालइति–**ज्ञानाचार आठ प्रकार का है–१. कालाचार, २. विनयाचार, ३. उपधानाचार, ४. बहुमानाचार, ५. अनिह्नवाचार, ६. व्यञ्जनाचार, ७. अर्थाचार और ८. उभयाचार। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

१. कालाचार–गोसर्गकाल–सूर्योदय के दो घड़ी पीछे से लेकर–मध्याह्न से दो घड़ी पूर्व तक, अपराह्नकाल–मध्याह्न से दो घड़ी पश्चात् से लेकर सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व तक, प्रदोष काल–सूर्यास्त के दो घड़ी उपरान्त से लेकर मध्यरात्रि से दो घड़ी पूर्व तक और विरात्रिकाल–मध्य रात्रि के दो घड़ी उपरान्त से लेकर सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व तक इन चार उत्तम कालों में पठन, पाठन, चिन्तन, मनन आदि रूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं। चारों संध्याओं की अंतिम दो–दो घड़ियों में दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्र धनुष, सूर्यचन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के समय में सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय वर्जित है, परन्तु स्तोत्र, आराधना, धर्मकथादिक ग्रन्थों का स्वाध्याय किया जा सकता है।

२. विनयाचार–शुद्ध जल से हाथ–पैर धोकर शुद्ध स्थान में पर्यंकासन से बैठकर नमस्कार पूर्वक स्वाध्याय करने को विनयाचार कहते हैं। लेटकर या पैर पसारकर स्वाध्याय वर्जित है।

---

१. ग्रन्थार्थोभयपूर्णे काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३६॥

इति गाथाकथितलक्षणाष्टविनयादिना ज्ञानमाराधनीयमिति भावार्थः।

"सिद्धान्ते जिनभाषिते नवलसत्तत्त्वार्थभावाद्भुते,
भावं यो विदधीत वाधिगमनं कुर्वीत तस्यानिशम्।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भङ्क्त्वा च सम्यक्पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानन्दं पदं विन्दते ॥५॥"

---

३. उपधानाचार—उपधान–चित्त की स्थिरता के साथ स्वाध्याय करने को उपधानाचार कहते हैं। चित्त की स्थिरता के बिना पठित शास्त्र का स्मरण नहीं रहता।

४. बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक तथा शिक्षक या वक्ता का पूर्ण आदर करने को बहुमानाचार कहते हैं।

५. अनिह्नवाचार—जिस गुरु अथवा शास्त्र से ज्ञान हुआ हो, उसका नाम न छिपाने को अनिह्नवाचार कहते हैं।

६. व्यञ्जनाचार—शब्दशास्त्र–व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, वाक्य आदि का शुद्ध उच्चारण करते हुए पठन–पाठन करने को व्यञ्जनाचार कहते हैं। व्यंजनाचार को ही श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि भी कहते हैं।

७. अर्थाचार—शब्दों के शुद्ध अर्थ का अवधारण करने को अर्थाचार कहते हैं।

८. उभयाचार—शब्दों का शुद्ध उच्चारण करते हुए शुद्ध अर्थ का अवधारण करना उभयाचार कहलाता है।

इन आठ अंगों के द्वारा ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। इसी भाव को निम्नलिखित पद्य में प्रकट करते हैं।

सिद्धान्ते—इति—जो मनुष्य भक्ति–पूर्वक नौ तत्त्व, पदार्थ अथवा भावों से आश्चर्यकारी जिन प्रणीत परमागम की भावना करता है अथवा निरन्तर उसका सम्यग्ज्ञान करता है, वह बलपूर्वक दुष्ट कर्मों के समूह को नष्ट कर परम ब्रह्म की समीचीन आराधना से सहित तथा आश्चर्यकारी रूप से प्रकट हुए चिदानन्द–सहजानन्द से युक्त पद को प्राप्त होता है।

स्वाध्याय अन्तरंग तप है। समीचीनरीति से किया हुआ स्वाध्याय कर्म निर्जरा तथा केवलज्ञान से युक्त अरहन्त पद की प्राप्ति का कारण है। इसलिए स्वाध्याय में प्रयत्न करना चाहिए। "**स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वाध्याय का अर्थ पर परदार्थ से भिन्न तथा स्वकीय गुण पर्याय से अभिन्न आत्म–तत्त्व को समझना है। शास्त्रों को पढ़कर स्व–अपने शुद्ध स्वरूप को समझने का प्रयास होना चाहिए ॥५॥

ज्ञानाराधनां व्याख्याय चारित्राराधनां प्रतिपादयति–

तेरहविहस्स चरणं चारित्तस्सेह भावसुद्धीए।
दुविहअसंजमचाओ चारित्ताराहणा एसा ॥६॥

अत्र भवतीति क्रिया अध्याहार्या। भवति। कासौ? **चारित्ताराहणा** चारित्राराधना। का? **एसा** एषा। एषेति का? **चरणं** चरणं अनुष्ठानं। कस्य? **चरित्तस्स** चारित्रस्य। कतिविधस्य? **तेरहविहस्स त्रयोदशविधस्य त्रिभिरधिका दश** त्रयोदश, त्रयोदश विधाः यस्य तस्य पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिलक्षणस्य। उक्तं च–

''महाव्रतानि पञ्चैव पञ्चैव समितिस्तथा।
गुप्तीस्तिस्त्रश्च चारित्रे त्रयोदशविधे विदुः॥''

क्व? इहाराधनायां। कया? **भावसुद्धीए** भावशुद्ध्या भावश्चित्तानुरागस्तस्य शुद्ध्या नैर्मल्येन, तामन्तरेण चारित्रं गगनारविन्दमकरन्दवत्प्रतिभासते। यदुक्तम्–

भावशुद्धिमबिभ्राणाश्चारित्रं कलयन्ति ये।
त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यां ते तितीर्षन्ति महार्णवम्॥

अब आगे ज्ञानाराधना की व्याख्या कर चारित्राराधना का प्रतिपादन करते हैं–

तेरहविहस्सेति–गाथार्थ–(भावसुद्धीए) भावों की शुद्धि पूर्वक **(इह)** इस आराधना में **(तेरह विहस्स)** तेरह प्रकार के **(चारित्तस्स)** चारित्र का **(चरणं)** आचरण करना, पालन करना और **(दुविहअसंजमचाओ)** दो प्रकार के असंयम का त्याग करना **(एसा)** यह **(चारित्ताराहणा)** चारित्राराधना **(हवदि)** है ॥६॥

टीका–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ सब मिलाकर तेरह प्रकार का चारित्र कहलाता है। जैसा कि कहा गया है

महाव्रतानीति–तेरह प्रकार के चारित्र में पाँच महाव्रत, पाँच समितियां और तीन गुप्तियाँ जानना चाहिए।

भाव का अर्थ हृदय का अनुराग है और उसकी शुद्धि–निर्मलता का अर्थ है किसी लौकिक प्रयोजन का अभाव। इस प्रकार की भाव शुद्धि पूर्वक तेरह प्रकार का चारित्र पालन करना लाभदायक है क्योंकि भाव शुद्धि के बिना जो चारित्र होता है, वह आकाश कमल के मकरन्द के समान जान पड़ता है अर्थात् जिस प्रकार आकाश कमल ही नहीं है, तो उसका मकरन्द कहाँ से आयेगा, उसी प्रकार जिसके भाव शुद्ध नहीं है, उसके चरित्र कहाँ से आयेगा ? जैसा कि कहा है–

भावशुद्धिमीति–जो पुरुष भावशुद्धि को धारण किये बिना चारित्र धारण करते हैं वे नाव छोड़कर भुजाओं के द्वारा महासमुद्र को तैरना चाहते हैं।

इति। अस्य त्रयोदशविधस्य चारित्रस्य यथावदनुष्ठानं कदा करिष्यामीति चित्तोल्लासेन शीतवातादि-जनितशरीरखेदे सति मनसः संक्लेश-रहितत्वेनेत्यर्थः। न केवलं चारित्रस्य चरणं चारित्राराधना भवति अन्यदपीत्याह। **दुविहअसंजमचाओ** द्विविधासंयमत्यागः। द्वौ भेदौ प्रकारौ यस्यासौ द्विविधः द्विविधश्चासावसंयमश्च द्विविधासंयमः द्विविधासंयमस्य त्यागः द्विविधासंयमत्यागः। द्विविधासंयमस्य किं लक्षणं? एकस्तावदिन्द्रियासंयमः अन्यः प्राणासंयमः। द्वयोर्लक्षणं निरूप्यते। यः स्पर्शनरसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्रलक्षणानां मनसश्च इन्द्रियाणां स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दलक्षणेषु स्वकीयविषयेषु स्वेच्छाप्रचारः स इन्द्रियासंयमः कथ्यते। यच्च पृथिव्यप्तेजो-वायुवनस्पतिलक्षण-पञ्चस्थावराणांद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियलक्षणत्रसानां च प्रमादचारित्रत्वाज्जीवितव्यपरोपणं स प्राणासंयमः। यदुक्तम्-

"मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्स्वस्वार्थे प्रवर्तनम्।
यदृच्छयेव तत्तज्ज्ञा इन्द्रियासंयमं विदुः॥
स्थावराणां त्रसानां च जीवानां हि प्रमादतः।
जीवितव्यपरोपो यः स प्राणासंयमः स्मृतः॥"

तस्य द्विविधासंयमस्य त्यागः परिहार इति योजनिकाद्वारः। त्रयोदशविधस्य चारित्रस्य इह भावशुद्ध्याचरणम् द्विविधासंयमत्याग, एषा चारित्राराधना भवतीति संक्षेपान्वयद्वारः। एवमसंयमं परिहृत्य

इस तेरह प्रकार के चारित्र का यथार्थ पालन मैं कब करूँगा इस प्रकार चित्त में उल्लास रखना चाहिए तथा शीत, वायु आदि के द्वारा शरीर में खेद होने पर भी मन में किसी प्रकार का संक्लेश नहीं करना चाहिए। उक्त तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करना ही चारित्राराधना नहीं है साथ में दो प्रकार के असंयम का त्याग करना भी आवश्यक है। एक इन्द्रियासंयम और दूसरा प्राणासंयम यह दो प्रकार का असंयम कहलाता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों तथा मन का, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द आदि अपने अपने विषयों में स्वेच्छा पूर्वक विचरण करना इन्द्रियासंयम कहलाता है और प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावरों तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन चार प्रकार के त्रस जीवों का घात करना प्राणासंयम है। जैसा कि कहा है-

मनसश्चेति—मन और इन्द्रियों की अपने अपने विषयों में इच्छानुसार जो प्रवृत्ति है उसे ज्ञानी पुरुष इन्द्रियासंयम जानते हैं।

स्थावराणामिति—प्रमाद से स्थावर और त्रस जीवों के प्राणों का जो घात करना है, वह प्राणासंयम माना गया है।

इन दोनों प्रकार के असंयमों का त्याग करना भी चारित्राराधना में आता है। इस तरह भाव शुद्धि पूर्वक तेरह प्रकार के चारित्र का आचरण करना और दोनों प्रकार के असंयमों का त्याग करना

पञ्चेन्द्रियनिरोधसकलप्राणिदयालक्षणे संयमे स्थित्वा त्रयोदशविधं चारित्रमाराधनीयमिति भावार्थः॥

द्वेधासंयमवर्जितं गुरुपदद्वन्द्वाब्जसंसेवना-
दाप्तं यश्चिनुते त्रयोदशविधं चारित्रमत्यूर्जितम्।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भङ्क्त्वा च सम्यक् पर
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानन्दं पदं विन्दते ॥६॥

चारित्राराधनां व्याख्याय तप आराधनां प्रतिपादयति–

बारहविहतवयरणे कीरइ जो उज्जमो ससत्तीए।
सा भणिया जिणसुत्ते तवम्मि आराहणा णूणं ॥७॥

भणिया भणिता प्रतिपादिता। कासौ? **आराहणा** आराधना। क्व? **तवम्मि** तपसि। कस्मिन् भणिता? **जिणसुत्ते** जिनसूत्रे सर्वज्ञागमे। कथं? **णूणं** नूनं निश्चितं। का? **सा** आराधना। सा इति का? कीरइ क्रियते। कासौ? **जो** यः। य इति कः? **उज्जमो** उद्यमः उपक्रमः। कस्मिन्? **बारसविहतवयरणे।** द्वादशविधतपश्चरणे

चारित्राराधना है। इस प्रकार असंयम का परिहार कर पंचेन्द्रिय निरोध तथा समस्त प्राणियों पर दया रूप संयम में स्थित होकर तेरह प्रकार का चारित्र पालन करना चाहिए। यही भाव निम्नांकित पद्य में स्पष्ट करते हैं–

द्वेधेति–जो दो प्रकार के असंयम से रहित तथा गुरुओं के चरण कमल युगलों की सेवा से प्राप्त तेरह प्रकार के सुदृढ़ चारित्र का संचय करता है–पालन करता है, वह बलपूर्वक खोटे कर्मों के समूह को नष्ट कर परम ब्रह्म की समीचीन आराधना से सहित तथा आश्चर्यकारी रूप से उदित चिदानन्द सहजानन्द से युक्त पद को प्राप्त होता है ॥६॥

अब चारित्राराधना की व्याख्या कर तप आराधना का प्रतिपादन करते हैं–

बारहविहेति–गाथार्थ–(ससत्तीए) अपनी शक्ति के अनुसार **(बारहविहतवयरणे)** बारह प्रकार के तपश्चरण में **(जो)** जो **(उज्जमो)** उद्यम **(कीरइ)** किया जाता है **(सा)** वह **(णूणं)** निश्चय से **(जिणसुत्ते)** जिनागम में **(तवम्मि आराहणा)** तप आराधना **(भणिया)** कही गई है ॥७॥

टीका–तप अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है–

तं चि तवोद्वति–तप वह करना चाहिए जिससे मन अमंगल का विचार न करे, जिससे इन्द्रियों की हानि न हो तथा जिससे योग नष्ट न हों।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। इस तरह दोनों मिलाकर बारह प्रकार के तपश्चरण में जो उद्यम है, वह तप आराधना है।

षड्बाह्यषडभ्यंतरलक्षणे। कया? **ससत्तीए** स्वशक्त्या, शक्त्या विना हि क्रियमाणतपोनिषेधत्वात्। तदुक्तम् –

तं चि तवो कायव्वो जेण मणोऽमंगलं ण चिंतेइ।
जेण ण इंदियहाणी जेण य जोगा ण हायंति॥

तत्रानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः, प्रायश्चित्तविनय-वैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरमाभ्यन्तरं तप इति द्वादशविधतपश्चरणे यः उद्यमः सा तपस्याराधना भवति। इयमपि दर्शनज्ञानचारित्राराधनावदाराधनीयैव यतो नैनामन्तरेण निकाचितकर्मभ्यो मोक्षः। यदुक्तम्–

''निकाचितानि कर्माणि तावद्भस्मीभवन्ति न।
यावत्प्रवचनप्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते॥''

तथा च निश्चयनयं जिज्ञासुनापि क्षपकेण[१] पूर्वमप्रमत्तेनेयं व्यवहाराराधना सम्यगुपास्या यतो नैनां विना निश्चयनये प्रवृत्तिः। यदुक्तम्–

''जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं व निश्चयं यातुमुपैति शक्तिम्।
प्रभाविकाशेक्षणमन्तरेण भानूदयं को वदते विवेकी॥''

एवं चतुर्विधाराधना भव्येनाराधनीयेति तात्पर्यार्थः।

दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना के समान इस तप आराधना की भी आराधना नियम से करनी चाहिए क्योंकि इसके बिना निकाचित कर्मों से छुटकारा नहीं मिल सकता। जैसा कि कहा है–

निकाचितानीति–निकाचित कर्म तब तक भस्म नहीं होते जब तक कि आगम में कही हुई तप रूपी अग्नि प्रदीप्त नहीं होती।

संस्कृत टीकाकार कहते हैं कि यद्यपि क्षपक सल्लेखनाधारी पुरुष निश्चयनय को जानना चाहता है तो भी उसे पहले प्रमाद रहित होकर इस व्यवहार आराधना की अच्छी तरह उपासना करना चाहिए क्योंकि इसके बिना निश्चयनय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जैसा कि कहा है–

जीवोऽप्रविश्येति–यह जीव व्यवहार मार्ग में प्रवेश किये बिना निश्चय मार्ग को प्राप्त करने की शक्ति को प्राप्त नहीं होता क्योंकि प्रभा के विकास को देखे बिना कौन विवेकी मनुष्य सूर्योदय को कहता है ? कोई नहीं। जिस प्रकार पहले सूर्य की प्रभा का विकास दिखता है, पश्चात् सूर्योदय, इसी प्रकार पहले व्यवहार आराधना का पालन होता है, पीछे निश्चय आराधना का।

तात्पर्य यह है कि भव्य जीव को इस तरह चार आराधनाओं की आराधना करनी चाहिए। यही भाव निम्नांकित पद्य में दिखाते हैं।

---

१. पाक्षिकेण

षोढाभ्यन्तरषड्विधोत्तरतपस्यर्हद्वरैर्भाषिते
शक्तिंस्वामनुपेक्ष्य यो वितनुते चारित्रपानोद्यमम्॥
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भङ्क्त्वा च सम्यक् पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानन्दं पदं विन्दते ॥७॥

व्यवहाराराधनास्वरूपं प्रतिपाद्य निश्चयाराधनास्वरूपं प्रतिपादयति–

सुद्धणये चउखंधं उत्तं आराहणाइ एरिसियं।
सव्ववियप्पविमुक्को सुद्धो अप्पा णिरालंबो ॥८॥

उत्तं प्रोक्तं। किं तत्? **चउखंधं** चतु:स्कंधं चतुर्णां सम्यग्दर्शनादीनां समुदायः। कस्याः? **आराहणाए** आराधनायाः। कस्मिन्? **सुद्धणये** शुद्धनये निश्चयनये। कीदृशमुक्तं? **एरिसियं** ईदृशं। ईदृशमिति कीदृशं? **अप्पा** आत्मा जीवः। कथंभूतः? **सव्ववियप्पविमुक्को** सर्वविकल्पविमुक्तः सर्वे च ते विकल्पाश्च कर्तृकर्मादयस्तैर्विमुक्तः विशेषेण मुक्तो रहितः। पुनः कथंभूतः? शुद्धः कर्ममलकलङ्क-विवर्जितः। पुनरपि कथंभूतः? **णिरालंबो** निरालम्बः पञ्चेन्द्रियविषयसुखाद्यालम्बनरहितः। किन्तु चिच्चमत्कारशुद्धपरमात्म-स्वरूपालम्बन इत्यर्थ इति विशेषः ॥८॥

षोढाभ्यन्तरेति–छह प्रकार के अन्तरंग और छह प्रकार के बाह्य। इस तरह अरहन्त भगवान् के द्वारा कहे हुए बारह तपों में जो अपनी शक्ति की उपेक्षा न कर चारित्ररूपी सुधा के पीने का उद्यम करता है, वह भक्तिपूर्वक दुष्ट कर्मों के समूह को दृढ़ता से नष्ट कर, परमब्रह्म की समीचीन आराधना से सहित तथा आश्चर्यकारी रूप से उदित चिदानन्द-सहजानन्द से युक्त परम पद को प्राप्त होता है ॥७॥

अब व्यवहाराधना का स्वरूप बतलाकर निश्चयाराधना का स्वरूप कहते हैं–

सुद्धणये इति–गाथार्थ–(सुद्धणये) निश्चयनय में **(आराहणाए)** आराधना के **(चउखंधं)** सम्यग्दर्शनादि चार भेदों का समूह **(एरिसियं)** ऐसा **(उत्तं)** कहा गया है कि **(सव्ववियप्पविमुक्को)** समस्त विकल्पों से रहित **(सुद्धः)** शुद्ध और **(णिरालंबो)** बाह्य आलम्बन से रहित **(अप्पा)** आत्मा ही **(आराहणा)** आराधना **(अत्थि)** है ॥८॥

टीका–नय के दो भेद हैं शुद्धनय और अशुद्धनय। शुद्धनय का दूसरा नाम निश्चयनय है और अशुद्धनय का दूसरा नाम व्यवहारनय है। जो पर पदार्थ के सम्बन्ध से रहित तथा स्वकीय गुणपर्यायों से अभिन्न-अखण्ड वस्तु को ग्रहण करता है, वह शुद्धनय अथवा निश्चयनय है और जो परपदार्थ के सम्बन्ध से युक्त और गुण-गुणी के भेद से सहित वस्तु को विषय करता है, वह अशुद्धनय अथवा व्यवहारनय है। व्यवहारनय में गुण-गुणी का भेद रहता है, इसलिए आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चार गुण हैं, तथा आत्मा गुणी है, इस प्रकार का कथन

तस्या निश्चयाराधनाया विशेषमुपदर्शयन्नाह–

सद्दहइ सस्सहावं जाणइ अप्पाणमप्पणो सुद्धं।
तं चिय अणुचरइ पुणो इंदियविसए णिरोहित्ता ॥९॥

सद्दहइ श्रद्दधाति प्रत्येति। कं? **सस्सहावं** स्वस्वभावं शुद्धात्मानं। यदा स्वस्वभावं परमात्मस्वरूपं श्रद्धते तदा दर्शनं भण्यते। पुनः किं करोतीत्याह। **जाणइ** जानाति। कं? **अप्पाणं** आत्मानं। कथंभूतं? **सुद्धं** शुद्धं रागादिमलरहितं। कस्मात् सकाशात्? **अप्पणो** आत्मनः निजात्मस्वरूपात्। यदा तु आत्मनः सकाशात् आत्मानं जानाति तदा ज्ञानं भण्यते। **पुणो** पुनः पश्चात् **तं चिय** तमेव **अणुचरइ** अनुचरति तमेव

होता है। इसी भेद विवक्षा को लक्ष्य में रखकर सम्यग्दर्शनादि चार को चार आराधना कहा है परन्तु निश्चयनय में गुण–गुणी का भेद नहीं रहता है, इसलिए कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण आदि समस्त विकल्पों से रहित, शुद्ध अर्थात् कर्ममलकलंक से रहित और निरालम्ब अर्थात् पञ्चेन्द्रियों के विषय सम्बन्धी सुख आदि के आलम्बन से रहित चैतन्य चमत्कार से युक्त शुद्ध परमात्मस्वरूप के आलम्बन से सहित आत्मा ही आराधना है, ऐसा कथन होता है। संसारी अवस्था में यद्यपि कर्म और नोकर्म के साथ इस जीव का सम्बन्ध हो रहा है और उसके कारण इसके नाना रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तथापि शुद्धनय उन सब परपदार्थों से भिन्न एकरूपता को लिए हुए आत्मा का ही अनुभव करता है। जिस प्रकार कोई रजत, ताम्र तथा पीतल आदि विभिन्न धातुओं के संसर्ग से मिश्रित सुवर्णपिण्ड को किसी चतुर स्वर्णकार के पास बेचने के लिए ले जाते हैं, तो वह चतुर स्वर्णकार उस पिण्ड में जितना स्वर्ण होता है, उसके अनुरूप ही मूल्य बतलाता है, यहाँ स्वर्णकार की दृष्टि सिर्फ स्वर्ण की ओर है, अन्य धातुओं की ओर नहीं। इसी प्रकार शुद्धनय जीव की संयोगी पर्याय में जीव की ओर ही दृष्टि रखता है, अन्य पदार्थों की ओर नहीं ॥८॥

आगे उस निश्चयाराधना का विशेष दिखाते हुए कहते हैं–

सद्दहइ इति–गाथार्थ–निश्चयाराधना में यह जीव **(सस्सहावं)** अपने स्वभावरूप शुद्धात्मा का **(सद्दहइ)** श्रद्धान करता है, **(अप्पणो)** अपने आप में **(शुद्धं अप्पाणं)** शुद्ध आत्मा को **(जाणइ)** जानता है **(पुणो)** और **(इंदियविसए)** इन्द्रिय विषयों को **(णिरोहिता)** संकुचित कर **(तं चिय)** उसी शुद्ध आत्मा में **(अणुचरइ)** अनुचरण करता है–उसी में लीन होता है ॥९॥

टीका–श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण के भेद से आत्मा की त्रिविध परिणति होती है। इसी को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहते हैं। व्यवहाराधना में यह आत्मा जीव–अजीव आदि सात तत्त्वों का श्रद्धान करता था, परन्तु निश्चयाराधना में उसकी दृष्टि उन सात तत्त्वों से हटकर अपने शुद्ध स्वभाव पर टिकती है, इसलिए निश्चयाराधना में शुद्ध आत्म–स्वभाव का श्रद्धान

शुद्धात्मानमनुचरति पुनः पुनराचरति अनुतिष्ठतीत्यर्थः। यदा तु तमेव शुद्धपरमात्मानमनुचरति तदा चारित्रं भण्यते। किं कृत्वा? **णिरोहित्ता** निरुध्य। कान्? **इंदियविसए** इन्द्रियविषयान् पञ्चेन्द्रियाणां विषया गोचराः सप्तविंशतिसंख्याताः, तत्र स्पर्शनेन्द्रियस्य अष्टौ विषया भवन्ति। ते के? गुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णमृदुकर्कश-लक्षणाः। रसनायाः कटुकतीक्ष्णमधुराम्लक्षाराः पञ्च। घ्राणस्य सुगन्धदुर्गन्धौ। चक्षुषोः श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णाः

करना सम्यग्दर्शन है। व्यवहाराधना में जीवादि सात तत्त्वों को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाता था, परन्तु निश्चयाराधना में उसका लक्ष्य अन्य पदार्थों से हटकर स्वरूप पर ही केन्द्रित हो जाता है, इसलिए निश्चयाराधना में अपने शुद्ध स्वभाव को जानना सम्यग्ज्ञान है। व्यवहाराराधना में महाव्रत, समिति तथा गुप्ति के पालन में उपयोग जाना था परन्तु निश्चयाराधना में इन्द्रिय विषयों से इस आत्मा का उपयोग हटकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर होने लगता है, इसलिए उसी शुद्ध स्वरूप में स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। इसी प्रकार व्यवहाराराधना में अनशनादि बाह्य तपों तथा प्रायश्चित्तादि अन्तरंग तपों में इच्छाएँ केन्द्रित होती थीं, परन्तु निश्चयाराधना में इच्छाएँ उनसे निवृत्त होकर शुद्ध स्वरूप में ही केन्द्रित हो जाती हैं, इसलिए निश्चयाराधना में आत्म स्वरूप के प्रतपन को ही सम्यक् तप कहते हैं। आठवीं गाथा में निश्चयाराधना का वर्णन करते हुए कहा था कि सब विकल्पों से रहित, रागादिमल से शून्य और इन्द्रिय विषयों के आलम्बन से रहित आत्मा ही आराधना है। उसी का समर्थन करते हुए इस गाथा में कहा गया है कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप रूप किस प्रकार होता है। वास्तव में श्रद्धान करना, जानना, अनुचरण करना और प्रतपन करना ये आत्मा की ही विशिष्ट परिणतियाँ हैं, इसलिए इन विशिष्ट परिणतियों की ओर से जब दृष्टि हटकर परिणतिमान आत्मा की ओर आती है, तब एक आत्मा का ही भान होता है। जिस प्रकार वायु का संसर्ग पाकर जल में तरंग, बुदबुदा आदि अनेक परिणतियाँ होती हैं और उन परिणतियों के कारण जल अनेक रूप प्रतिभासित होता है परन्तु उन विशिष्ट परिणतियों से जब दृष्टि हटकर सामान्य जल की ओर जाती है, तब एक जल ही जल दिखाई देता है। निचली अवस्था में एक मोहजन्य चञ्चलता के कारण इस जीव का उपयोग इन्द्रियों के विषयों में जाता है, परन्तु जैसे–जैसे मोहजन्य चञ्चलता को कम करता हुआ यह जीव उच्च अवस्था को प्राप्त होता जाता है, वैसे–वैसे ही इसका उपयोग इन्द्रियों के विषयों से हटकर स्वरूप में ही स्थिर होने लगता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के भेद से इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की हैं। इनमें स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श है। स्पर्श आठ प्रकार का होता है–१. गुरु, २. लघु, ३. स्निग्ध, ४. रूक्ष, ५. शीत, ६. उष्ण, ७. मृदु और ८. कर्कश। रसना इन्द्रिय का विषय रस है। रस पाँच प्रकार का होता है–१. कड़वा, २. चरपरा, ३. मीठा, ४. खट्टा और ५. खारा। अन्य ग्रन्थों में खारा के बदले कषाय रस को लिया है तथा खारा को मीठा के अंतर्गत किया है। यहाँ कषाय रस को खट्टा के अन्तर्गत कर खारा को पृथक् रस बताया गया है। घ्राण इन्द्रिय

पञ्च। श्रोत्रस्य निषादर्षभगांधारषड्जमध्यमधैवतपञ्चमलक्षणाः सप्त स्वरा इति सर्वे मिलित्वा सप्तविंशतिविषया भवन्ति तानिन्द्रियविषयान्निरुध्य संकोच्य। एतेन तपोऽप्यात्मैवेत्युक्तं स्यात् ॥९॥

इदमेव दर्शयति–

तम्हा दंसण णाणं चारित्तं तह तवो य सो अप्पा।
चइऊण रायदोसे आराहउ सुद्धमप्पाणं॥१०॥

भवतीत्यध्याहार्य व्याख्यायते। भवति। कोसौ? **सो अप्पा** सः पूर्वोक्तः विश्वविख्यातो वा आत्मा। किं भवतीत्याह। **दंसण णाणं चरित्तं तह तवो य** दंसणेति प्राकृतत्वादनुस्वारलोपः। दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तथा तपश्च तस्माद्दर्शनज्ञानचारित्रतपोमयकारणात् क्षपकः **आराहउ** आराधयतु। कं? **अप्पाणं** आत्मानं कथंभूतं? शुद्धं रागादिमलमुक्तं। किं कृत्वा? **चइऊण** त्यक्त्वा परित्यज्य। कौ? रायदोसे रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तौ रागद्वेषौ–

''णवि तं कुणइ अमित्तो सुट्ठुवि सुविराहिओ समत्थोवि।
जं दोसं अणिगाहिय करंति रागो य दोसो य॥''

का विषय गन्ध है। गन्ध के दो भेद हैं–१. सुगन्ध, २. दुर्गन्ध। चक्षु का विषय रूप है। रूप के पाँच भेद हैं–१. सफेद, २. पीला, ३. लाल, ४. नीला और ५. काला। श्रोत्र इन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द सात स्वरों में विभक्त है–१. निषाद, २. ऋषभ, ३. गान्धार, ४. षड्ज, ५. मध्यम, ६. धैवत और ७. पञ्चम। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषय मिलकर सत्ताईस होते हैं। इन सबसे अपना उपयोग हटाकर आत्म–स्वरूप में स्थिर करना चाहिए। यद्यपि गाथा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की चर्चा की गई है सम्यक् तप की नहीं तो भी इन्द्रिय विषयों को संकुचित करने का जो उल्लेख है, उससे सम्यक् तप का ग्रहण समझना चाहिए। इन्द्रिय विषय सम्बन्धी इच्छाओं का निरोध होना सम्यक् चारित्र का ही अंग है। अतः इसकी चर्चा सम्यक् चारित्र की चर्चा में ही गर्भित हो जाती है ॥९॥

यही दिखाते हैं–

तम्हा इति–गाथार्थ–(तम्हा) इसलिए **(दंसण णाणं चरित्तं तह तयो य)** दर्शन ज्ञान, चारित्र और तप **(सो अप्पा)** वह आत्मा ही है। अतएव **(रायदोसे)** राग और द्वेष को **(चइऊण)** छोड़कर **(सुद्धमप्पाणं)** शुद्ध आत्मा की **(आराहउ)** आराधना करो ॥१०॥

टीका–दंसण यहाँ पर प्राकृत होने से अनुस्वार का लोप हो गया है। अतः दंसणं–दर्शनं ऐसा पद समझना चाहिए। अभेदनय की अपेक्षा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चारों शुद्ध आत्मा ही हैं, अतः क्षपक को चाहिए कि वह राग और द्वेष को छोड़कर शुद्ध–रागादिक मल से रहित आत्मा की आराधना करे। ये राग–द्वेष आत्मा के अत्यन्त अहितकारी दोष हैं, जैसा कि कहा गया है–

स आत्मा दर्शनज्ञानचारित्रतपोमयः कथमिति चेदुच्यते। यदायमात्मा तं परमात्मानं श्रद्दधाति तदा दर्शनं, यदा जानाति तदा ज्ञानं, यदानुचरति तदा चारित्रं, यदा परद्रव्याभिलाषं परिहरति तदा तपः॥ यदुक्तम्–

''विशुद्धे स्वस्वभावे यच्छ्रद्धानं शुद्धिबुद्धितः।
तन्निश्चयनये सम्यग्दर्शनं मोक्षसाधनम्॥''
''आत्मानमात्मसम्भूतं रागादिमलवर्जितम्।
यो जानाति भवेत्तस्य ज्ञानं निश्चयहेतुजम्॥''
''तमेव परमात्मानं पौनःपुन्यादयं यदा।
अनुतिष्ठेत्तदा त्वस्य जातं चारित्रमुत्तमम्॥''
''परद्रव्येषु सर्वेषु यदिच्छाया निवर्त्तनम्।
ततः परममात्मानं तन्निश्चयनयस्थितैः॥''

इति निश्चयाराधनास्वरूपं परिज्ञाय क्षपकेण संसारशरीरभोगेभ्यो विरज्य शुद्धात्मस्वरूपमेवाराधनीय-मिति तात्पर्यार्थः ॥१०॥

णवीति–अच्छी तरह अपमानित समर्थ शत्रु भी वह दोष नहीं करता है जो स्वच्छन्दता से प्रवृत्त होने वाले राग और द्वेष करते हैं।

यदि कोई यह आशंका करे कि वह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप स्वरूप किस प्रकार होता है तो उसका समाधान यह है कि जब यह आत्मा उस परमात्मा का श्रद्धान करता है, तब दर्शन रूप होता है। जब उसे जानता है, तब ज्ञान रूप होता है। जब आत्मा में अनुचरण करता है अर्थात् आत्मा में लीन होता है तब चारित्र रूप होता है और जब परद्रव्य की अभिलाषा को छोड़ता है तब तपस्वरूप होता है। जैसा कि कहा है–

विशुद्ध इति–निर्मल बुद्धि से विशुद्ध निर्मल आत्मस्वभाव का जो श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, निश्चयनय से वही मोक्ष का साधन सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आत्मानमिति–रागादिक मल से रहित स्वयं संभूत आत्मा को जो जानता है, उसका वह जानना निश्चयनय से उत्पन्न सम्यग्ज्ञान है।

तमेवेति–जब यह आत्मा बार–बार उसी परमात्मा–उत्कृष्ट आत्मस्वरूप में लीन होता है, तब इसकी वह लीनता सम्यक् चारित्र कही जाती है।

परद्रव्येष्विति–समस्त पर–द्रव्यों से जो इच्छा की निवृत्ति है, वह उत्कृष्ट तप है। इस तरह निश्चयनय में स्थित पुरुष आत्मा को ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप जानते हैं।

इस प्रकार निश्चयाराधना का स्वरूप जानकर क्षपक को संसार शरीर और भोगों से विरक्त होकर शुद्ध आत्म–स्वरूप की ही आराधना करनी चाहिए। यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥१०॥

ननु भगवन् निश्चयाराधनायामात्मस्वरूपे आराधिते आराधनाराध्याराधकफलमिति चत्वारो भेदाः कथं घटन्त इति पृष्टः स्पष्टमाचष्टे आचार्यः–

आराहणमाराहं आराहय तह फलं च जं भणियं।
तं सव्वं जाणिज्जो अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥११॥

हे क्षपक! **जाणिज्जो** जानीहि। किं तत्? **तं सव्वं** तत्सर्वं पूर्वोक्तं निखिलं। कं? **अप्पाणं चेव** आत्मानमेव शुद्धात्मानमेव। कस्मात्? **णिच्छयदो** निश्चयतः परमार्थतः। तत् किमित्याह। **जं भणियं** यद्भणितं यत् उक्तं। किं स्वरूपं? **आराहणं आराहं आराहय तह फलं** च आराधनं सम्यग्दर्शनादि-चतुष्टयोद्योतनोपायरूपं, आराध्यं सम्यग्दर्शनादिकं, आराधकः पुरुषविशेषः क्षपकः, तथा फलं च सकलकर्मप्रक्षयो मोक्षः संवरनिर्जरे च, चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। कथमिति चेत्? आराधनं उद्योतनोपायरूपः स एवात्मा जीवः, आराध्यं च तदेव परमात्मस्वरूपं, आराधकश्च स एव जीवः, फलं च यस्मिन् काले तस्यैव परमात्मस्वरूपस्योपलब्धिः स्यात्तदेव फलमिति भावार्थः। तथा च–

आराध्यश्चित्स्वरूपो यदयमयमुपायायितस्तस्य सम्यग्-
बोधे चाराधनं च स्फुटं तदनुचरीभूत आराधकोऽयम्।

अब कोई शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! निश्चयाराधना में जब एक आत्मस्वरूप की ही आराधना होती है, तब आराधना, आराध्य, आराधक और आराधना का फल ये चार भेद किस प्रकार घटित होते हैं ? इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं–

आराहणमिति–गाथार्थ–(आराहण) आराधना **(आराहं)** आराध्य **(आराहय)** आराधक **(तह)** तथा **(फलं च)** आराधना का फल **(जं)** जो **(भणियं)** कहा गया है **(तं सव्वं)** उस सबको **(णिच्छयदो)** निश्चय से **(अप्पाणं चेव)** आत्मा ही **(जाणिज्जो)** जानो ॥११॥

टीका–सम्यग्दर्शनादि चारों को उद्योत रूप करने का जो उपाय है, वह आराधना है, सम्यग्दर्शनादिक आराध्य हैं, सल्लेखना में स्थित पुरुष विशेष आराधक है और समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष तथा संवर और निर्जरा यह आराधना का फल है। यहाँ उद्योत करने का उपाय रूप जो आराधना है, वह निश्चय से आत्मा ही है। सम्यग्दर्शनादिक आराध्य आत्मा ही है। आराधना करने वाला आराधक जीव वही आत्मा है और जिस काल में परमात्मस्वरूप की उपलब्धि होती है, उस काल में वही आत्मा आराधना का फल है। इस प्रकार गुणगुणी में अभेददृष्टि से जब कथन होता है, तब एक आत्मा ही आराधना, आराध्य, आराधक और आराधना का फल इन चारों रूप में होता है। यही भाव आगामी पद्य में प्रकट करते हैं–

आराध्य इति–चैतन्य स्वरूप यह आत्मा ही आराध्य है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में उपायस्वरूप यह आत्मा ही आराधना है, उसी आत्मस्वरूप में अनुचरण करने वाला यह आत्मा ही स्पष्टरूप से

कर्मप्रध्वंसभावाच्छिवपदमयितोयं च काम्यं फलं तत्
ह्याराध्याराधनाराधकफलमखिलं प्रोक्तम् आत्मैक एव ॥११॥

ननु निश्चयाराधनायां सत्यां किमनया व्यवहाराराधनया साध्यमिति वदन्तं प्रत्याह–

पज्जयणयेण भणिया चउव्विहाराहणा हु जा सुत्ते।
सा पुणु कारणभूदा णिच्छयणयदो चउक्कस्स ॥१२॥

हे क्षपक! भणिया भणिता। कासौ? **जा आराहणा** या आराधना। क्व? **सुत्ते** सूत्रे परमागमे। केन कारणभूतेन? **पज्जयणयेण** पर्यायनयेन पर्यायो भेदः स चासौ नयश्च तेन पर्यायनयेन। कथंभूता? **चउव्विहा** चतुर्विधा चतस्रो विधाः प्रकारा यस्याः सा चतुर्विधा दर्शनज्ञानचारित्रतपोरूपा। कथं? हु खलु **सा** पुणु सा पुनः। अत्र पुनःशब्द एवार्थे अव्ययानामनेकार्थत्वात्। ततः सैव आराधना **कारणभूदा** कारणभूता हेतुरूपा। कस्य? चउक्कस्स चतुष्कस्य आराधनाचतुष्कस्य। कस्मात्? णिच्छयणयदो निश्चयनयतः शुद्धनयात्, अर्थात् संमीलिते तु निश्चयनयाराधनाचतुष्कस्य। ननु चतुष्कस्य इत्युक्ते आराधनापदं कुतो लभ्यते? प्रसङ्गत्वात्। अत्र तावदाराधनायाः प्रसङ्गः पूर्वोक्तत्वात्। तथाहि कश्चिद्भव्यः प्राथमिकावस्थायां निश्चयाराधनायां स्थितिमलभमानस्तावद्व्यवहाराराधनामाराधयति, पश्चान्मनसो दाढर्यं प्राप्य क्रमेण निश्चयाराधनामाराधय-तीत्यभिप्रायः॥१२॥

आराधक है और कर्म क्षय के कारण मोक्ष पद को प्राप्त हुआ यह आत्मा ही आराधना का अभीष्ट फल है। इस तरह निश्चय से आराध्य, आराधना, आराधक और आराधना का फल सब कुछ एक आत्मा ही कहा गया है ॥११॥

आगे कोई शिष्य आशंका करता है कि निश्चयाराधना के रहते हुए इस व्यवहाराराधना से क्या साध्य है? ऐसी आशंका करने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

पज्जयणयेणोति–गाथार्थ–(हु) निश्चय से **(सुत्ते)** परमागम में **(पज्जयणयेण)** भेदनय से **(जा)** जो **(चउव्विहाराहणा)** चार प्रकार की आराधना **(भणिया)** कही गई है। **(सा पुणः)** वही आराधना **(णिच्छयणयदो चउक्कस्स)** निश्चयनय से कही जाने वाली चार आराधनाओं का **(कारणभूदा)** कारण **(अत्थि)** है ॥१२॥

टीका–पर्यायनय का अर्थ भेदनय है, इसे ही व्यवहारनय कहते हैं। इस व्यवहारनय की अपेक्षा जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के भेद से चार प्रकार की आराधना पहले कही गई है, वह निश्चयनय से कही जाने वाली चार आराधनाओं का कारण है। इसलिए निश्चयाराधना का कारण होने से व्यवहाराराधना सार्थक है। कोई भव्य प्राथमिक अवस्था के कारण निश्चयाराधना में स्थिरता को प्राप्त नहीं हो रहा है, इसलिए वह पहले व्यवहाराराधना की ओर आराधना करता है, पीछे मन की दृढ़ता को प्राप्त कर निश्चयाराधना की आराधना करता है, यहाँ ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए ॥१२॥

ननु भगवन् क्षपकः कथं भवं मुञ्चतीति पृष्टे सत्याचार्य आह–

कारणकज्जविभागं मुणिऊण कालपहुदिलद्धीए।
लहिऊण तहा खवओ आराहउ जह भवं मुवइ ॥१३॥

आराधयतु ध्यायतु। कोसौ? **खवओ** क्षपकः। कं? अर्थात् परमात्मानमेव। कथं? **तहा** तथा तेन प्रकारेण **जह** यथा येन प्रकारेण **मुवइ** मुञ्चति त्यजति। कं? **भवं** संसारं। किं कृत्वाराधयतीत्याह। **मुणिऊण** मत्त्वा ज्ञात्वा। कं? **कारणकज्जविभागं** कारणकार्यविभागं विभजनं विभागः, कारणं च कार्यं च कारणकार्ये तयोर्विभागः कारणकार्यविभागस्तं कारणकार्यविभागं। कारणकार्ये हि पूर्वोत्तरगुण-वैशिष्ट्यापेक्षयोत्पद्येते यथा कारणं व्यवहाराराधना, कार्यरूपनिश्चयाराधनाया उत्पादकत्वात्। कार्यं निश्चयाराधना, कारणरूप-व्यवहाराराधनाया उत्पाद्यत्वात्। तथा कारणं निश्चयाराधना, कार्यरूप-मोक्षस्योत्पादकत्वात्। कार्यं मोक्षः कारणरूपनिश्चयाराधनाया उत्पाद्यत्वात्। तथा कारणं मोक्षः, कार्यरूपानन्त-चतुष्टयस्वरूपशुद्ध-परमात्मोत्थातीन्द्रियानन्तसुखस्योत्पादकत्वात्। न केवलं कारणकार्यविभागं ज्ञात्वा।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! क्षपक संसार को किस प्रकार छोड़ता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य समाधान करते हैं–

कारणकज्जेति–गाथार्थ–(कारणकज्जविभागं) कारण और कार्य के विभाग को **(मुणिऊण)** जानकर तथा **(कालपहुदि लद्धीए)** काल आदि लब्धियों को **(लहिऊण)** प्राप्त कर **(खवओ)** क्षपक **(तहा)** उस प्रकार **(आराहऊ)** आराधना करे **(जह)** जिस प्रकार **(भवं)** संसार को **(मुवइ)** छोड़ सके ॥१३॥

टीका–आचार्य क्षपक को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे क्षपक! तू कारण और कार्य के विभाग को जानकर तथा काल आदि लब्धियों को प्राप्त कर, उस प्रकार आराधना कर जिस प्रकार कि संसार से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सके। कार्य की सिद्धि के लिए कारण कार्य भाव का समझना तथा कालादिलब्धियों का प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ कारण कार्य भाव से निमित्त कारण और कालादि लब्धियों की प्राप्ति की अपेक्षा उपादान कारण का उल्लेख आचार्य ने किया है। कारण कार्य भाव पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती गुणों की अपेक्षा बनता है। पूर्ववर्ती गुण कारण होता है और उत्तरवर्ती गुण कार्य होता है। इस अपेक्षा से पूर्ववर्ती गुण की अपेक्षा जो कार्य होता है वह उत्तरवर्ती गुणों की अपेक्षा कारण भी होता है तथा जो उत्तरवर्ती गुण की अपेक्षा कारण है वह पूर्ववर्ती गुण की अपेक्षा कार्य भी होता है, जैसे व्यवहाराराधना कारण है क्योंकि वह कार्य रूप निश्चयाराधना का उत्पादक है। निश्चय आराधना कार्य है क्योंकि वह कारण रूप व्यवहार आराधना से उत्पन्न होने योग्य है, इसी तरह निश्चय आराधना कारण है क्योंकि कार्यरूप मोक्ष का उत्पादक है और मोक्ष कार्य है क्योंकि वह कारणरूप निश्चयाराधना से उत्पन्न होने योग्य है। इसी तरह मोक्ष कारण है

किं च **लहिऊण** लब्ध्वा प्राप्य। का? **कालपहुदिलद्धीए** कालप्रभृतिलब्धीः कालादिलब्धी:? ननु कारणकार्यविभागे ज्ञाते किमेताभिः कालप्रभृतिलब्धिभिः। मैवं वादीः। कारणकार्यविभागज्ञाः कालप्रभृतिलब्धिः, कारणद्वयसाध्यस्य मोक्षकार्यस्यान्यथानुपपत्तेः इति वदन्ति। यदुक्तम्–

''कारणद्वयसाध्यं न कार्यमेकेन जायते।
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित्॥''

यदा क्षपकः क्षपितकर्मा भव्यः कारणकार्यविभागं ज्ञात्वा कालप्रभृतिलब्धीश्च लब्ध्वा शुद्धपरमात्मान-माराधयति तदा सकलकर्मप्रक्षयं कृत्वा मोक्षं गच्छतीत्यभिप्रायः ॥१३॥

ननु यद्यात्मानमाराधयितुं न लभते जीवस्तदा किं करोतीत्याशङ्कयाह–

जीवो भमइ भमिस्सइ भमिओ पुव्वं तु णरयणरतिरियं।
अलहंतो णाणमईं अप्पाआराहणां णाउं ॥१४॥

क्योंकि वह कार्यरूप अनंतचतुष्टय स्वरूप परमात्मा से उत्पन्न होने वाले इन्द्रियातीत अनंतसुख का उत्पादक है। तथा इन्द्रियातीत अनंतसुख कार्य है क्योंकि वह कारण रूप मोक्ष से उत्पन्न होने के योग्य है। कार्य की सिद्धि के लिए न केवल कारण-कार्य भाव का ज्ञान अपेक्षित है किन्तु कालादि लब्धियों का प्राप्त होना भी अपेक्षित है। यहाँ कालादि लब्धियों से उपादान की योग्यता का कथन है। जब तक उपादान की योग्यता नहीं होती, तब तक बाह्य निमित्त कार्योत्पत्ति में सहायक नहीं होते। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि कारण कार्य के विभाग को जान लिया तब इन कालादि लब्धियों की क्या उपयोगिता है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ऐसा मत कहो क्योंकि कालादिलब्धि कारण कार्य के विभाग को जानती है। अन्यथा उपादान और निमित्त दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला मोक्षरूपी कार्य दूसरी तरह से सिद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष के लिए निकट भव्यता आदि उपादान कारण और मनुष्य पर्याय तथा व्यवहाराराधनादि रूप निमित्त कारण–दोनों की अपेक्षा रहती है। जैसा कि कहा है–

कारणेति–दो कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य एक कारण से उत्पन्न नहीं होता। स्त्री–पुरुष के युगल से उत्पन्न होने वाला पुत्र क्या कहीं अकेले स्त्री या पुरुष से उत्पन्न होता है?

तात्पर्य यह है कि कर्मों का क्षय करने वाला भव्य क्षपक जब कारण कार्य के विभाग को जानकर तथा कालादि लब्धियों को प्राप्त कर शुद्ध परमात्मा की आराधना करता है तब समस्त कर्मों का क्षयकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥१३॥

आगे यदि यह जीव आत्माराधना को नहीं प्राप्त होता है तो क्या करता है, ऐसी आशंका उठाकर आचार्य कहते हैं–

जीवोइति–गाथार्थ–(णाणमईं) ज्ञानमयी **(अप्पाआराहणा)** आत्माराधना को **(णाउं)** जानने के लिए **(अलहंतो)** नहीं प्राप्त करने वाला **(जीवो)** जीव **(पुव्वं तु)** पहले **(णरयणर–**

भमइ भ्रमति। कोऽसौ? **जीवो** जीवः वर्तमानकालापेक्षया चतुर्गतिसंसारं पर्यटति तथा भविष्यत्काला-पेक्षया **भमिस्सइ** भ्रमिष्यति पर्यटिष्यति। ननु कथं भ्रमति भ्रमिष्यतीति संभाव्यते? तदेवाह। **पुव्वं तु** पूर्वं तु **भमिओ भ्रांतः**। यदि पूर्वं भ्रान्तो नाभविष्यत् तदा वर्तमानं भाव्यं च भ्रमणं ना करिष्यत्। पूर्वं भ्रान्तश्चायं तस्मात् वर्तमाने भाविनि काले च भ्रमणं सिद्धमेवास्य। अलमतिविस्तरेण। यदुक्तम्–

''कालास्त्रयोप्यतीताद्या स्तानपेक्ष्य मिथोप्यमी।
प्रवर्तेरन् यतो नैकः केवलं क्वापि दृश्यते॥''

क्व? **णरयणरतिरियं** नरकनरतिर्यग्गतौ अर्थादनुक्तोऽपि गतिशब्दो लभ्यते सुखावबोधार्थं। यद्वा शब्दस्य लाक्षणिकत्वादपि, ''यथा गङ्गायां घोष, इत्युक्ते तटो लभ्यते तथा नरक इत्युक्ते नरकगतिः, नर इत्युक्ते नरगतिः, एवं सर्वत्र उपलक्षणाद्देवगतौ च। किं कुर्वाणः? **अलहंतो** अलभमानः अप्राप्नुवन्। कां? **अप्पा आराहणं** आत्माराधनां शुद्धात्मध्यानं। किं कर्तुं? **णाउं** ज्ञातुं **मंतुं** अनुभवितुमित्यर्थः। कथंभूतामात्माराधनां? णाणमईं ज्ञानमयीं चिन्मयीं। अनादिकाले हि अयं जीवः अनन्तज्ञानमयनिश्चयाराधनालक्षणं परमात्मस्वरूपमलभमानः सन् संसाराटव्यां भ्रान्तः भ्रमति भ्रमिष्यति च इति मत्वा क्षपकेण निजशुद्धात्म-स्वरूपमाराधनीयमिति भावार्थः ॥१४॥

तिरियं) नरक, मनुष्य, तिर्यञ्च और देव गति में **(भमिओ)** भटका है **(भमइ)** वर्तमान में भटक रहा है और **(भमिस्सइ)** आगे भटकेगा ॥१४॥

टीका—आत्माराधना को न पाता हुआ यह जीव अनादिकाल से नरकादिगतियों में पहले भटका है। यदि पहले नहीं भटका होता तो वर्तमान और भविष्यत् काल में भी नहीं भटकता। यतश्च यह जीव पूर्वकाल में भटका है, इसलिए वर्तमान और भविष्यत्काल में भी इसका भटकना सिद्ध है। अधिक विस्तार से क्या लाभ है ? जैसा कि कहा गया है–

कालाइति—अतीत आदि तीन काल हैं। ये काल परस्पर उनकी अपेक्षा कर प्रवृत्ति करते हैं क्योंकि केवल एक काल कहीं भी दिखाई नहीं देता।

गाथा में यद्यपि नरक, नर और तिर्यञ्च कहा है तथापि बिना कहे हुए भी गति शब्द आ जाता है क्योंकि गति शब्द से नरकादि अवस्थाओं का सुख से, सरलता से ज्ञान हो जाता है। अथवा शब्द लाक्षणिक भी होते हैं, इसलिए जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' ऐसा कहने पर गंगा शब्द से गंगा तट का बोध होता है, उसी प्रकार नरक कहने से नरक गति, नर कहने से मनुष्य गति, तिर्यञ्च कहने से तिर्यग्गति और उपलक्षण से देवगति का बोध होता है। ज्ञानमयी आत्माराधना के बिना ही यह जीव चतुर्गतियों में भटकता है। ज्ञानमयी आत्माराधना की प्राप्ति होने पर इस जीव का चतुर्गति भ्रमण दूर हो जाता है। गाथा का भावार्थ यह है कि अनादिकाल से यह जीव, अनन्त ज्ञानमय निश्चयाराधना लक्षण परमात्म स्वरूप को नहीं प्राप्त करता हुआ संसाररूपी अटवी में भटका है, वर्तमान में भटक रहा है और भविष्यत्काल में भटकेगा। ऐसा जानकर क्षपक को निज शुद्ध आत्मस्वरूप की आराधना करनी चाहिए ॥१४॥

ननु भगवन् पूर्वं किं विधाय सा निश्चयाराधनाराधनीयेति पृष्टे आचार्य अनुशास्ति–

संसारकारणाइं अत्थि हु आलंबणाइ बहुयाइं।
चइऊण ताइं खवओ आराहओ अप्पयं सुद्धं॥१५॥

अत्थि अस्तीत्यव्ययक्रियापदं संत्यर्थे बह्वर्थं प्रतिपादयति। उक्तं च–

"[1]**सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु-सर्वासु च विभक्तिषु।**
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययमिति।"

अस्ति सन्ति। कानि। **आलंबणाइ** आलंबनानि स्रक्चन्दनवनितागीतनृत्यवादित्रादीनि। **बहुयाइं** बहुकानि प्रचुराणि। कथंभूतानि? **संसारकारणाइं** संसारकारणानि नरकतिर्यग्मनुष्यदेव-चतुर्गतिनिबद्धस्य संसारस्य कारणानि हेतुभूतानि। कथं? **हु** निश्चितं **ताइं** तानि आलंबनानि **चइऊण** त्यक्त्वा **आराहउ** आराधयतु। कोसौ? **खवओ** क्षपकः। कं? अप्पाणं आत्मानं किं विशिष्टं। **सुद्धं** रागादिमलमुक्तं। अनादिकाले हि स्रक्चन्दनवनितागीत-नृत्याद्यनेकविध-पञ्चेन्द्रिय-विषयसुखाभिलाषुकेण निजशुद्धात्मोत्पन्नातींद्रियसुखात्पराङ् मुखेन जीवेन संसाराटव्यां पर्यटितं संप्राप्तं संसारशरीरभोगवैराग्यभावनाबलेन तानि विषयसुखानि निरस्य निश्चयाराधनारूपं निजपरमात्म-तत्त्वमाराधनीय-मिति भावार्थः ॥१५॥

आगे शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! पहले क्या करके उस निश्चयाराधना की आराधना करनी चाहिए, ऐसा पूछे जाने पर आचार्य कहते हैं–

संसारेति–गाथार्थ–(हु) निश्चय से **(संसारकारणाइं)** संसार के कारणभूत **(बहुयाइं)** बहुत से **(आलंबणाइं)** आलम्बन **(अत्थि)** हैं **(खवओ)** क्षपक **(ताइं)** उन्हें **(चइऊण)** छोड़कर **(सुद्धं)** शुद्ध **(अप्पय)** आत्मा की **(आराहओ)** आराधना करे ॥१५॥

टीका–मूल गाथा में जो अत्थि (अस्ति) क्रिया पद है, वह विभक्ति तिङ् पूर्वक अव्यय है तथा इस 'सन्ति' बहुवचन के अर्थ को प्रकट करता है। जैसा कि अव्यय का लक्षण कहा गया है।

सदृशमिति–जो तीनों लिंगों में समान हो तथा सब विभक्तियों और सब वचनों में व्यय को प्राप्त न हो अर्थात् जिसके रूप में परिवर्तन न हो, उसे अव्यय कहते हैं।

माला, चन्दन, स्त्री, गीत, नृत्य तथा वादित्र आदि बहुत से आलम्बन चतुर्गति रूप संसार के कारण हैं, इसलिए सल्लेखना के धारक क्षपक को चाहिए कि वह इन सबका त्याग कर अर्थात् उनकी ओर से अपना उपयोग हटाकर शुद्ध आत्मा का ध्यान करे। क्षपक ऐसी भावना करता है कि अनादिकाल से माला, चन्दन, स्त्री, गीत, नृत्य आदि अनेक प्रकार के पञ्चेन्द्रियों सम्बन्धी विषय सुख की अभिलाषा रखने वाले तथा स्वकीय शुद्ध आत्मा से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख से विमुख रहने वाले इस जीव ने संसार रूपी अटवी में परिभ्रमण प्राप्त किया है इसलिए मुझे संसार शरीर और भोगों से विरक्त होना चाहिए। इस प्रकार की भावना के बल से उन विषय सुखों को छोड़कर निश्चयाराधनारूप निज परमात्मतत्त्व की आराधना करनी चाहिए ॥१५॥

१. लघुसिद्धानाकौमुद्याम्।

ननु निश्चयाराधनैव मोक्षसाधिका किमनया भिन्नया चतुर्विधया व्यवहाराराधनया साध्यमिति वदन्तं प्रत्याह;–

भेयगया जा उत्ता चउव्विहाराहणा मुणिंदेहिं।
पारंपरेण सावि हु मोक्खस्स य कारणं हवइ ॥१६॥

हवइ भवति। किं? **कारणं** कार्यस्य साधनं कारणमित्युच्यते। कस्य? **मोक्खस्स** मोक्षस्य कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षस्वरूपस्य च। पुनः का? **सावि** सापि। सापीति का? **चउव्विहाराहणा** चतुर्विधाराधना चतस्रो विधाः प्रकारा यस्याः सा चतुर्विधा चतुर्विधासावाराधना च चतुर्विधाराधना सम्यग्दर्शनादि-चतुष्टयोद्योतनोपाय-स्वरूपा चतुर्विधाराधनैव। का? या। किं कृत्वा? **उत्ता** उक्ता प्रतिपादिता। कैः? **मुणिंदेहिं** मुनीन्द्रैः मुनीनामिन्द्रा मुनीन्द्राः सर्वज्ञास्तैः मुनीन्द्रैः। किंविशिष्टा? **भेयगया** भेदगता सम्यग्दर्शनादीन् चतुरो भेदान् गता प्राप्ता हु खलु स्फुटं। केन? करणेन भूतेन मोक्षस्य कारणं भवति? **पारंपरेण** पारम्पर्येण अनुक्रमेण। कुतः? यथा निश्चयाराधना साक्षान्मोक्षफलरूपकार्यसाधिका भवति तथैव या न भवति किन्तु बीजत्वात्। बीजो हि क्रमेण वृक्षफलत्वापन्नो दृष्टः। कश्चिद्भव्यजीवः काललब्धिं समवाप्य कर्मणः क्षयोपशमत्वात् गुरुचरणकमल-समीपं संप्राप्योपदेशं लब्ध्वा आराधयितुं प्रवृत्तः प्रथमं भेदाराधनया अभ्यासं विधाय पश्चादभेदेन परमात्मानं

आगे कोई शिष्य कहता है कि निश्चयाराधना ही मोक्ष की साधक है, इसलिए चार प्रकार की इस व्यवहाराराधना से क्या प्रयोजन है? ऐसा कहने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

भेयगयेति–गाथार्थ–(मुणिंदेहिं) मुनिराजों के द्वारा **(भेयगया)** भेद को प्राप्त हुई **(जा)** जो **(चउव्विहाराहणा)** चार प्रकार की आराधना **(उत्ता)** कही गई है **(हु)** निश्चय से **(सावि)** वह भी **(पारंपरेण)** परम्परा से **(मोक्खस्स य)** मोक्ष का **(कारणं)** कारण **(हवइ)** होती है ॥१६॥

टीका–कार्य की सिद्धि जिससे होती है, उसे कारण कहते हैं। समस्त कर्मों का सदा के लिए बिल्कुल छूट जाना मोक्ष कहलाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक तप इन चार को उद्योतरूप करने का जो उपाय है, वही चार प्रकार की आराधना है। बड़े–बड़े मुनियों ने व्यवहारनय का आश्रय कर जो चार प्रकार की आराधना का कथन किया है, वह निरर्थक नहीं है, वह भी परम्परा से मोक्ष का कारण है। जिस प्रकार निश्चयाराधना साक्षात् मोक्षफल रूप कार्य को सिद्ध करने वाली है, उस प्रकार व्यवहाराराधना साक्षात् मोक्ष रूप कार्य को सिद्ध कराने वाली नहीं है, क्योंकि वह बीज रूप है। बीज क्रम से ही वृक्ष की फलरूपता को प्राप्त हुआ देखा जाता है अर्थात् बीज पहले वृक्ष बनता है और उसके बाद फल पर्याय को प्राप्त होता है। इसी तरह व्यवहाराराधना पहले स्वर्गादिक का कारण है। तत्पश्चात् उससे मोक्षपद की प्राप्ति होती है। कोई भव्य जीव काललब्धि प्राप्त कर कर्मों का क्षयोपशम होने से गुरुओं के चरणारविन्द के समीप जाता है, वहाँ गुरुओं का उपदेश प्राप्त कर वह पहले व्यवहाराराधना से आराधना करने के लिए प्रवृत्त होता है, पश्चात्

सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयमयं समाराध्य घातिकर्मचतुष्टयक्षयं कृत्वा केवलज्ञानं समुत्पाद्य मोक्षं गच्छतीत्यभि-प्रायः॥१६॥

नन्वाराधकः पुमान् किंलक्षणः कियत्कालं कृत्वा समाराधयतीति वदन्तं प्रत्याह–

णिहयकसाओ भव्वो दंसणवंतो हु णाणसंपण्णो।
दुविहपरिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ ॥१७॥

हवइ भवति। कोसौ? **आराहओ** आराधकः ध्याता पुरुषः। कथंभूतः? **णिहयकसाओ** निहत-कषायः निहताः कषायाः येनासौ कदाचिदपि कषायैराविष्टो न भवतीत्यर्थः। पुनः कथंभूतः? **भव्वो** भव्यः

अभ्यास कर अभेदनय से सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं से तन्मय परमात्मा की आराधना करता है, इस तरह चार घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान को उत्पन्न करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

मोक्षरूप कार्य की साधक यद्यपि निश्चयाराधना ही है तथापि उसकी सहसा प्राप्ति सहज नहीं है, इसलिए उसका लक्ष्य कर क्षपक पहले व्यवहाराराधना की उपासना करता है तथा उसके फल स्वरूप स्वर्ग तथा उत्तम मनुष्य पर्याय को प्राप्त होता है, पुनः अभ्यास के द्वारा पर पदार्थ से भिन्न तथा स्वकीय गुणपर्यायों से अभिन्न शुद्ध आत्मा में ही उपयोग स्थिर करता हुआ निश्चयाराधना को प्राप्त होता है और उसके फलस्वरूप कर्मक्षय कर मोक्ष को प्राप्त होता है। इस तरह मोक्ष का परम्परा से कारण होने के कारण व्यवहाराराधना भी उपादेय है, सर्वथा छोड़ने के योग्य नहीं है। यहाँ इतनी बात ध्यान में रखने की है कि निश्चयाराधना की प्राप्ति होने पर व्यवहाराराधना स्वयं छूट जाती है, छोड़ी नहीं जाती है ॥१६॥

आगे कोई शिष्य पूछता है कि आराधना करने वाले पुरुष का क्या लक्षण है तथा वह कितना समय बिताकर आराधना करता है, ऐसा पूछने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

णिहयेति–गाथार्थ–(णिहयकसायो) कषायों को नष्ट करने वाला **(भव्वो)** भव्य **(दंसणवंतो)** सम्यग्दर्शन से युक्त **(णाणसंपण्णो)** सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण और **(दुविह परिग्गहचत्तो)** दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागी पुरुष **(मरणे)** मरण पर्यन्त **(हु)** निश्चय से **(आराहओ)** आराधना करने वाला **(हवइ)** होता है ॥१७॥

टीका–इस गाथा में आचार्य ने आराधना करने वाला पुरुष कैसा होता है और आराधना कब की जाती है, इन दो बातों पर विचार किया है। आराधना करने वाले पुरुष की विशेषता बतलाते हुए निम्नलिखित पाँच विशेषण दिये हैं–

१. निहतकषाय–जिसने कषायों को नष्ट कर दिया है अर्थात् जो प्रतिकूल परिस्थिति में कभी भी कषाय से आविष्ट नहीं होता।

मुक्तियोग्यः। पुनः कथंभूतः? **दंसणवंतो** दर्शनवान् सम्यग्दर्शनविराजमानः। पुनः किंविशिष्टः? **णाणसंपण्णो** ज्ञानसम्पन्नः शुद्धपरमात्मपदार्थविलक्षणानि परद्रव्याणि हेयरूपाणि जानाति समस्तदेहादि-परद्रव्येभ्यो विविक्तं परमात्मनः स्वरूपमुपादेयं मनुते इति स्वसंवेदनज्ञानसम्पन्नः। पुनः कथंभूतः? **दुविहपरिग्गहचत्तो** द्विविध-परिग्रहत्यक्तः द्विविधेन बाह्याभ्यन्तरलक्षणपरिग्रहेण त्यक्तो रहितः। क्व? मरणे मरणपर्यन्तं अत्र अभिव्याप्यार्थे सप्तमी निर्दिष्टा तिलेषु तैलवत्। कथं? हु खलु निश्चयेन एवं गुणविशिष्टः पुरुषो मरण-कालपर्यन्तमाराधको भवतीति तात्पर्यार्थः ॥१७॥

नन्वाराधकपुरुषस्येमान्येव लक्षणानि किमन्यान्यपि भविष्यन्ति वा इति पृष्टे अपराण्यपि सन्तीत्याह–

संसारसुहविरत्तो वेरग्गं परमउवसमं पत्तो।
विविहतवतवियदेहो मरणे आराहओ एसो ॥१८॥

---

२. भव्य—जो मुक्ति प्राप्त करने के योग्य हो। यहाँ उपादान शक्ति की ओर लक्ष्य करते हुए आचार्य ने कहा है कि भव्य पुरुष ही वास्तविक आराधना का धारी हो सकता है।

३. दर्शनवान्—जो सम्यग्दर्शन से सुशोभित हो, जो आत्म-तत्त्व की श्रद्धा रखता हो, लोक-परलोक का जिसे विश्वास हो, ऐसा पुरुष आराधक होता है।

४. ज्ञानसम्पन्न—जो ज्ञान से सम्पन्न हो अर्थात् शुद्ध परमात्म पदार्थ से विलक्षण परद्रव्यों को हेयरूप जानता हो तथा शरीरादि समस्त परद्रव्यों से भिन्न परमात्मा के स्वरूप को उपादेय मानता हो, इस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान से सम्पन्न पुरुष आराधक होता है।

५. द्विविधपरिग्रहत्यक्त—जो बाह्य और आभ्यन्तर रूप दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित हो। ऐसा पुरुष ही आराधना करने का अधिकारी है क्योंकि जब तक परिग्रह में चित्त रहता है, तब तक परमात्मस्वरूप में स्थिरता नहीं हो सकती, इसलिए आराधक को दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागी होना चाहिए।

अब आराधना कब की जाती है, इसका उत्तर देते हुए कहा है–मरणे अर्थात् मरणपर्यन्त आराधना की जाती है। यहाँ 'मरणे' शब्द में अभिव्याप्ति अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है, इसलिए 'तिलेषु तैलवत्' जिस प्रकार तिलों में तेल व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यहाँ पर मरणपर्यन्त आराधना की जाती है, यह अर्थ लिया गया है। तात्पर्य यह है कि आराधना का अभ्यास जीवन-पर्यन्त होता है न केवल मरणकाल में। जो जीवन भर चतुर्विध आराधनाओं का अभ्यास करता है, वही मरण काल में समता भाव से आराधक रह सकता है। मात्र मरणकाल में आराधना की प्राप्ति विरले ही जीवों को प्राप्त होती है, किसी एक के दृष्टान्त से राजमार्ग नहीं बनता ॥१७॥

आगे शिष्य पूछता है कि आराधक पुरुष के क्या ये ही लक्षण हैं या और भी होंगे ? इस तरह पूछे जाने पर आचार्य कहते हैं कि और भी लक्षण हैं–

अत्र क्रियाया अध्याहारः। भवति। कोसौ? **आराहओ** आराधकः। कः? **एसो** एषः। किं लक्षणः? **संसारसुहविरत्तो** संसारसुखविरक्तः संसारे यानि निर्मलचिदानंदानुभवनोत्थानुपमानिन्द्रियसुखविलक्षणानि केवलमाकुलत्वोत्पादकत्वाद्दुःखरूपाणि इन्द्रियविषयोत्पादितसुखानि तेषु विरक्तः अभिलाषरहितः। पुनः किंविशिष्टः? **पत्तो** प्राप्तः। किं? **वेरग्गं** वैराग्यं शरीरादौ परस्मिन्निष्टवस्तुनि प्रीतिरूपो रागः विनष्टो रागो यस्यासौ विरागः विरागस्य भावो वैराग्यं संसारशरीरभोगेषु निर्वेदलक्षणं। न केवलं वैराग्यं प्राप्तः **परमउवसमं** परमोपशमं च। अत्र रागादिपरिहारलक्षणमुपशमं आगमभाषया तु अनन्तानुबंधि-चतुष्टयमिथ्यात्वत्रयस्वरूपाणां मोहनीयकर्मणः सप्तप्रकृतीनामुपशमनादुपशमः परमश्चासौ उपशमश्च परमोपशमः तं परमोपशमं समुद्रे वाता भाववत् स्वभावे रागिणो रागादिजनितविकल्पोत्पत्तेरभावलक्षणं। पुनः कथंभूतः? **विविहतवतवियदेहो** विविधतपस्तप्तदेहः विविधैर्वीतरागसर्वज्ञागमप्रतिपादितैर्बाह्याभ्यन्तरलक्षणैर्मूलगुणोत्तरविशेषैर्नाना-विधैस्-तपोभिस्तप्तो देहः शरीरं यस्यासौ विविधतपस्तप्तदेहः। क्व? मरणे मरणपर्यन्तं। एवं गुणविशिष्टलक्षण आराधको मरणपर्यन्तं भवतीति तात्पर्यार्थः ॥१८॥

संसारेति—गाथार्थ—जो **(संसारसुहविरत्तो)** संसार सम्बन्धी सुख से विरक्त है **(वेरग्गंपरम—उवसमं पत्तो)** वैराग्य तथा परम उपशम भाव को प्राप्त है और **(विविह तव तवियदेहो)** नाना प्रकार के तपों से जिसका शरीर तपा हुआ है **(एसो)** यह जीव **(मरणे)** मरणपर्यन्त **(आराहओ)** आराधक **(हवइ)** होता है ॥१८॥

टीका—सत्रहवीं गाथा के समान इस गाथा में भी आराधक कौन हो सकता है, इसकी चर्चा की गई है। यहाँ आराधक कौन हो सकता है, इसके लिए आचार्य ने तीन विशेषण दिये हैं–

१. संसारसुखविरक्तः—संसार में इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से उत्पन्न हुए जो सुख हैं, वे निर्मल चिदानन्द के अनुभव से उत्पन्न, अनुपम तथा अतीन्द्रिय सुख से विलक्षण हैं और मात्र आकुलता के उत्पादक होने से दुःख रूप है। ऐसा विचार कर जो उनमें विरक्त हुआ है उनकी इच्छा से रहित हुआ है। **२. वैराग्यपरमोपशमं प्राप्तः—**अपने आप से भिन्न शरीरादिक इष्ट वस्तुओं में रागभाव के नष्ट होने से जो वैराग्य भाव को प्राप्त हुआ है अर्थात् संसार, शरीर और भोगों में जो सदा विरक्त रहता है और जो रागादिक के त्याग रूप उत्कृष्ट उपशम भाव को अथवा आगम की भाषा में अनन्तानुबंधी चतुष्क तथा मिथ्यात्वादि तीन; इस तरह मोहनीयकर्म की सात प्रकृतियों के उपशम से उत्कृष्ट उपशम भाव को प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार समुद्र में वायु का अभाव होने से तरंगों का उठना बन्द हो जाता है, इसी प्रकार रागी जीव के स्वभाव में परम उपशम भाव होने पर रागादि जनित विकल्पों का उठना बन्द हो जाता है। **३. विविधतपतप्तदेह—**वीतराग सर्वज्ञ देव के आगम में कहे हुए नाना प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर तपों से जिसका शरीर तप्त है। ऐसा पुरुष मरण पर्यन्त आराधक होता है अर्थात् जो निरन्तर पूर्वोक्त प्रकार से साधना करता है, वह मरण समय आराधना को प्राप्त होता है ॥१८॥

उक्तानि कानिचिदाराधकलक्षणानि इदानीमन्यान्यपि वर्णयितुकाम आचार्य आह–

अप्पसहावे णिरओ वज्जियपरदव्वसङ्गसुक्खरसो।
णिम्महियरायदोसो हवई आराहओ मरणे ॥१९॥

हवई भवति। कोसौ? **आराहओ** आराधकः। किंविशिष्टः? **णिरओ** निरतः। तत्परः। क्व? **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे निर्मलतरपरमचिदानन्दलक्षणे स्वस्वरूपे। पुनः कथंभूतः? **वज्जिय-परदव्वसङ्गसुक्खरसो** वर्जितपरद्रव्यसङ्गसौख्यरसः वर्जितो निराकृतः सकलसङ्गरहितपरमात्मपदार्थ–विलक्षणानां पदद्रव्याणां सङ्गेन संयोगेन यानि पञ्चेन्द्रियविषयोद्भवानि सुखानि तेषां रसोभिलाषो येन। पुनः कथंभूतः? **णिम्महियरायदोसो** निर्मथितरागद्वेषः आत्मसमानसमस्तजीवराशिविलोकनतया निर्मथितौ स्फेटितौ रागद्वेषौ इष्टानिष्टयोः प्रीत्यप्रीतिलक्षणौ येन। क्व? **मरणे** मरणपर्यन्तं। एवंगुणविशिष्टो मरणं मर्यादीकृत्य आराधयतीति तात्पर्यार्थः॥१९॥

आराधक के कुछ लक्षण कहे जा चुके हैं, अब कुछ और भी लक्षणों को कहने की इच्छा रखते हुए आचार्य कहते हैं–

अप्पसहाव इति–गाथार्थ–जो **(अप्पसहावेणिरओ)** आत्म–स्वभाव में तत्पर है, **(वज्जिय-परदव्व-संगसुक्खरसो)** जिसने पर द्रव्य के संसर्ग से होने वाले सुख की अभिलाषा को छोड़ दिया है और जिसने **(णिम्महिय रायदोसो)** राग–द्वेष को नष्ट कर दिया है, ऐसा पुरुष **(मरणे)** मरणपर्यन्त **(आराहओ)** आराधक **(हवई)** होता है ॥१९॥

टीका–आराधक कौन हो सकता है, इसका उत्तर देते हुए इस गाथा में आराधक के तीन लक्षण दिये हैं–**१. आत्मस्वभावे निरतः–**जो अत्यन्त निर्मल उत्कृष्ट चिदानन्द लक्षण से सहित आत्म–स्वभाव में तत्पर है। आत्मा का स्वभाव अत्यन्त निर्मल ज्ञान और आनन्द बतलाया है। जब तक इस जीव का ज्ञान मोहजन्य राग–द्वेष के कारण पर पदार्थों में इष्ट–अनिष्ट की कल्पना करता रहता है, तब तक वह मलिन रहता है। पर पदार्थों में इष्ट–अनिष्ट की कल्पना दूर होने पर वह निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार विषयाभिलाषा को पूर्ण करने से जो क्षणिक संतोष होता है, वह मलिन आनन्द है, जब यह जीव ऐसी दशा में पहुँच जाता है, जहाँ कि इसे विषयों की अभिलाषा ही उत्पन्न नहीं होती, तब जो आनन्द प्रकट होता है, वह निर्मल आनन्द कहलाता है। ऐसा निर्मल ज्ञान तथा निर्मल आनन्द ही आत्मा का स्वभाव है जो पुरुष ऐसे आत्म–स्वभाव में तत्पर रहता है। **२. वर्जितपरद्रव्यसंग सौख्यरसः–**सकल संग से रहित परमात्म पदार्थ से विलक्षण पर द्रव्यों के संयोग से होने वाले इन्द्रिय सुखों की अभिलाषा को जिसने छोड़ दिया है, यथा–**३. निर्मथित रागद्वेषः–**अपने समान समस्त जीवराशि को देखने से जिसने इष्ट प्रीति रूप राग और अनिष्टाप्रीति रूप द्वेष को मथ कर नष्ट कर दिया है ऐसा पुरुष मरणपर्यन्त आराधक होता है। अर्थात् पूर्वोक्त गुणों से युक्त मनुष्य ही आराधनाओं को धारण कर सकता है ॥१९॥

ननु रत्नत्रितयमयमात्मानं मुक्त्वा परद्रव्यचिन्तां करोति यः स कथंभूतो भवतीति पृच्छन्तं प्राहु–

जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा।
चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छयं भणिओ[1] ॥२०॥

भणिओ भणितः प्रतिपादितः। केन। **णिच्छयं** निश्चयेन परमार्थलक्षणेन। कोसौ? विराहओ विराधकः हेयोपादेयवस्तुपरिज्ञानविकल्पतया [2]यथोक्तलक्षणाराधकः पुरुषविलक्षणः स पुरुषो विराधको भवतीत्यर्थः। यः किं करोति? जो **चिंतेइ** यश्चिन्तयति। किं तत्? **परदव्वं** परद्रव्यं निजात्मनो भिन्नं यद्वस्तुस्वरूपं इह निजात्मन एवोपादेयत्वात्। ननु निजात्मन एवोपादानेन पञ्चपरमेष्ठिनामप्याराधको विराधकः स्यात् निजात्मभिन्नात्म–द्रव्यत्वादिति चेत्सत्यं। यः कश्चिद्यथावद्वस्तुस्वरूपं परिज्ञाय स्वशुद्धात्मानमाराधयितुं प्रवृत्तोपि अदृष्टाश्रुताननुभूतत्वात्तत्राशु स्थितिमलभमानः सन् तन्निमित्तं विषयकषायवञ्चनार्थं च तदाराधकानां भिन्नात्मस्वरूपाणां पञ्चपरमेष्ठिनां स्वरूपमाराधयन्न विराधकः। कुत इति चेत्? आत्मस्वरूपसाधकत्वात्।

आगे रत्नत्रयरूप आत्मा को छोड़कर जो पर द्रव्य की चिन्ता करता है वह कैसा होता है ? ऐसा पूछने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

जो रयणत्तयेति–गाथार्थ–(जो) जो **(रयणत्तयमइओ)** रत्नत्रय स्वरूप **(अप्पणो)** अपने **(विसुद्धप्पा)** विशुद्ध आत्मा को **(मुत्तूणं)** छोड़कर **(परदव्वं)** परद्रव्य की **(चिंतेइय)** चिन्ता करता है। **(णिच्छयं)** निश्चय से **(विराहओ)** विराधक **(भणिओ)** कहा गया है ॥२०॥

टीका–पिछली तीन गाथाओं में आराधक का लक्षण कहकर अब इस गाथा में विराधक का लक्षण कहते हैं। हेय–छोड़ने योग्य तथा उपादेय–ग्रहण करने योग्य वस्तुओं के परिज्ञान से रहित होने के कारण जो पूर्वोक्त लक्षण वाले आराधक पुरुष से भिन्न है ऐसा पुरुष विराधक होता है। इसी विराधक का लक्षण कहते हुए आचार्य ने कहा है कि जो रत्नत्रय रूप अपनी विशुद्ध आत्मा को छोड़कर पर द्रव्य का चिन्तन करता है वह निश्चय से विराधक–आराधना को भंग करने वाला होता है। इस जीव को निज आत्मा ही उपादेय है इसलिए उसे छोड़कर परद्रव्य का चिन्तन करना आराधना में बाधक होता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है जब एक निज आत्मा ही उपादेय है तब पञ्चपरमेष्ठियों की आराधना करने वाला भी विराधक कहलावेगा क्योंकि उनका आत्म द्रव्य, निज आत्म द्रव्य से भिन्न है। इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है–कोई जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर अपनी शुद्ध आत्मा की आराधना करने के लिए प्रवृत्त होता हुआ भी शुद्ध आत्मा को पहले कभी देखा नहीं, सुना नहीं और उसका अनुभव भी नहीं किया इसलिए उसमें शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त नहीं हो पाता। अतः उस स्थिरता की प्राप्ति के लिए तथा विषय–कषाय से बचने के लिए शुद्ध आत्मा की आराधना करने वाले पञ्च परमेष्ठियों के स्वरूप की आराधना करता है, भले ही वे पञ्चपरमेष्ठी उसके आत्मस्वरूप

---

१. भणइ ग। २. विकेल्पतया प० म०

संसार-परिभ्रमणहेतुभूतैहलौकिकपारलौकिकख्यातिपूजालाभ-भोगेन्द्रियविषयजन्य- सुखाभिलाषाभावात्। यस्तु इतरः। निजात्मस्वरूपस्यानुपादानेन निदाने [१]नवग्रैवेयकसुखपर्यंतविपुलर्द्धिदायिविशिष्टपुण्यकारणं पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपमाराधयन्नपि विराधकः पुनरपि संसारकारणत्वात्। यत्तु संसारकारणं तत्पुण्यमपि न भव्यं।

[२]मं पुणु पुण्णइ भल्लाइ णाणिय ताइ भणंति।
जीवहं रज्जइ देंवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति॥

परमात्मप्रकाशे इत्युक्तत्वात्। उक्तं च–

तेनापि पुण्येन कृतं कृतं यज् जंतोर्भवेत् संसृतिवृद्धिहेतुः।
तच्चार्वपीच्छेन्ननु हेम को वा क्षिप्तं श्रुती त्रोटयते यदाशु॥

किं कृत्वा विराधको भवति। मुत्तूणं मुक्त्वा परित्यज्य। कं? विसुद्धप्पा विशुद्धात्मानं विशुद्धो रागादिरहित आत्मा तं। कथंभूतं? रयणत्तयमइओ रत्नत्रयमयं विषयभेदेन सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रितयेन निर्वृतं। कुतः? अप्पणो आत्मनः निजात्मस्वरूपापादानभूतत्वात्। एवं ज्ञात्वा समस्तपरद्रव्यं विमुच्य भो भव्या! निजदेहे निवसन्तं परमात्मानमाराधयन्तु इति तात्पर्यार्थः ॥२०॥

से भिन्न हैं। उनकी आराधना करता हुआ भी वह जीव विराधक नहीं है क्योंकि पञ्चपरमेष्ठी आत्मस्वरूप के ही साधक हैं अर्थात् उनकी आराधना करने से आराधक का लक्ष्य आत्मस्वरूप की ओर ही सन्मुख होता है। इसके सिवाय पञ्चपरमेष्ठी की आराधना में संसार परिभ्रमण के कारणभूत इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी ख्याति, पूजा, लाभ, भोग तथा इन्द्रिय विषय से उत्पन्न होने वाले सुख की अभिलाषा भी तो नहीं है। हाँ इसके सिवाय जो निजात्म स्वरूप को ग्रहण न कर निदान रूप से नवग्रैवेयक सम्बन्धी सुख पर्यन्त की विपुल ऋद्धि को देने वाले विशिष्ट पुण्य का लक्ष्य बनाकर पञ्चपरमेष्ठियों के स्वरूप की आराधना भी कर रहा है वह विराधक है क्योंकि उसका यह कार्य संसार का कारण है। जो संसार का कारण है वह पुण्य भी अच्छा नहीं है क्योंकि परमात्म प्रकाश में कहा है–

म पुणु इति–ज्ञानी जीव उस पुण्य को भी भला नहीं कहते जो जीव को राज्यादिक देकर फिर शीघ्र ही दुःख उत्पन्न कराता है। और भी कहा है–

तेनापीति–जो किए जाने पर जीव के संसार की वृद्धि का हेतु होता है ऐसा पुण्य भी निरर्थक है। जो पहनने पर शीघ्र ही कानों को तोड़ देता है ऐसे सुवर्ण की, उत्तम होने पर भी कौन इच्छा करता है ? अर्थात् कोई नहीं।

इस प्रकार आराधक और विराधक का लक्षण जानकर हे भव्य जीवो! निज देह में निवास करने वाले परमात्मा की आराधना करो, यह तात्पर्य है ॥२०॥

---

१. राधकः पुरुष म० म०। २. मुख म०।

ननु भगवन् परमात्मानं मुक्त्वा परद्रव्यं चिन्तयति यः स मया विराधको ज्ञातः यस्तु आत्मानं परमपि न बुध्यते तस्याराधना घटते न वेति पृष्टे आचार्यः प्राह–

जो णवि बुज्झइ अप्पा णेय परं णिच्छयं समासिज्ज।
तस्स ण बोही भणिया सुसमाही राहणा णेय ॥२१॥

णवि बुज्झइ नैव बुध्यते न जानाति। कोऽसौ? **जो** यः कश्चिदपि पुरुषविशेषः। कं? **अप्पा** आत्मानं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अततीति आत्मा तं। न केवलं आत्मानं बुध्यते। **णेय परं** परं नैव आत्मनो विलक्षणं देहादिपरद्रव्यं नैव। किं कृत्वा? **समासिज्ज** समासृत्य अवलंब्य। कं? **णिच्छयं** निश्चयं परमार्थं **तस्स ण भणिया** तस्य न भणिता आत्मपरभेदपरिज्ञानशून्यस्य न प्रतिपादिता। काऽसौ। **बोही** बोधिः। बोधेः किं लक्षणं? सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तिप्रापणं बोधिः। न केवलं बोधिः। **सुसमाही** सुसमाधिश्च। सुसमाधेः किं लक्षणं? तस्यैव बोधेर्निर्विघ्नेन भवान्तरावाप्तिरिति समाधिः। न केवलं सुसमाधिः। **आराहणा** आराधना नैव पूर्वोक्तलक्षणा। उक्तं च–

"[१]भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥"

आगे कोई शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! परमात्मा को छोड़कर जो परद्रव्य का चिन्तन करता है, वह विराधक है, ऐसा मैंने जान लिया है। परन्तु जो न आत्मा को जानता है और न पर को जानता है उसके आराधना हो सकती है या नहीं, ऐसा पूछे जाने पर आचार्य कहते हैं–

जो णवि–गाथार्थ–(जो) जो पुरुष **(णिच्छयं समासिज्ज)** निश्चयनय का आलम्बन कर **(अप्पा)** आत्मा को **(णवि बुज्झइ)** नहीं जानता है और **(परं)** पर को **(णवि बुज्झइ)** नहीं जानता है **(तस्स)** उसके **(ण बोही भणिया)** न बोधि कही गई है, **(ण सुसमाही भणिया)** न सुसमाधि कही गई है और **(णेय आराहणा भणिया)** न आराधना ही कही गई है ॥२१॥

टीका–'अतति इति आत्मा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा है। आत्मा से भिन्न शरीरादिक पर द्रव्य हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपूर्व प्राप्ति होना बोधि है, बोधि का निर्विघ्नरूप से भवान्तर में प्राप्त होना समाधि है तथा आराधना का लक्षण पहले कहा जा चुका है। जो जीव निश्चयनय के अनुसार न आत्मा को जानता है और न पर को जानता है उसे न बोधि की प्राप्ति होती है, न समाधि की प्राप्ति होती है और न आराधना की ही प्राप्ति होती है। जैसा कि कहा है–

भेद विज्ञानतः–आज तक जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेद–विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो आज तक बन्धन में बद्ध हैं वे उसी भेद–विज्ञान के अभाव से बद्ध हैं।

---

१. नाटक समयसार कलशेऽमृतचन्द्रस्य श्लोक १३१

आत्मपरावबोधरहितस्य बोधिः समाधिराराधना न भवतीत्येवं बुद्ध्वा यथोक्तलक्षणनिजात्म-द्रव्यपरद्रव्यस्वरूपं परिज्ञाय तत्र परद्रव्यं हेयमात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥२१॥

एवमाराधकविराधकयोः स्वरूपं प्रकाश्येदानीं अरिह इत्यादिसप्तभिः स्थलैः कर्मरिपुं हंतुकामस्य क्षपकस्य वक्ष्यमाणसामग्रीं मेलयित्वा कर्माणि हन्तु भवान् इति शिक्षां[1] प्रयच्छन्नादौ तेषां सप्तस्थलानां गाथाद्वये नामानि प्रकटयन्नाह–

अरिहो सङ्गच्चाओ कसायसल्लेहणा[2] य कायव्वा।
परिसहचमूण विजओ उवसग्गाणं तहा सहणं ॥२२॥
इंदियमल्लाण जओ मणगयपसरस्स तह य संजमणं।
काऊण हणउ खवओ चिरभवबद्धाइ कम्माइं ॥२३॥

निश्चयनय से ज्ञान–दर्शन स्वभावयुक्त जीव को ही आत्मा कहा गया है तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप जो द्रव्य आत्मा के साथ लग रहा है, वह पर द्रव्य है। इस तरह निज और पर को जानने से ही बोधि आदि की प्राप्ति होती है। गाथा की उत्थानिका में शिष्य ने प्रश्न किया था कि जो आत्मा और पर को नहीं जानता उसके आराधना होती है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा है कि ऐसे जीव के आराधना तो होती ही नहीं है किन्तु उसकी पूर्ववर्तिनी समाधि और समाधि की पूर्ववर्तिनी बोधि भी नहीं होती।

आत्मा और पर के ज्ञान से रहित जीव के बोधि, समाधि अथवा आराधना नहीं होती ऐसा जान कर पूर्वोक्त लक्षण से युक्त निज आत्म द्रव्य तथा पर द्रव्य के स्वरूप को जानो तथा परद्रव्य को हेय और निजद्रव्य को उपादेय मानो ॥२१॥

इस तरह आराधक और विराधक का स्वरूप बताकर अब 'अरिह' आदि सात स्थलों के द्वारा कर्म शत्रु को नष्ट करने के इच्छुक क्षपक के लिए आचार्य शिक्षा देते हुए कहते हैं कि आप आगे कही जाने वाली सामग्री को एकत्रित कर कर्मों को नष्ट कीजिए। सर्वप्रथम दो गाथाओं में उन सात स्थलों के नाम प्रकट करते हैं–

अरिहो–गाथार्थ–(खवओ) क्षपक **(अरिहो)** संन्यास धारण करने के योग्य होता हुआ **(संगच्चाओ)** संगत्याग **(कायव्वा कसायसल्लेहणा य)** करने योग्य कषायसल्लेखना, **(परिसहचमूण विजयो)** परीषहरूपी सेना का विजय **(तहा उवसग्गाणं सहणं)** तथा उपसर्गों का सहन **(इंदियमल्लाणजओ)** इन्द्रियरूपी मल्लों को जीतना **(तह य)** और **(मणगयपसरस्स संजमणं)** मन रूपी हाथी के प्रसार का नियन्त्रण **(काऊण)** करके **(चिरभवबद्धाइं)** चिर काल के अनेक भवों में बंधे हुए **(कम्माइं)** कर्मों को **(हणउ)** नष्ट करे ॥२२–२३॥

१. शिष्यं म०, २. कासाय ग०।

हणउ हंतु निराकरोतु। कोऽसौ। **खवओ** क्षपकः कर्मक्षपणशीलः। किंविशिष्टः? **अरिहो** अर्हः संन्यासयोग्यः। कानि? **कम्माइं** कर्माणि ज्ञानावरणादिलक्षणानि। किंविशिष्टानि? चिरभवबद्धानि पूर्वोपार्जितानि। किमारभ्य? काऊण कृत्वा **सङ्गच्चाओ** सङ्गत्यागं। इहार्षेयत्वात्कर्मस्थाने प्रथमायां न दोषः। बाह्याभ्यंतरपरिग्रहलक्षणः सङ्गस्तस्य त्यागः परित्यजनं तं। न केवलं सङ्गत्यागं। कृत्वा **कसाय-सल्लेहणा य** कषायसल्लेखनां च कषायाः क्रोधमानमायालोभलक्षणास्तेषां सल्लेखना संन्यासः सर्वथा परिहारः तां कषायसल्लेखनां। किं विशिष्टां? **कायव्वा** कर्तव्यां मुमुक्षुभिरवश्यमेव करणीयां तदकरणे साध्य-सिद्धेरभावात्। न केवलं कर्तव्यां कषायसल्लेखनां च। कृत्वा। **विजओ** विजयमभिभवं। कासां। **परिसहचमूण** परीषह चमूनां बुभुक्षादि-द्वाविंशतिपरीषहसेनानां। न केवलं परीषहचमूनां विजयं। कृत्वा **सहणं** सहनं मर्षणं क्षमणामिति। यावत्। केषां? **उवसग्गाणं** उपसर्गाणां सचेतनाचेतनेभ्यः समुत्पन्नोपप्लवानां। कथं? **तहा** तथा। न केवलं उपसर्गाणां सहनं **जओ** जयं विजयलक्षणं। केषां? **इंदियमल्लाण** इन्द्रियमल्लानां स्पर्शनादिलक्षणानि पञ्चेन्द्रियाणि तान्येव महासुभटास्तेषां। न केवलं इन्द्रियमल्लानां जयं। **संजमणं** संयमनं संकोचनं। कस्य? **मणगयपसरस्स** मनोगजप्रसरस्य मनश्चित्तं तदेव गजो हस्ती तस्य प्रसरः स्वेच्छापरिभ्रमणं तस्य प्रथममर्हो भूत्वा सङ्गत्यागं करोति तदनु कषायसल्लेखनां करोति पुनः परीषहसेनां जयति तथा उपसर्गान् सहते इन्द्रियमल्लानां च जयं करोति मनोगजप्रसरं च निरोधयति। एवं सामग्रीं संमील्य क्षपकः कर्माणि क्षपयतु। इति सप्तमस्थल-समुदायसूचनायां गाथाद्वयं गतं ॥२२-२३॥

इदानीमादावेव निर्दिष्टस्यार्हस्य लक्षणमाह अस्यैव ज्येष्ठत्वात्-

छंडियगिहवावारो विमुक्कपुत्ताइसयणसम्बन्धो।
जीवियधणासमुक्को अरिहो सो होइ सण्णासे ॥२४॥

टीका—गाथा में 'संगच्चाओ' आदि पदों में कर्म कारक होने पर भी प्रथमा का प्रयोग किया गया है सो इसे आर्ष प्रयोग जानकर दोष नहीं समझना चाहिए। सल्लेखना करने वाला क्षपक पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने के लिए उत्सुक है उसे संबोधते हुए आचार्य कहते हैं कि हे क्षपक! सबसे पहले तू आगे कही जाने वाली विधि को कर, सल्लेखना धारण करने के अर्ह-योग्य बन, पश्चात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर, फिर अवश्य ही करने योग्य क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों को कृश कर, क्योंकि इसके बिना साध्यसिद्धि नहीं हो सकती, फिर क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों की सेना पर विजय प्राप्त कर, तदनन्तर चेतन-अचेतन के द्वारा किए हुए उपसर्गों को सहन कर, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियरूपी मल्लों को जीत-उन्हें परास्त कर और तदनंतर मनरूपी हाथी के स्वच्छन्द प्रसार को रोक। ऐसा करने से ही तू चिरसंचित कर्मों का क्षय कर सकेगा अन्यथा नहीं। इस प्रकार सात स्थलों के समूह की सूचना देने वाली दो गाथा व्यतीत हुई ॥२२-२३॥

अब सबसे पहले कहे हुए 'अर्ह' का लक्षण कहते हैं क्योंकि वही सबसे श्रेष्ठ है-

छंडिय—गाथार्थ—(छंडियगिहवावारो) जिसने गृह सम्बन्धी व्यापार छोड़ दिए हैं **(विमुक्क**

होइ भवति। कोऽसौ? **अरिहो** अर्हः योग्यः। क्व? सण्णासे संन्यासे अयोग्यहान-योग्योपादान-लक्षणसंन्यासः तस्मिन्। **सो** स किंविशिष्टो भवति? छंडियगिहवावारो त्यक्तगृहव्यापारः त्यक्ता अनन्तसंसार-कारणकारिव्यापारावारपारगसहजशुद्धचिच्चमत्कार-रसास्वादविशेषव्यापृतपरमात्मपदार्थ-विलक्षणा असिमसिकृषिपशुपाल्यवाणिज्यादयो गृहव्यापारा येनासौ। पुनः कथंभूतः? **विमुक्कपुत्ताइसयण-सम्बन्धो** विमुक्तपुत्रादिस्वजनसम्बन्धः **जीवियधणासमुक्को** जीवितधनाशामुक्तः स्वकीये काये ममत्वपरिणामवशादिदं मदीयमनेन सार्धं मम विघटनं माभूदित्यभिलाषो जीविताशा इत्युच्यते। निजनिरञ्जन-शुद्धबुद्धैकस्वभाव-स्वसंवेदनज्ञानैकधनविलक्षणधनधान्यसुवर्णादिपरिग्रह-ग्रहाभिलाषो धनाशा इत्युच्यते इत्युक्तलक्षणाभ्यां जीवितधनाशाभ्यां मुक्तः परित्यक्तः। आदौ गृहव्यापारान् परित्यज्य पुत्रादिस्वजनसम्बन्धं मुञ्चति तदनु जीवितधनाशाद्वयं निरस्य संन्यासार्हो भवतीत्यर्थः ॥२४॥

एवमर्हस्वरूपं निरूप्य बाल्ययौवनवार्धक्यावस्थात्रये कस्यामवस्थायामुत्तमस्थानस्यार्हः संपद्यते इति पृच्छन्तं प्रति गाथाचतुष्कमाह-

---

पुत्ताइसवणसंबंधो) जिसने पुत्र आदि आत्मीय जनों से सम्बन्ध छोड़ दिया है और **(जीविय-धणासमुक्को)** जो जीवित तथा धन की आशा से मुक्त है। **(सो)** वह **(सण्णासे)** संन्यास के विषय में **(अरिहो)** अर्ह-योग्य **(होइ)** होता है ॥२४॥

टीका—अयोग्य को छोड़ना और योग्य को ग्रहण करना संन्यास कहलाता है। इस संन्यास में कौन पुरुष योग्य है इसकी चर्चा इस गाथा में की गई है। योग्य मनुष्य की विशेषता बताने के लिए आचार्य ने निम्नांकित तीन विशेषण दिए हैं-

१. त्यक्तगृहव्यापार—अनन्त संसार के कारणों को बढ़ाने वाले व्यापाररूपी समुद्र के पारगामी सहज शुद्ध चैतन्य चमत्कार के रसास्वाद में विशेषरूप से संलग्न परमात्म पदार्थ से भिन्न असि, मसि, कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य आदिक गृह सम्बन्धी व्यापारों का जिसने त्याग कर दिया है।

२. विमुक्त पुत्रादि स्वजन सम्बन्ध—जिसने पुत्र आदिक स्वजनों के साथ सम्बन्ध छोड़ दिया है।

३. जीवितधनाशामुक्त—अपने शरीर में ममत्व परिणाम होने के कारण ऐसी अभिलाषा रखना कि यह शरीर मेरा है, इसका वियोग कभी न हो, जीविताशा कहलाती है तथा निज निरञ्जन शुद्ध बुद्धैकस्वभाव वीतराग सर्वज्ञ आत्मा के स्वसंवेदन ज्ञानरूप एक धन से विलक्षण धन-धान्य तथा सुवर्णादि परिग्रह की अभिलाषा धनाशा कहलाती है। इस तरह जो जीविताशा तथा धनाशा से मुक्त है ऐसा पुरुष संन्यास के लिए अर्ह अर्थात् योग्य कहा गया है। भावार्थ यह है कि जो पुरुष सब से पहले गृह सम्बन्धी व्यापारों को छोड़कर पुत्र आदि स्वजनों के साथ सम्बन्ध छोड़ता है पश्चात् जीवित और धन की आशा से मुक्त होता है वह संन्यास के योग्य होता है ॥२४॥

जरवग्घिणी ण चंपइ[१] जाम[२] ण वियलाइ हुंति अक्खाइं।
बुद्धी जाम ण णासइ आउजलं जाम[३] ण परिगलई ॥२५॥
[४]आहारासणणिद्दाविज्जओ जावत्थि अप्पणो णूणं।
अप्पाणमप्पणोण य तरइ य णिज्जावओ जाम ॥२६॥
[५]जाम ण सिढिलायंति य अंगोवंगाइ संधिबंधाइं।
[६]जाम ण देहो कंपइ मिच्चुस्स भएण भीउव्व ॥२७॥
जा उज्जमो ण वियलइ संजमतवणाणझाणजोएसु।
तावरिहो सो पुरिसो उत्तमठाणस्स संभवई ॥२८॥

कलावयं।

संहवइ संभवति संपद्यते। कोऽसौ। स पूर्वोक्तलक्षणः **पुरिसो** पुरुषः। कथंभूतः? **अरिहो** अर्हः।

इस प्रकार अर्ह–योग्य का स्वरूप कहकर बालक, यौवन और बुढ़ापा इन तीन अवस्थाओं में से किस अवस्था में यह जीव उत्तम स्थान के योग्य होता है ऐसा पूछने वाले शिष्य के प्रति आचार्य चार गाथाएँ कहते हैं–

जरवग्घिणीति–गाथार्थ–(जाम) जब तक **(जरवग्घिणी)** वृद्धावस्था रूपी व्याघ्री **(ण चंपइ)** आक्रमण नहीं करती, **(अक्खाइं)** इन्द्रियाँ **(वियलाइ)** विकल **(ण हुंति)** नहीं हो जाती, **(जाम बुद्धी ण णासइ)** जब तक बुद्धि नष्ट नहीं होती, **(जाम आउजलं ण परिगलई)** जब तक आयु रूपी जल नहीं गलता, **(णूणं)** निश्चय से **(अप्पणो आहारासण णिद्दा विजओ जावत्थि)** जब तक अपने आपके आहार, आसन और निद्रा पर विजय है, **(जाम)** जब तक **(णिज्जावओ अप्पाणमप्पणोण य तरइ य)** अपना आत्मा स्वयं निर्यापकाचार्य बन कर अपने आपको नहीं तारता है, **(जाम अंगोवंगाइ संधिबंधाइं सिढिलायंति)** जब तक अंगोपांग और सन्धियों के बन्धन ढीले नहीं पड़ जाते **(जाम)** जब तक **(देहो)** शरीर **(मिच्चुस्स)** मृत्यु के **(भयेण)** भय से **(भीउव्व)** डरे हुए के समान **(ण कंपइ)** नहीं कांपने लगता है तथा **(संजम तवणाणझाणजोएसु)** संयम, तप, ज्ञान, ध्यान और योग में **(जा उज्जमो ण वियलइ)** जब तक उद्यम नष्ट नहीं होता **(ताव)** तब तक **(सो)** वह **(पुरिसो)** पुरुष **(उत्तमठाणस्स)** उत्तम स्थान–संन्यास के **(अरिहा)** योग्य **(संभवई)** होता है ॥२५–२६॥

टीका–इन चार गाथाओं में इस बात पर विचार किया गया है कि यह पुरुष उत्तम स्थान

---

१. चप्पइ ग०, २. जाव ग०, ३. जाव ग०, ४. आहारआसणणिद्दा जावजओ अत्थि ग०, ५. जाव ग०, ६. जाव ग०

कस्य? उत्तमस्थानस्य बाह्याभ्यन्तरसङ्गसंन्यासलक्षणविशेषस्य। कथं। **ता** तावत्। तावदिति कियत्कालं? **जाव** यावत् यावत्काले **ण चंपेइ** न चम्पते नाक्रमति। कासौ? **जरवग्घिणी** यौवनद्विपदर्पदलनत्वात् जराव्याघ्री। न केवलं जराव्याघ्री यावन्नाक्रामति। **जाम ण हुंति** यावत् च न भवन्ति कानि? **अक्खाइं** अक्षाणि स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दग्रहणदक्षाणि इन्द्रियाणि। किं विशिष्टानि यावच्च न भवन्ति। **वियलाइं** विकलानि स्वकीयस्वकीयविषयसौष्ठवास्पष्टकारीणि। न केवलं विकलानींद्रियाणि यावन्न भवन्ति **जाम** यावच्च **ण णासइ** न नश्यति। कासौ। बुद्धिः नश्यतीति कोर्थः? अवस्थाविशेषेण सा इन्द्रियमनोविकलतया हेयोपादेयपदार्थपरिज्ञान-शून्यत्वेनात्मीयं स्वरूपं मुक्त्वा विपर्यस्तरूपमादाय अदृश्या भवति। न केवलं यावद्बुद्धिर्न नश्यति। **जाम** यावच्च ण **परिगलइ** न परिगलति। किं तत्। **आउजलं** आयुर्जलं निजोपार्जितकर्मबन्धसामर्थ्येन संवत्सरायनर्तुमासपक्षदिवसघटिकादिविशेषैर्यावत्परिमाणं भवस्थित्या एकस्मिन् देहे प्राणधारणलक्षणमायुरिति आयुरूप जलं आयुर्जलं। जलत्वेनायुर्निर्देशस्य किं प्रयोजनं। यथा सच्छिद्रकराञ्जलौ प्रक्षिप्तं जलं समयादिसहकारित्वेन सकलं परिगलति तथा आयुरपि समयघटिकादिवत् पक्षमासादिभिः कृत्वा समस्तं परिगलति। इदमत्र तात्पर्यं। न केवलं आयुर्जलं यावन्न परिगलति। **जावत्थि** यावदस्ति च। कोसौ। **आहारासणणिद्दाविजओ** आहारासननिद्रा-विजयः आहारश्च आसनं च निद्रा च आहारासननिद्रास्तासामाहारासननिद्राणां विजयः आहारासननिद्राविजयः। आहारासननिद्राणां किं लक्षणं इति चेत्। निर्विकारपरमाह्लादकारिसहज-स्वभावसमुद्भवसर्वकालसंतर्पणहेतुभूतस्वसंवेदनज्ञानानंदामृतरस-

---

अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागरूप संन्यास के योग्य कब होता है। इसके लिए कहा गया है कि यह मनुष्य संन्यास धारण करने के योग्य तब तक रहता है जब तक कि वृद्धावस्थारूपी व्याघ्री आक्रमण नहीं करती। वृद्धावस्था यौवनरूप हाथी के गर्व को खण्डित करने वाली है इसलिए उसे बाघ की उपमा दी गई है। जब तक स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियाँ विकल नहीं हो जाती अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण और शब्दरूप अपने अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ रहती हैं। जब तक बुद्धि नष्ट नहीं होती अर्थात् अवस्था विशेष के कारण इन्द्रिय और मन में विकलता आने से हेयोपादेय के ज्ञान से शून्य हो अपने स्वरूप को छोड़ तथा विपरीत स्वरूप को ग्रहण कर जब तक लुप्त नहीं हो जाती। अपने द्वारा उपार्जित कर्म बन्ध की सामर्थ्य से एक वर्ष, छह माह, दो माह, एक माह, एक पक्ष, एक दिन, एक घड़ी आदि तक पर्याय की स्थिति के अनुसार एक शरीर में प्राणों का धारण करना आयु कहलाती है। इस आयु को जल की उपमा दी गई है अर्थात् जिस प्रकार छिद्र सहित हाथों की अञ्जली में रखा हुआ जल समय आदि की सहकारिता से गल जाता है उसी प्रकार आयु भी समय, घड़ी आदि के समान पक्ष, मास आदि के द्वारा गल जाती है-क्षीण हो जाती है। यह आयुरूपी जल जब तक गल नहीं गया है। निर्विकार तथा परमाह्लाद को करने वाले सहज स्वभाव से उत्पन्न, प्रत्येक समय तृप्ति के कारण स्वसंवेदन ज्ञान एवं आनंद से उत्पन्न जो परम

प्राग्भारनिर्भरपरमाहारविलक्षणो निजोपार्जितासद्वेदनीयकर्मोदयेन तीव्रबुभुक्षावशाद्व्यवहारनयाधीनेनात्मना यदशनपानादिकमाह्रियते तदाहारः। निश्चयेनात्मनः अनन्येवस्थानं यत् तदासनमित्युच्यते। लोकव्यवहारेण तदवस्थानसाधनाङ्गत्वेन यमनियमाद्यष्टाङ्गेषु मध्ये शरीरालस्यग्लानिहानाय नानाविधतपश्चरणभारनिर्वाहक्षमं भवितुं तत्पाटवोत्पादनाय यन्निर्दिष्टं पर्यंकार्धपर्यंकवीरवज्रस्वस्तिकपद्मकादिलक्षणमासनमित्युच्यते। एतेषां प्रत्येकं लक्षणमाह–

''स्याजंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति।
पर्यंको नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः॥''

अयमेवैकजंघाया अधोभागे पादोपरि कृतेऽर्धपर्यंकः।

''वामोंघ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरूपरि दक्षिणः।
क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतं॥''

''पृष्ठे यत्राकृतीभूतदोर्भ्यां वीरासने सति।
गृह्णीयात् पादयोर्यत्रांगुष्ठौ वज्रासनं हि तत्॥''

तृप्ति है वह परमाहार–उत्कृष्ट आहार है उससे विलक्षण, अपने द्वारा उपार्जित असाता वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न तीव्र भूख से वशीभूत होने के कारण व्यवहारनय से आत्मा, जो भोजन–पान आदि को ग्रहण करता है, वह आहार कहलाता है। निश्चय नय से अपने आत्म स्वरूप में जो अवस्थिति है उसे आसन कहते हैं और लोकव्यवहार के अनुसार उक्त आत्मस्वरूप में अवस्थिति रूप निश्चय आसन की सिद्धि का कारण होने से यम, नियम आदि अंगों के बीच शरीर सम्बन्धी आलस्य और ग्लानि को दूर करने के लिए तथा नाना प्रकार के तपश्चरण का भार धारण करने में समर्थ होने और तद्विषयक सामर्थ्य को उत्पन्न करने के लिए जो पर्यंक, अर्धपर्यंक, वीर, वज्र, स्वस्तिक तथा पद्म आदि आसन लगाए जाते हैं उन्हें आसन कहते हैं। यहाँ इन आसनों के लक्षण कहते हैं–

स्याज्जङ्घयोशिति–जंघाओं को अधोभाग पाँवों के ऊपर किया जाए तथा नाभि के समीप खुले हुए दाएँ और बाएँ हाथ को एक दूसरे पर रखा जाए तो पर्यंकासन कहलाता है। इसी पर्यंकासन में एक जंघा का अधोभाग पाँव के ऊपर किया जाए तो अर्धपर्यंक आसन होता है।

वामोंऽघ्रि इति–दाहिनी जांघ पर बांया पैर और बांयी जांघ पर दाहिना पैर रक्खा जाय तो उसे वीर मनुष्यों के योग्य वीरासन कहा जाता है।

पृष्ठे इति–वीरासन के अन्दर पीठ के पीछे की हुई भुजाओं से जिसमें दोनों पैरों के अंगूठे पकड़े जाते हैं उसे वज्रासन कहते हैं।

"जङ्घाया मध्यभागेषु संश्लेषो यत्र जङ्घया।
पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः॥"

इत्यादि। निद्रालक्षणं किं। सर्वदोन्निद्रकेवलज्ञानदर्शननेत्रपरमात्मपदार्थविलक्षणनिद्रादर्शनावरण-कर्मोदयेन स्वापलक्षणा निद्रा। यावदाहारस्य विजयः, आसनस्य विजयः, निद्रायाः विजयः। आहारादीनां विजय इति कोर्थः इति चेत्? यथा यौवनावस्थायां पुमान् अनशनावमौदर्यादिभिस्तीव्रतपोविशेषैराहारजयं तथा आसनविजयं निद्राविजयं करोति तथा वृद्धावस्थायां कर्तुं न शक्नोति इति तात्पर्यं। कुतः आहारासननिद्रादीनां विजयोस्ति? **अप्पणो** आत्मनः आत्मनः सकाशात्। कथं? **णूणं** नूनं निश्चयेन। न केवलं आहारासननिद्राणां विजयोस्ति। **जाम ण तरइ य** यावन्न तरति च। कोसौ? **णिज्जावओ** निर्यापकः शास्त्रोक्तलक्षणः। केन? **अप्पणेण य** आत्मनैव। कं? **अप्पाणं** आत्मानं आचारशास्त्रोक्ताष्ट-चत्वारिंशन्निर्यापकाननपेक्ष्य आत्मनैव निर्यापको भूत्वा आत्मानं तरति यावत्। न केवलमात्मनैव निर्यापको भूत्वा आत्मानं यावत्तरति। **जाम ण सिढिलायंति य** यावन्न शिथिलायन्ते यावत्कालं शिथिल इव नाचरन्ति। कानि? अङ्गोपाङ्गानि। अङ्गानि शिरोभुजादिलक्षणानि। एतेभ्यः अवशेषाणि उपाङ्गानि। उक्तं च–

जंघा इति–जहाँ जांघ के मध्यभाग में जांघ को सटाकर रखा जाता है उसे आसन के जानकार विद्वानों ने पद्मासन कहा है।

इसी प्रकार अन्य आसनों के लक्षण जानना चाहिए।

अब निद्रा का लक्षण कहते हैं–

जिसके केवलज्ञान और केवल दर्शनरूपी नेत्र सदा खुले रहते हैं ऐसे परमात्मपदार्थ से विलक्षण निद्रा को उत्पन्न करने वाले निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से जीव जो शयन करता है उसे निद्रा कहते हैं। अब आहार विजय, आसन विजय और निद्रा विजय का तात्पर्य कहते हैं–अनशनादि तप के द्वारा क्षुधा पर विजय प्राप्त करना अर्थात् क्षुधा से आकुलता का अनुभव नहीं करना आहार विजय है। निश्चित अवधि तक एक ही आसन से स्थित रहना, कमर या पीठ आदि में कष्ट होने पर भी आकुलित नहीं होना आसन विजय है और स्वाध्याय आदि के कारण निद्रा को जीतना निद्रा विजय है। जिस प्रकार पुरुष यौवन अवस्था में अनशन अवमौदर्य आदि तीव्र तपों के द्वारा आहार विजय, आसन विजय तथा निद्रा विजय करता है उस प्रकार वृद्धावस्था में नहीं कर सकता इसलिए जब तक आहार, आसन और निद्रा पर विजय है। आचार शास्त्र में सल्लेखना कराने के लिए अड़तालीस निर्यापक मुनियों की आवश्यकता बताई है उनकी अपेक्षा न कर जब तक यह मनुष्य स्वयं निर्यापक बन कर अपने आपको तारने में समर्थ रहता है, क्योंकि दूसरे मुनि तो सहायक मात्र हैं अपने परिणामों की दृढ़ता ही मनुष्य को परीषह आदि की बाधा से बचाती है। शिर, भुजा आदि अंग हैं और इनके सिवाय अंगों के जो अवयव हैं वे उपांग हैं। जैसा कहा है–

चरणयुगं बाहुयुगं पृष्ठकटी मस्तकादि वक्षश्च।
एतान्यङ्गान्यष्टौ देहे शेषाण्युपाङ्गानि ॥इति॥

न केवलं अंगोपांगानि शिथिलायन्ते **सन्धिबन्धाइं** सन्धिबन्धाश्च शरीरेऽस्थ्नां सन्धयः सन्धानानि तेषां बन्धः शिरास्नायुजालेन परस्परजड़ीकरणानि। न केवलमङ्गोपाङ्गसन्धिबन्धाः शिथिलायन्ते। **जाम ण कम्पइ** यावच्च न कम्पते॥ कोसौ। **देहो** देहः शरीरं। कस्मात्। **भयेण** भयात्। कस्य। **मिच्चुस्स** मृत्योः देहात् प्राणसमुदायविघटनसामर्थ्ययुक्तनिजार्जितायुः कर्म-भवस्थितिपरिसमापक समयलक्षण-कालस्य। क इव। **भीउच्च** भीत इव त्रासयुक्त इव। यथा कश्चन अतिरौद्ररूपसिंहव्याघ्रताडनमारणादि-कारणेभ्यो भीतः कम्पते तथायं देहो मरणभयात् कम्पते, वृद्धावस्थायां हि शरीरे स्वयं कम्पः सञ्जायते। यावदी-दृगवस्थाकारिणी वृद्धावस्था न समायाति तावद्यौवनमध्यावस्थायां सत्यां स संन्यासार्हो भवतु इत्यग्रे वक्ष्यतीति तात्पर्यं। न केवलं देहो मृत्योर्भयात् कम्पते। **जाम ण वियलइ** यावन्न विगलति। कोसौ। **उज्जमो** उद्यमः कार्यारम्भाय समुत्साहलक्षणः। केषु? **संजमतवणाणझाणजोएसु** संयमतपो-ज्ञानध्यानयोगेषु। तत्र संयमः इन्द्रिय-

---

चरणयुग मिति—दो पैर, दो भुजा, पीठ, कमर, मस्तक और वक्षस्थल ये शरीर में आठ अंग हैं और शेष उपांग है। शरीर में हड्डियों का जो परस्पर में मिलन है उसे संधि या संधान कहते हैं। हड्डियों का परस्पर में बन्धन नसों तथा स्नायु के समूह से हो रहा है। जब तक अंगोपांग और शरीर के सन्धियों के बन्धन शिथिल नहीं हो गए हैं। शरीर से प्राणों के समूह को विघटित करने की सामर्थ्य से युक्त अपने द्वारा अर्जित आयु के कारण पर्याय की स्थिति का समाप्त हो जाना मृत्यु कहलाती है। इस मृत्यु के भय से ही मानो जब तक शरीर नहीं काँपने लगता है, जिस प्रकार कोई मनुष्य अत्यन्त भयंकर सिंह, व्याघ्र अथवा ताड़न या मारणादि के कारणों से काँपने लगता है, इसी प्रकार वृद्ध मनुष्य का शरीर कांपने लगता है। वृद्ध मनुष्य का शरीर यद्यपि स्वयं काँपता है तथापि यहाँ उत्प्रेक्षालंकार से कल्पना की गई है मानो मरण के भय से काँप रहा है। तात्पर्य यह है कि जब तक ऐसी अवस्था करने वाली वृद्धावस्था नहीं आ जाती, तब तक यौवन अवस्था के रहते हुए यह मनुष्य संन्यास धारण करने के योग्य है। इन्द्रियसंयम और प्राणसंयम की अपेक्षा संयम के दो भेद हैं। अनशन, अवमौदर्य आदि के भेद से तप अनेक प्रकार का है, शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान को ज्ञान कहते हैं, धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्यान कहते हैं तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, आध्यान और समाधि यह आठ प्रकार का योग है। इन संयम, तप, ज्ञान, ध्यान और योग में जब तक अपना उद्यम अर्थात् कार्य प्रारम्भ करने का उत्साह नष्ट नहीं हुआ है। वृद्धावस्था आने पर संयमादि विषयक उद्यम प्रत्येक समय क्षीण होता जाता है जैसा उद्यम-उत्साह यौवन अवस्था में रहता हैं वैसा वृद्धावस्था में नहीं रहता इसलिए वृद्धावस्था जब तक नहीं आती है तभी तक पुरुष संन्यास धारण करने के योग्य होता है। चारों गाथाओं का समुच्चय अर्थ यह है कि जब तक

प्राणादिसंयमनलक्षण:, तप: अनशनावमौदर्यादिलक्षणैर्बहुप्रकार:, ज्ञानं श्रुतज्ञानं, ध्यानं धर्मशुक्लरूपं, योग: यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिलक्षण:। संयमश्च तपश्च ज्ञानं च ध्यानं च योगश्च संयमतपोज्ञानध्यानयोगास्तेषु। वृद्धावस्थायां हि संयमादिविषये उद्यम: स समयं समयं विगलति एव। यथा यौवनावस्थायां समुत्साहस्तेषु समुदयति तथा न भवतीति। यावत्वृद्धावस्था न समायाति तावत्स पुरुष: उत्तमस्थानस्यार्ह: संपद्यते इति तात्पर्यं। उक्तं च–

''यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुष:।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्य: प्रयत्नो महान्
सन्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यम: कीदृश:'' ॥२५/२६/२७/२८॥

व्यवहारार्हलक्षणं प्रपञ्च्य इदानीं निश्चयार्हलक्षणं कथयति–

सो सण्णासे उत्तो णिच्छयवाईहिं णिच्छयणएण।
ससहावे विण्णासो [१]सवणस्स वियप्परहियस्स ॥२९॥

वृद्धावस्थारूपी बाघिन झपाटा नहीं मारती, जब तक इन्द्रियाँ विकल नहीं होती, जब तक हेयोपादेय का विचार करने वाली बुद्धि नष्ट नहीं होती, जब तक आयुरूपी जल गलकर क्षीण नहीं होता, जब तक अपने आप में आहार, आसन और निद्राविजय की सामर्थ्य है, जब तक स्वयं निर्यापकाचार्य बनकर अपने परिणामों को स्थिर रखने की सामर्थ्य है, जब तक अंगोपांग और सन्धियों के बन्धन ढीले नहीं पड़ते, जब तक मृत्यु के भय से मानों शरीर कंपित नहीं होता और जब तक संयम, तप, ज्ञान, ध्यान तथा योग में उत्साह नष्ट नहीं हुआ है तभी तक यह पुरुष संन्यास धारण करने के योग्य रहता है।

ये सब दोष वृद्धावस्था आने पर प्रकट होते हैं इसलिए वृद्धावस्था आने के पूर्व ही संन्यास धारण करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है–

यावदिति–जब तक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, जब तक वृद्धावस्था दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति अखण्डित है और जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है, तभी तक विद्वान् को आत्मकल्याण के विषय में बहुत भारी प्रयत्न कर लेना चाहिए क्योंकि भवन के जलने लगने पर कुँआ खुदवाने का उद्यम कैसा ? ॥२५,२६,२७,२८॥

इस प्रकार व्यवहारनय से अर्ह का लक्षण प्रकट कर अब निश्चयनय से अर्ह का लक्षण कहते हैं–

सो सण्णास इति–गाथार्थ–(विप्परहियस्स) विकल्परहित जिस **(सवणस्स)** मुनि का **(ससहावे)** अपने स्वभाव में **(विण्णासो)** अवस्थान है। **(सो)** वह **(णिच्छयवाईहिं)** निश्चयवादियों के द्वारा **(णिच्छयणएण)** निश्चयनय से **(सण्णासे)**–संन्यास के विषय में **(अरिहो)** अर्ह–योग्य **(उत्तो)** कहा गया है ॥२९॥

१.श्रवणस्य प०

उत्तो उक्तः कथितः। कैः? **णिच्छयवाईहिं** निश्चयवादिभिः। केन कृत्वा? **णिच्छयणएण** निश्चयनयेन। कोसौ? अर्हः अत्रास्याध्याहारः अस्यैवाधिकारप्रतिपादनत्वात्। क्व? संन्यासे समाधिलक्षणे। कः? **सः**। स इति कः? यस्य **सवणस्स** [१]श्रमणस्य आचार्यस्य अस्ति। कोसौ। **विण्णासो** विन्यासः विन्यसनं स्थापनमित्यर्थः। क्व विन्यासः? **ससहावे** स्वस्वभावे समस्तदेहादिविभावपरिणामविलक्षणसहजशुद्ध-चिदानन्दसन्दोहनिर्भरे स्वस्वरूपे। किं विशिष्टस्य श्रमणस्य? विकल्परहितस्य शरीरकलत्र-पुत्रादिजनित-समस्तविकल्पवर्जितस्य विकल्परहितश्रमणस्य यस्य स्वस्वभावे विन्यासः स निश्चयनयेन निश्चयवादिभिः संन्यासार्ह उक्त इत्यन्वर्थः ॥२९॥

इत्युक्तलक्षणार्हो भूत्वा पुमान् अन्यत् किं कृत्वा निरालम्बमात्मानं भावयति इति पृष्टे खित्ताइ बहिराणमित्याह–

खित्ताइ बाहिराणं अब्भिंतरमिच्छपहुदिगंथाणं।
[२]चाए काऊण पुणो भावह अप्पा [३]णिरालंबो ॥३०॥

भावह भावयत आराधयत। कथं। पुनः। कं? **अप्पा** आत्मानं। किं विशिष्टं? **णिरालंबो** निरालम्बं केवलस्वस्वरूपावलम्बनत्वात्सकलपरद्रव्यचिंताजनितविकल्पपरित्यागेन निर्गतो विनष्टः पदस्थ-पिंडस्थ-रूपस्थरूपातीतादिरूपोप्यालम्बो यस्मात् स निरालम्बः तं निरालम्बं। किं कृत्वा। **चाए काऊण** त्यागं कृत्वा मुक्तस्य वस्तुनश्छर्दितवत्पुनरादानाभावलक्षणस्त्यागः तं। केषां? **खित्ताइबाहिराणं** क्षेत्रादिबाह्यानां क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डबाह्य-परिग्रहाणां। उक्तं च–

टीका–इस गाथा में अर्ह पद का अध्याहार किया गया है क्योंकि इसी के अधिकार का प्रतिपादन चल रहा है। शरीर, स्त्री, पुत्र आदि से उत्पन्न होने वाले समस्त विकल्पों से रहित जिस मुनि की स्थिति समस्त शरीरादि विभाव परिणामों से भिन्न सहज-शुद्ध-चिदानन्द से परिपूर्ण आत्मस्वभाव में रहता है वह संन्यास धारण करने के योग्य है ऐसा निश्चय वादियों ने निश्चयनय से कहा है ॥२९॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से संन्यास योग्य हुआ पुरुष अन्य क्या कार्य करके निरालम्ब आत्मा की भावना करता है ऐसा पूछे जाने पर आचार्य खित्ताई–आदि गाथा कहते हैं–

खित्ताइ इति–गाथार्थ–(खित्ताइबाहिराणं) क्षेत्र आदि बाह्य और **(मिच्छपहुदि अब्भिंतर–गंथाणं)** मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रहों का **(चाए)** त्याग **(काउण)** करके **(पुणो)** पश्चात् **(णिरालंबो)** निरालंब **(अप्पा)** आत्मा की **(भावह)** भावना करो ॥३०॥

टीका–यहाँ से तीन गाथाओं में संगत्याग अधिकार का वर्णन है। संग परिग्रह को कहते हैं, उसके बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो भेद हैं। खेत-मकान, चाँदी-सोना, धन-धान्य, दासी-दास, वस्त्र तथा बर्तन आदि बाह्य परिग्रह हैं। जैसा कि कहा है–

---

१. श्रवणस्य प०, २. चायं ग०। ३. णिरारंभो ग०।

"सयणासणघरछित्तं सुवण्णधणधण्णकुप्पभंडाइं।
दुपयचउप्पय जाणसु एदे दस बाहिरा गंथा॥"

ननु खित्ताइ बाहिराणमित्युक्ते ग्रन्थशब्दः कुतो लभ्यते। अग्रे प्रयुक्तत्वेनोपलक्षणत्वात्। न केवलं क्षेत्रादिबाह्यग्रन्थानां त्यागं कृत्वा। **अब्भंतरमिच्छपहुदिगंथाणं** अभ्यंतरमिथ्यात्वप्रभृतिग्रन्थानां अभ्यन्तरेऽशुद्धनिश्चयनयं परित्यज्य शुद्धनिश्चयनयप्रवर्तित आत्मनि मिथ्यात्वप्रभृतिग्रन्था मिथ्यात्व-वेदरागहास्यादिषड्दोषचतुष्कषायलक्षणाश्चतुर्दश परिग्रहास्तेषां। उक्तं च–

"मिच्छत्तवेयराया हासादीया य तह य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया अब्भंतर चउदसा गंथा॥"

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं त्यक्त्वा निरालंबमात्मानमाराधय इति तात्पर्यम् ॥३०॥

सयणासणोति—१. शयन, २. आसन, ३. घर, ४. खेत, ५. सुवर्ण, ६. धन, ७. धान्य, ८. वस्त्र, ९. बर्तन और १०. द्विपद तथा चतुष्पद ये दस बाह्य परिग्रह जानो।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि गाथा के '**खित्ताइ बाहिराणं**' इस पद में ग्रन्थ शब्द कहाँ से लिया जाता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि '**मिच्छ पहुदिगंथाणं**' इस आगामी पद में ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए उपलक्षण से '**खित्ताइ बाहिराणं**' इस पद में भी ग्रन्थ शब्द ले लिया जाता है। मिथ्यात्व, वेद सम्बन्धी राग, हास्यादिक छह दोष और चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं। जैसा कि कहा है–

मिच्छत्तेति—१. मिथ्यात्व, २. स्त्रीवेद, ३. पुरुषवेद,४. नपुंसक वेद, ये तीन वेद सम्बन्धी राग ५. हास्य, ६. रति, ७. अरति, ८. शोक, ९. भय, १०. जुगुप्सा, ये छह दोष तथा ११. क्रोध, १२. मान, १३. माया और १४ लोभ ये चार कषाय सब मिलाकर चौदह प्रकार का अन्तरंग परिग्रह है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रह आत्मा में हैं क्योंकि यह आत्मा की ही अशुद्ध परिणति है। परन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा ये आत्मा के नहीं है। क्षपक को इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग वमन की हुई वस्तु के समान उस प्रकार करना चाहिए कि जिससे फिर ग्रहण करने का भाव न हो अर्थात् जिस प्रकार वमन की हुई वस्तु को फिर ग्रहण करने का भाव नहीं होता है उसी प्रकार छोड़े हुए परिग्रह को फिर ग्रहण करने का भाव नहीं होना चाहिए। इस तरह परिग्रह का त्याग कर क्षपक निरालम्ब आत्मा में अपना उपयोग स्थिर करे। मात्र ज्ञान दर्शन स्वरूप का आलम्बन लेकर जब आत्मस्वरूप का चिन्तन किया जाता है तब समस्त परद्रव्य के सम्बन्ध से होने वाले विकल्पों का परित्याग स्वयं हो जाता है। इतना ही नहीं, पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत नामक जो धर्म्यध्यान के आलम्बन हैं वे भी छूट जाते हैं। इस प्रकार निरालम्ब आत्मस्वरूप में उपयोग स्थिर करने से क्षपक कर्मक्षय करने के लिए अग्रसर होता है ॥३०॥

नन्वेतेन ग्रन्थपरित्यागेनात्मनः किं फलं भवतीति वदन्तं प्रत्याह–

सङ्गच्चाएण फुडं जीवो परिणवइ उवसमो परमो।
उवसमगओ हु जीवो अप्पसरूवे थिरो हवइ॥३१॥

परिणमइ परिणमति प्राप्नोति। कोसौ? **जीवो** जीवः आत्मा। कं? **उवसमो** उपशमं रागादि-परिहारलक्षणं। कथंभूतं? **परमो** परम उत्कृष्टकोटिप्राप्तं। केन कारणेन? **सङ्गच्चाएण** सङ्गत्यागेन बाह्याभ्यन्तरसङ्गपरित्यागेन **फुडं** स्फुटं निश्चितं। ननु उपशमं प्राप्त आत्मा कथंभूतो भवतीति प्रश्नोत्तरमाह। **हवइ** भवति। कोसौ। जीवः। कथंभूतस्तु। **उवसमगओ** हु उपशमगतस्तु उपशमगतोयं जीवः। कथंभूतो भवति। **थिरो** स्थिरः प्रचालयितुमशक्यः। क्व? **अप्पसरूवे** स्वकीये परमात्मस्वरूपे यत उपशमगतोयमात्म-स्वरूपे स्थिरीभवति। उपशमस्तु सङ्गत्यागेन जन्यते तत उपशमहेतुभूतं सङ्गत्यागं विधाय परमात्मानमाराधयतेति तात्पर्यार्थः ॥३१॥

ननु ग्रन्थवानप्यात्माराधको घटते चित्तनिर्मलीकरणत्वात् किं ग्रन्थपरित्यागविकल्पेनेत्याशङ्कयाह–

[१]जाम ण गंथं छंडइ [२]ताम ण चित्तस्स मलिणिमा [३]मुंचइ।
दुविहपरिग्गहचाए णिम्मलचित्तो हवइ खवओ॥३२॥

आगे कोई शिष्य प्रश्न करता है कि इस परिग्रह त्याग से आत्मा को क्या फल होता है ? ऐसा कहने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

संगच्चाएणेति–गाथार्थ–(संगच्चाएण) परिग्रह के त्याग से **(जीवो)** जीव **(फुड)** स्पष्ट ही **(परमो उवसमो)** परम उपशम भाव को **(परिणवइ)** प्राप्त होता है **(दु)** और **(उवसमगओ)** उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव **(अप्पसरूवे)** आत्मस्वरूप में **(थिरो)** स्थिर **(हवइ)** होता है ॥३१॥

टीका–परिग्रह त्याग का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि परिग्रह त्याग करने से जीव निश्चितरूप से रागादि विकारों के परित्यागरूप उत्कृष्ट उपशमभाव को प्राप्त होता है और उपशमभाव को प्राप्त हुआ जीव नियम से आत्मस्वरूप में स्थिर होता है। यतश्च उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होता है और उपशम भाव परिग्रह त्याग से उत्पन्न होता है। इसलिए क्षपक को चाहिए कि वह उपशमभाव की प्राप्ति के कारणभूत परिग्रह त्याग कर परमात्मा की आराधना करे ॥३१॥

आगे शिष्य फिर प्रश्न करता है कि परिग्रहवान् जीव भी तो आत्मा का आराधक होता है क्योंकि वह भी चित्त को निर्मल कर सकता है अतः परिग्रह त्याग के विकल्प की क्या आवश्यकता है? ऐसी आशंका उठाकर आचार्य कहते हैं–

---

१. जाव ग०, २. ताव ग०, ३. मुवइ ग०।

ण छंडइ न त्यजति। कोसौ? स पूर्वोक्त आराधकः। कथं? **जाव** यावत् यावत्कालं। कं? **गंथं**। ग्रन्थं परिग्रहं **ताम ण मुयइ** तावत्कालं न मुञ्चति। कं? **मलिणिमा** मलिनिमानं मलिनत्वं। कस्य? **चित्तस्स** चित्तस्य यावत्कालपरिमाणं ग्रन्थं न त्यजति तावत्कालं चित्तमलिनतां न मुञ्चति इत्यर्थः। द्विविधपरिग्रहत्यागी कथंभूतो भवतीत्याह। **हवइ** भवति। कोसौ। **खवओ** क्षपकः कर्मक्षपणशीलः। कथंभूतो भवति। **णिम्मलचित्तो** निर्मलचित्तः रागद्वेषादिजनितसकलकालुष्यरहितचेताः। किं कृते सति? **दुविहपरिग्गहचाए** द्विविधपरिग्रहत्यागे बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्विविधपरिग्रहत्यागे कृते सति यः कश्चिदात्मानमाराधयितुकामः स पूर्वं चित्तशुद्ध्यै चित्तकालुष्यहेतून् परिग्रहान् ममैतेभ्यः समाधानं जायते इतीमां शङ्कामपि विहाय परमात्मानं भावयेति तात्पर्यम् ॥३२॥

ननु सामान्यनिर्ग्रन्थलक्षणमवादि भवद्भिरिदानीं परमार्थनिर्ग्रन्थस्वरूपं श्रोतुकामोऽहं भगवन् श्रावयेति वदन्तं प्रत्याह–

देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो।
तेसिं चाए खवओ परमत्थे[1] हवइ णिग्गंथो ॥३३॥

जाम ण गंथं इति–गाथार्थ–(आराहओ) आराधक **(जाम)** जब तक **(गंथं)** परिग्रह को **(ण छंडइ)** नहीं छोड़ता है **(ताम)** तब तक **(चित्तस्स)** मन की **(मलिणिमा)** मलिनता को **(ण मुंचइ)** नहीं छोड़ता है **(खवओ)** क्षपक **(दुविह परिग्गहचाए)** दो प्रकार के परिग्रह के त्याग से ही **(णिम्मलचित्तो)** निर्मल चित्त **(हवइ)** होता है ॥३२॥

टीका–आराधना करने वाला पुरुष जब तक द्विविध परिग्रह को नहीं छोड़ता है तब तक चित्त की मलिनता–रागादि जनित कलुषता को नहीं छोड़ता है। इसलिए चित्त की कलुषता को छोड़ने के लिए परिग्रह का छोड़ना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की आराधना करने का इच्छुक क्षपक, पहले ही चित्त की शुद्धता के लिए चित्त की कलुषता में कारणभूत परिग्रहों को और इनसे मुझे समाधान होता है ऐसी आशंका को भी छोड़कर परमात्मा का ध्यान करे ॥३२॥

आगे शिष्य कहता है कि आप ने सामान्य निर्ग्रन्थ का स्वरूप तो कहा अब परमार्थ निर्ग्रन्थ का स्वरूप सुनना चाहता हूँ सो हे भगवन् सुनाइए इस तरह कहते हुए शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

देहो इति–गाथार्थ–(देहो) शरीर **(बाहिर गंथो)** बाह्य परिग्रह है और **(अक्खाण)** इन्द्रियों के **(विसय अहिलासो)** विषयों की अभिलाषा होना **(अण्णो)** अन्तरंग परिग्रह **(अत्थि)** है। **(तेसिं)** उन दोनों परिग्रहों का **(चाए)** त्याग होने पर **(खवओ)** क्षपक **(परमत्थे)** परमार्थ से **(णिग्गंथो)** निर्ग्रन्थ **(हवइ)** होता है ॥३३॥

---

१. परमट्ठे ग०।

हवइ भवति। कोसौ। **खवओ** क्षपकः। कथंभूतो भवति। **णिग्गंथो** निर्ग्रन्थः।

एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः॥

इति श्लोकार्थाभिप्रायप्रवर्तनतया केवलं निजात्मद्रव्योपादानत्वात्सर्वसङ्गसंन्यासी। केन। **परमत्थे** परमार्थेन निश्चयेन। किं कृते सति? **चाए** त्यागे कृते सति। कयोः? **तेसिं** तयोः। तयोरिति तौ द्वौ प्रत्येकं कथयति। भवति। कोसौ। **बाहिरगंथो** बाह्यग्रन्थः बाह्यपरिग्रहः। कः सः। देहः शरीरं भवति च। कोसौ। **अण्णो** अन्यः बाह्यादन्यत्वादन्यः अभ्यन्तरग्रन्थ इत्यर्थः। स कः? **विसयअहिलासो** विषयाभिलाषः विषयवांछा। केषां। **अक्खाण** अक्षाणां इन्द्रियाणां। परमार्थेन देह एव बाह्यग्रन्थः सर्वैः प्रत्यक्षत्वात् परमार्थेनेन्द्रियाणां विषयाभिलाष अभ्यन्तरग्रन्थः अकायवाग्व्यापारे परेंद्रियैरप्रत्यक्षत्वात् इत्युक्त-लक्षणयोर्बाह्याभ्यन्तरग्रन्थयोस्त्यागे कृते सति परमार्थनिर्ग्रन्थो भवन् स्वस्वरूपाराधको भवतीत्यभिप्रायः ॥३३॥

एवं गाथाचतुष्टयेन सङ्गत्यागो व्याख्यातः, अधुना क्रमायातायाः कषायसल्लेखनाया व्याख्यानं गाथाषट्केन कृत्वा आचार्यो निरूपयतीति समुदायपातनिका ॥३३॥

ननु कषायसल्लेखनाकारी क्षपको यः स कथंभूतो भवतीति वदन्तं प्रत्याह–

इंदियमयं सरीरं णियणियविसएसु तेसु गमणिच्छा।
ताणुवरिं हयमोहो मन्दकसाई हवइ खवओ ॥३४॥

टीका—गाथा में परमार्थ से निर्ग्रन्थ का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं–

एको मे—ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, संयोग लक्षण वाले अन्य समस्त पदार्थ मुझसे बाह्य हैं।

इस श्लोक में प्रतिपादित अर्थ के अनुसार प्रवृत्ति करने से जो मात्र निज आत्म द्रव्य को ग्रहण करता है वह परमार्थ से सर्वपरिग्रह का त्यागी होता है। परमार्थ से शरीर ही बाह्य परिग्रह है क्योंकि वह सभी को प्रत्यक्ष दिखाई देता है और इन्द्रियों की विषयाभिलाषा अन्तरंग परिग्रह है क्योंकि वह शरीर और वचन सम्बन्धी व्यापार से रहित होने के कारण अन्य पुरुषों की इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से युक्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग होने पर जो परमार्थ से निर्ग्रन्थ होता है वही स्वरूप का आराधक होता है।

इस प्रकार चार गाथाओं द्वारा संगत्याग अधिकार का वर्णन किया। अब क्रम प्राप्त कषाय सल्लेखना का छह गाथाओं में आचार्य निरूपण करते हैं ॥३३॥

आगे शिष्य पूछता है कि कषाय सल्लेखना को करने वाला शिष्य कैसा होता है? इस प्रकार पूछते हुए शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

इंदियमयं इति—(इंदियमयं सरीरं) इन्द्रियों के तन्मय शरीर **(तेसु णियणिय विसयेसु)**

हवइ भवति। कोसौ? **खवओ** क्षपकः। किं भवति? **मन्दकसाई** मन्दकषायी। किं विशिष्टः। क्षपकः। **हतमोहो** हतमोहः हतो निराकृतो मोहो मूर्च्छा ममत्वपरिणामो येन स हतमोहः। क्व? **उवरिं** उपरि। केषां? तेषां स्वस्वविषयाणां। तेषामुपरीति किं तदेवस्पष्टमाह। भवति तत् शरीरं। किं भवति? **गमणिच्छा** गमनेच्छं गमने इच्छा यस्य तत् गमनेच्छं जिगमिषु। क्व? **तेसु** तेषु **णियणियविसएसु** निजनिजविषयेषु स्वकीयस्वकीय स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दलक्षणेषु विषयेषु इत्युक्ते शरीरादावतिव्याप्तिः तन्निरासार्थं **इंदियमयं** स्पर्शनादि-लक्षणैरिन्द्रियैर्निर्वृतं इन्द्रियमयं। तथा च मन्दकषायी शब्दोत्र संज्ञात्वेन कल्पितः अन्यथा मन्दाश्च ते कषायाश्चेति कर्मधारय- समासे कृते मत्वर्थीयसमासो न घटते ''न कर्मधारयान्मत्वर्थीय'' इति निषेधसूत्रदर्शनात्। तस्मात्कषायाणां तीव्रोदयाभावादनन्तानुबन्धिचतुष्टयस्य क्षयात् क्षयोपशमाद्वा मन्दकषायत्वं सङ्केतितं। मन्दकषायो अस्यास्तीति मन्दकषायी। अथवा मन्दाः कषाया यस्मिन् कर्मणि तत् मन्दकषायं तदस्यास्तीति। य एव कषायान् मन्दान् करोति स एव इन्द्रियाणामुपरि हतमोहो भवति। एवं ज्ञात्वा कषायान् जित्वा

अपने उन उन विषयों में **(गमणिच्छा)** गमनशील है **(ताणुवरिं)** उन विषयों के ऊपर **(हयमोहो)** जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा **(खवओ)** क्षपक **(मंदकसाई)** मन्दकषायी **(हवइ)** होता है ॥३४॥

टीका—शरीर स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों से तन्मय है अर्थात् पाँच इन्द्रियों का समूह ही शरीर है। वह शरीर स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दरूप अपने अपने विषयों में निरन्तर गमन करना चाहता है। मोह का अर्थ मूर्च्छा भाव अथवा ममत्व परिणाम है उन इन्द्रिय विषयों पर जिस क्षपक की मूर्च्छा नष्ट हो गई है वह मन्दकषायी होता है। वास्तव में क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति, इन्द्रिय सम्बन्धी इष्ट विषयों की प्राप्ति न होने पर होती है। इसलिए जिसने इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों पर मूर्च्छा को रोक लिया है, उसके कषाय की मन्दता अनायास होती है। यहाँ कषाय सल्लेखना अधिकार में सर्वप्रथम कषाय सल्लेखना–कषायकृश करने का उपाय आचार्यों ने बतलाया है कि इन्द्रिय विषयों पर नियन्त्रण किया जावे। जिसने इन्द्रिय विषयों पर नियन्त्रण कर लिया, उसके कषाय का कृश करना सरल हो जाता है। गाथा में जो मन्दकषायी शब्द है उसे रूढ़ि से संज्ञावाची समझना चाहिए अन्यथा '**मन्दाश्च ते कषायाश्च**' इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर उससे मत्वर्थीय इन् प्रत्यय नहीं हो सकेगा। क्योंकि '**न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः**' इस सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरणादि अन्य कषायों के तीव्रोदय के अभाव होने तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय या क्षयोपशम होने से क्षपक के मन्दकषायता कही गई है। अथवा मन्दकषायोऽस्यास्तीति मंद कषाय जिसके है इस विग्रह में मन्दकषाय शब्द से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय होकर मन्दकषायी शब्द होता है। अथवा '**मन्दाः कषाया यस्मिन्कर्मणि तत् मन्द कषायं**' ऐसा विग्रह कर मन्दकषाय शब्द बनता है और उससे '**तदस्यास्तीति**' इस विग्रह के अनुसार इन् प्रत्यय होता है। यहाँ तात्पर्य ऐसा है कि जो कषायों को मन्द करता है वही इन्द्रियों के ऊपर हतमोह ममता को नष्ट करने वाला होता है ऐसा जानकर कषायों को जीतकर तथा

शरीरेन्द्रियविषयेषु हतमोहो भूत्वा परमात्मानमाराधयेत्यर्थः ॥३४॥

ननु अजितकषायस्य बाह्ययोगेनैव शरीरस्यापि संन्यासं कुर्वाणस्य मुनेः या सल्लेखना सा किं विफला चेति वदन्तं प्रत्याह–

सल्लेहणा सरीरे बाहिरजोएहि जा कया मुणिणा।
सयलावि सा णिरत्था [1]जाम कसाए ण सल्लिहदि[2] ॥३५॥

भवतीत्यध्याहार्य व्याख्यायते। भवति। कासौ? **सा सल्लेहणा** सा सल्लेखना। किं भवति? **णिरत्था** निर्गतः सकलक्षयमोक्षलक्षणोर्थः प्रयोजनो यस्याः सा निरर्था निष्फला। कथंभूतापि। **सयलावि** सकलापि समस्तापि सेति का? या। का या? या कृता। केन? **मुणिणा** मुनिना महात्मना। कैः कारणभूतैः **बाहिरजोएहि** बाह्ययोगैः अशेषकर्मधर्मजनितसन्तापविनाशहेतुभूत–साम्यविराजमानशुद्धपरमात्म–संलीनमनोयोगविलक्षणैः शीतातपवातोर्ध्वसंस्थानादेशदानादि–कायवाग्व्यापारनिरोधलक्षणैर्बाह्ययोगैः। क्व? शरीरे। कियत्कालं निरर्था स्यादित्याह। **जाम ण सल्लिहदि** यावन्न सल्लिखति यावन्न परित्यजति। कान्। **कसाए** कषायान् कषन्ति

शरीर और इन्द्रियों के विषयों में हतमोह होकर परमात्मा की आराधना करना चाहिए ॥३४॥

आगे शिष्य पूछता है कि जिसने कषायों को तो जीता नहीं है सिर्फ बाह्य योगों के द्वारा जो शरीर का संन्यास कर रहा है ऐसे मुनि की जो सल्लेखना है वह क्या निष्फल है ? ऐसे पूछने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

सल्लेहणा इति–गाथार्थ–(मुणिणा) मुनि के द्वारा **(बाहिरजोएहि)** आतापन आदि बाह्य योगों के द्वारा **(सरीरे जा सल्लेहणा कया)** शरीर की जो सल्लेखना की गई है। **(सा सयलावि)** वह सब की सब **(ताव णिरत्था)** तब तक निरर्थक है **(जाम)** जब तक वह **(कसाए न सल्लिहदि)** कषायों की सल्लेखना नहीं करता ॥३५॥

टीका–समस्त कर्मों के स्वभाव से समुत्पन्न संताप के विनाश का कारणभूत जो साम्यभाव उससे सुशोभित शुद्ध परमात्म में सम्यक् प्रकार से लीन मनोयोग से विलक्षण जो [3]शीतयोग, [4]आतपयोग, [5]वर्षायोग, [6]ऊर्ध्वसंस्थानयोग तथा [7]अदेशदान योग आदि शरीर और वचन सम्बन्धी व्यापार के निरोध रूप बाह्य योग हैं, उनके द्वारा शरीर की सल्लेखना करना तब तक निष्फल है जब तक कषायों की सल्लेखना नहीं की जाती। जो आत्मा से चारित्ररूप परिणाम को कसे–नष्ट करे उसे कषाय कहते हैं, मुनि को सर्वप्रथम इस कषाय की ही सल्लेखना करना चाहिए। आतापनादि बाह्य

---

१. वातोर्ध्व प० म०, २. जाव ग०। ३. शीतऋतु में खुले स्थान में ध्यान करना शीतयोग है। ४. ग्रीष्मऋतु में पर्वत की चट्टानों आदि पर तप करना आतपयोग है। ५. वर्षाऋतु में वृक्षों के नीचे बैठकर ध्यान करना वर्षायोग है। ६. निश्चित अवधि तक खड़े रहकर ध्यान करना ऊर्ध्वसंस्थान योग है। ७. सिंह की गुफा तथा श्मशान आदि भयोत्पादक स्थानों में निर्भय होकर ध्यान करना अदेशदान योग है।

विनाशयन्ति। चारित्रपरिणाममिति कषायास्तान् मुनिना बाह्ययोगेन सा सल्लेखना कृता अन्तः कषायपरिणाम-सद्भावात् सकला विफला सा भवतीति मत्वा निष्कषायत्वं प्रपद्य परमात्मानमाराधयतेति तात्पर्यम् ॥३५॥

ननु भगवन् कषायेषु का शक्तिः एते जगतः किं कुर्वन्तीति पृच्छन्तं प्रत्याह–

अत्थि कसाया बलिया सुदुज्जया जेहि तिहुअणं सयलं।
भमइ भमाडिज्जंतो चउगइभवसायरे भीमे ॥३६॥

अत्थि संत्यर्थे वर्तते। के? **कसाया** कषायाः कथंभूताः। **बलिया** बलिनः अनादिकर्मबन्ध-वशादनन्तशक्तेरात्मनः स्ववशीकरणत्वात्, वीर्यवन्त इत्यर्थः। पुनः कथंभूताः। सुदुर्जया चतुर्थगुणस्थान-मारभ्योपशान्तकषायगुणस्थानावधिवर्तमानावस्थारणभूमौ मुनिमल्लैश्चिरस्वेच्छाचरणाधीनत्वान्निज-विनाशशङ्कामगणयन्तं प्रतिसमयं दृष्टश्रुतानुभूतपरपदार्थे प्रवर्तमानं परिणामं सङ्कोच्य पुनः पुनः स्वस्वरूपस्थापन-लक्षणेन दुःखेन जेतुं शक्या दुर्जयाः। तत्क्षणमनोविक्षेपकारित्वात् सुष्ठु अतिशयेन दुर्जयाः सुदुर्जयाः। नन्वादिमगुणस्थानत्रयं तत्र कषायसद्भावेपि किमर्थं परित्यक्तं श्रीमद्भिरितिचेत्। युक्तमुक्तं। परं तत्रादिम-

---

योगों में यदि भीतर कषायरूप परिणामों का सद्भाव रहता है तो उनके द्वारा होने वाली शरीर की सल्लेखना निरर्थक होती है। यहाँ सल्लेखना का अर्थ–प्रयोजन, समस्त कर्मों के क्षय से प्राप्त होने वाला मोक्ष है, उसके अभाव में शरीर सल्लेखना से यदि स्वर्गादिक की प्राप्ति भी होती है तो मूल प्रयोजन के अभाव में वह निरर्थक ही कही जाती है ॥३५॥

आगे शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! कषायों में कौन सी शक्ति है, ये कषायें जगत् का क्या करती हैं? इस प्रकार पूछते हुए शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

अत्थि कसाया इति–गाथार्थ–वे **(कसाया)** कषाय **(बलिया)** अत्यन्त बलवान और **(सुदुज्जया)** अत्यन्त कठिनाई से जीतने योग्य **(अत्थि)** हैं **(जेहि)** जिनके द्वारा **(भमाडिज्जतो)** घुमाया हुआ **(सयलं तिहुअणं)** समस्त त्रिभुवन **(भीमे चउगइभवसायरे)** भयंकर चतुर्गतिरूप संसार सागर में **(भमइ)** भ्रमण कर रहा है ॥३६॥

टीका–कषायों की शक्ति का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि ये कषायें अत्यन्त बलवान हैं क्योंकि इन्होंने अनादि कर्मबन्ध के कारण अनन्त शक्ति वाले आत्मा को अपने आधीन कर रखा है। साथ ही अत्यन्त दुर्जेय भी है क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक की रणभूमि में मुनिरूप मल्ल इन्हें जीतने का उद्यम करते हैं; इस बीच में मुनियों का परिणाम चिरकाल तक स्वेच्छाचारी रहने से अपने विनाश की शंका को न गिनता हुआ देखे, सुने और भोगे हुए परपदार्थों में प्रवृत्ति करता है, मुनि उसे संकुचित कर अर्थात् परपदार्थों से हटाकर बार–बार आत्मस्वरूप में लगाते हैं। इस तरह बड़ी कठिनाई से मुनि इन कषायों को जीत पाते हैं। ये कषाय तत्काल ही मन में विक्षेप क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं इसलिए दुर्जय नहीं सुदुर्जय हैं। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि पहले के तीन गुणस्थानों में भी तो कषाय का सद्भाव है उन्हें आपने क्यों

गुणस्थानत्रयेपि कषायान् जेतुम[1]नलं त्रप्लवो जीवाः तद्दृढतराधारस्वरूपप्ररूपण-निपुणमिथ्यात्वैकातपत्र-साम्राज्यात् तत्पक्षक्षपणप्रतिपक्षतादक्ष-सम्यक्त्वदृढतरप्रौढेरभावाच्च। **जेहिं** यैः कषायैः **भमाडिज्जंतो** भ्राम्यमानं सन् **तिहुयणं** त्रिभुवनं विश्वं **सयलं** समस्तं **भमइ** भ्रमति पर्यटति। क्व? **चउगइ भवसागरे** चतुर्गतिभवसागरे देवनरतिर्यग्नरकगत्युपलक्षितसंसारसमुद्रे। कथंभूते। भीमे रौद्रे विविधकर्मग्राहजनितदुःखानुभवनत्वात् इति मत्वा क्षपकेण शुद्धपरमात्मानं सिषेविषुणा दुर्जयाः कषाया एव पूर्वं तिरस्करणीया इति तात्पर्यार्थः ॥३६॥

ननु यावत्कषायवान् क्षपकः कषायान्न हन्ति तावत्किं-किं न स्यादित्याह-

[2]जाम ण हणइ कसाए स कसाई णेव संजमी होइ।
संजमरहियस्स गुणा ण हुंति सव्वे [3]विसुद्धियरा ॥३७॥

अत्रान्वयक्रमेण व्याख्यानं। **स कसाई** स पूर्वोक्तलक्षणः क्षपकः कषायीभूतः सन् **जाव** यावत्कालं **कसाए** कषायान् क्रोधादिलक्षणान् **ण हणइ** न हन्ति न निराकरोति तावदित्यध्याहारः "[4]**यत्तदोर्नित्य-**

छोड़ दिया ? इसका उत्तर यह है कि आदि के तीन गुणस्थानों में जीव कषायों को जीतने के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि उन गुणस्थानों में उनके अत्यन्त दृढ़ आधार का स्वरूप बतलाने में निपुण मिथ्यात्व का एक छत्र राज्य है और मिथ्यात्व के पक्ष को नष्ट करने वाली प्रतिकूलता में समर्थ सम्यग्दर्शन की अत्यन्त दृढ़ता का अभाव है। इन कषायों की बलिष्ठता और दुर्जेयता के कार्यों का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं कि इन कषायों के द्वारा घुमाया हुआ यह समस्त त्रिभुवन तीनों लोकों का समूह अत्यन्त भयंकर चतुर्गति रूप संसार-सागर में भ्रमण कर रहा है। इस संसाररूपी सागर में नाना प्रकार के कर्मरूपी मगरमच्छों से उत्पन्न दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिए वह अत्यन्त भयावह है। ऐसा जानकर शुद्ध परमात्मा की सेवा के इच्छुक क्षपक को दुर्जयकषाय पहले ही जीत लेना चाहिए ॥३६॥

आगे शिष्य पूछता है कि कषाय सहित क्षपक जब तक कषायों को नष्ट नहीं कर देता है तब तक उसके क्या क्या नहीं होता है ? इसका उत्तर कहते हैं-

जाम इति-गाथार्थ-(कसाई) कषाय से सहित **(स)** वह क्षपक **(जाम)** जब तक **(कसाए ण हणइ)** कषायों को नष्ट नहीं करता है **(ताव)** तब तक वह **(संजमी)** संयमी **(णेव होइ)** नहीं होता है और **(संजमरहियस्स)** संयम से रहित क्षपक के **(सव्वे गुणा)** समस्त गुण **(विसुद्धियरा)** विशुद्धि को करने वाले **(ण हुंति)** नहीं होते ॥३७॥

टीका-'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धम्' यत् और तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध होता है ऐसा कथन होने से गाथा में ताव-तावत् शब्द का अध्याहार होता है। **'णेवहोइ'** यहाँ एव शब्द निश्चय अर्थ में प्रयुक्त है। क्षपक जब तक कषायों को नष्ट नहीं कर लेता तब तक वह कषायी-कषायवान् रहता

---

१. मनलं त्रप्लवो [?] म० मनलंप्लबो प० [?] २. जाव ग०, ३. विसुद्धियरा ग०, ४. यत्तदो नित्यमितिसम्बन्ध वचतात् प०।

सम्बन्धमितिवचनात्'' **ताव** तावत्कालं **संजमी** संयमी संयमयुक्तः **ण होइ** न भवत्येव एवेत्यत्र निश्चयार्थे। कुतः यतः **संजमरहियस्स** संयमरहितस्य पुरुषस्य **सव्वे गुणा** सर्वे गुणाः सम्यग्दर्शनादयो गुणा **विसुद्धियरा** विशुद्धिकराः परिणामशुद्धिकारिणो **ण हुंति** न भवन्ति अतः परिणामशुद्धये कषायविजयेन संयममुरीकृत्य परमात्मानमाराधयत इति तात्पर्यम् ॥३७॥

ननु भगवन् कषायेषु किं करणीयं भवति मुनिभिस्तत्कृते किं फलं स्यादिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह–

तम्हा णाणीहिं सया किसियरणं हवइ तेसु कायव्वं।
किसिएसु कसाएसु अ [१]सवणो झाणे थिरो हवइ ॥३८॥

तम्हा तस्मात् कारणात् **णाणीहिं** ज्ञानिभिः विवेकिभिः **तेसु** तेषु कषायेषु **सया** सदा सर्वकालं **किसियरणं** कृशीकरणं स्वस्वरूपव्यवस्थापनेन परपदार्थप्रवर्तमानपरिणामपूरदूरीकरणं **कायव्वं** कर्तव्यं करणीयं **हवइ** भवति **किसिएसु** कृशितेषु संज्वलनतां गतेषु **कसाएसु** कषायेषु **अ** च सत्सु **झाणे** ध्याने

है, जब तक कषायवान् रहता है तब तक नियम से संयमी नहीं होता और जब तक संयमी नहीं होता तब तक उसके सम्यग्दर्शनादिक समस्त गुण परिणामों की शुद्धता को करने वाले नहीं होते इसलिए परिणामों की शुद्धता के लिए कषायों को जीतकर संयमी बनना चाहिए तथा संयमी बनकर परमात्मा की आराधना करना चाहिए ॥३७॥

आगे शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! कषायों के विषय में क्या करना चाहिए तथा मुनियों के द्वारा उसके किए जाने पर क्या फल होता है ? ऐसा पूछे जाने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

तम्हा इति–गाथार्थ–(तम्हा) इसलिए **(णाणीहिं)** ज्ञानी जीवों के द्वारा **(तेसु)** उन कषायों के विषय में **(सया)** सदा **(किसियरणं)** कृशीकरण–क्षीणीकरण **(कायव्वं)** करने योग्य **(हवइ)** है क्योंकि **(कसाएसुअ)** कषायों के **(किसिएसु)** कृश किए जाने पर **(सवणो)** मुनि **(झाणे)** ध्यान में **(थिरो)** स्थिर **(हवइ)** होता है ॥३८॥

टीका–कषायों का क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि विवेकीजनों के द्वारा कषायों का कृशीकरण किया जाना चाहिए अर्थात् अपने परिणाम जो परपदार्थों में प्रवर्तमान हो रहे हैं उन्हें परपदार्थों से हटाकर स्वस्वरूप में स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार कषाय कृश होकर जब संज्वलन अवस्था को प्राप्त हो जाती है तब मुनि को धर्म्य और शुक्लध्यान प्रकट हो जाते हैं तथा उनके प्रकट होने पर वह स्वरूप में स्थिर हो जाता है। वास्तव में ज्ञान की स्थिरता को ध्यान कहते हैं। ज्ञान की स्थिरता को खण्डित करने वाली कषाय है। जब तक कषाय तीव्रावस्था में रहती हैं तब तक ध्यान संभव नहीं है। परन्तु जब वे कृश होती–होती अत्यन्त मन्द अवस्था को प्राप्त होती हैं तब धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान प्रकट होते हैं और उनमें मुनि का उपयोग स्थिर हो

---

१. समणो ग०।

परमात्मस्वरूपचिन्तायां धर्मशुक्ललक्षणे **सवणो** [१]श्रमणो भट्टारको महात्मा विवेकी **थिरो** स्थिरो निश्चलात्मा **हवइ** भवति कषायकृशीकरणेन ध्यानस्थिरतां विधाय परमात्मानं चिन्तयेति तात्पर्यम् ॥३८॥

संन्यस्ताः कषायाः किं न कुर्वन्तीत्याह–

सल्लेहिया कसाया करंति मुणिणो ण चित्तसंखोहं।
चित्तक्खोहेण विणा पडिवज्जदि उत्तमं धम्मं ॥३९॥

सल्लेहिया सल्लेखिताः संन्यस्ताः परित्यक्ताः **कसाया** कषायाः **मुणिणो** मुनेर्महात्मनः **चित्तसंखोहं** चित्तसंक्षोभं मनोविक्षेपं **ण करंति** न कुर्वन्ति **चित्तक्खोहेण विणा** चित्तक्षोभेण विना मनोविक्षेपरहितेन उत्तमं परमकोटिमारूढं **धम्मं** धर्मः स्वस्वरूपस्वभावं प्रतिपद्यते स कषाय-संन्यासी मुनिः प्राप्नोति। स्वस्वरूपलाभाय भव्यैः कषायसंन्यासो विधेय इति रहस्यं ॥३९॥

एवं कषायसल्लेखनानिर्देशस्वरूप-कथनप्रपञ्चेन गाथाषट्कं।

गता कषायसल्लेखना। अधुना 'सीयाई' इत्यादि गाथासप्तकेन क्रमायातं च चतुर्थस्थलगतं परीषहजयं कारयति इति समुदायपातनिका।

तत्रादौ कति संख्याः परीषहाः किंस्वरूपा निर्दिष्टाः किं ते केन कर्तव्या इत्याह–

जाता है। इसलिए ध्यान की स्थिरता के लिए कषायों को कृश करना चाहिए ॥३८॥

आगे शिष्य पूछता है कि छोड़ी हुई कषाय क्या नहीं करती हैं ? इसका उत्तर कहते हैं–

सल्लेहिया इति–गाथार्थ–(सल्लेहिया) छोड़ी हुई कषाय **(मुणिणो)** मुनि के **(चित्तसंखोहं)** चित्त में क्षोभ नहीं करती है और **(चित्तक्खोहेण विणा)** चित्त में क्षोभ नहीं होने से मुनि **(उत्तमं धम्मं)** उत्तम धर्म को **(पडिवज्जदि)** प्राप्त होता है ॥३९॥

टीका–कषाय परित्याग का लाभ बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस मुनि ने कषायों का परित्याग कर दिया है उसके चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता और जिसके चित्त में क्षोभ नहीं होता वह उत्तम धर्म को प्राप्त होता है। मोह अर्थात् मिथ्यात्व और क्षोभ अर्थात् रागद्वेष से रहित आत्मा की जो साम्य परिणति है वह धर्म कहलाती है। ऐसा धर्म उसी मुनि को प्राप्त होता है जिसके चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ–रागद्वेष का विकल्प नहीं है। इसलिए उत्कृष्ट धर्म की प्राप्ति के अर्थ भव्य जीवों को कषाय का परित्याग करना चाहिए ॥३९॥

इस प्रकार कषाय सल्लेखनाधिकार के वर्णन में छह गाथा व्यतीत हुई। अब आगे **'सीयाई'** इत्यादि सात गाथाओं द्वारा चतुर्थ स्थलगत परीषहजय का वर्णन करते हैं।

सबसे पहले वे परीषह कितने हैं, उनका क्या स्वरूप है और किसे उनका सहन करना चाहिए यह कहते हैं–

१. श्रवणो प०।

सीयाई बाबीसं परिसहसुहडा हवंति णायव्वा।
जेयव्वा ते मुणिणा वरउवसमणाणखग्गेण ॥४०॥

सीयाई शीतादयः शीत आदिर्येषां क्षुत्पिपासादीनां ते शीतादयः **वावीसं** द्वाविंशतिः द्वाविंशतिः-संख्योपेताः **परिसहसुहडा** परीषहसुभटाः परीषहाः क्षुत्पिपासादिलक्षणाः त एव सुभटा रणरंगकुशलपुरुष-विशेषाः शरीरपराभवकारणसामर्थ्यात्। ते किं कर्तव्या। **हवंति** भवन्ति **णायव्वा** ज्ञातव्याः स्वकीयावगम-गोचरीकर्तव्या। कथमितिचेत्। भिक्षोः शुद्धाहारान्वेषिणः तदलाभे ईषल्लाभे च दुस्तरेयं वेदना महांश्च कालो दीर्घाह इति विषादमकुर्वतोऽकाले देशे च भिक्षामगृह्णतः आवश्यकहानिं मनागप्यनिच्छतः स्वाध्यायध्यान-रतस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि लाभादलाभमधिकं मन्यमानस्य क्षुद्बाधाप्रत्ययचिन्तनं **क्षुद्विजयः** ॥१॥

अतीवोत्पन्नपिपासां प्रति प्रतीकारमकुर्वतो भिक्षाकालेऽपींगिताकारादिभिरपि योग्यमपि पानमप्रार्थयतो धैर्यप्रज्ञाबलेन **पिपासासहनं** ॥२॥

सीयाई—गाथार्थ—(सीयाई) शीत आदि **(वावीसं)** बाईस **(परिसह सुहडा)** परिषहरूपी सुभट **(णायव्वा)** जानने योग्य **(हवंति)** हैं, **(मुणिणा)** मुनि के द्वारा **(ते)** वे परीषह रूपी सुभट **(वरउवसमणाण खग्गेण)** उत्कृष्ट उपशमभावरूपी खड्ग से **(जेयव्वा)** जीतने योग्य हैं ॥४०॥

टीका—शीत आदि बाईस परिषहों को सुभटों की उपमा दी गई है, क्योंकि वे रणभूमि में कुशल पुरुष विशेष के समान शरीर का पराभव करने की सामर्थ्य रखते हैं। उन परीषहों को जानना चाहिए और उपशमभावरूपी खड्ग के द्वारा उन्हें जीतना चाहिए।

सर्वप्रथम परीषहों के नाम लिखते हैं— १. क्षुधा, २. तृषा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. नाग्न्य, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार पुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान और २२. अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। अब क्रम से इनका स्वरूप कहते हैं—

(१) क्षुधापरीषहजय—जो शुद्ध आहार की खोज कर रहे हैं, आहार के न मिलने पर या थोड़ा मिलने पर जो इस प्रकार का विषाद नहीं करते कि बहुत भारी वेदना हो रही है तथा बड़े-बड़े दिनों वाला बहुत समय हो गया है, जो अकाल और अदेश में भिक्षा ग्रहण नहीं करते, जो आवश्यक कार्यों में रञ्चमात्र हानि नहीं करना चाहते जो स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हैं तथा भूख की बहुत भारी वेदना प्रकट होने पर भी जो लाभ की अपेक्षा अलाभ को ही अधिक अच्छा मानते हैं ऐसे भिक्षुक का क्षुधा सम्बन्धी बाधा का विचार नहीं करना क्षुधापरीषहजय है।

(२) तृषापरीषहजय—तीव्र प्यास उत्पन्न होने पर भी जो उसका प्रतिकार नहीं कर रहे हैं तथा भिक्षा के समय भी जो इशारे अथवा आकृति आदि से योग्य पेय पदार्थ की अभिलाषा नहीं करते ऐसे मुनि का धैर्य तथा बुद्धि के बल से प्यास का दुःख सहन करना तृषापरीषहजय है।

शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषस्य देहे निर्ममस्य पूर्वानुभूतोष्ण-मस्मरतो विषादरहितस्य संयमपालनार्थं **शीतक्षमा** ॥३॥

दाहप्रतीकाराकांक्षारहितस्य शीतद्रव्य-प्रार्थनानुस्मरणापेतस्य चारित्ररक्षण**मुष्णासहनं** ॥४॥

दंशमशकादिभिर्भक्षमाणस्याचलितचेतसः कर्मविपाकं स्मरतो निवृत्तप्रतीकारस्य शस्त्रघातादि-परान्मुखस्य **दंशादिबाधासहनं** ॥५॥

दंशग्रहणेन सिद्धे मशकग्रहणं सर्वोपघातोपलक्षणार्थं। स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिबीभत्सकुणपभावेन पश्यतो यथाजातरूप-मसंस्कृतविकारमभ्युपगतस्य वैराग्यमापन्नस्य **नग्नमुत्तमं** ॥६॥

कुतश्चिदुत्पन्नामरतिं निवार्य धृतिबलात्संयमरतिभावनस्य विषयसुखरतिं विषसमानं चिन्तयतो-दृष्टश्रुतानुभूतरतिस्मरणकथाश्रवणरहितस्यारतिपरीषहजयस्तेन चक्षुरादीनां सर्वेषामरतिहेतुत्वात् पृथगरति-ग्रहणमयुक्तं कदाचित्क्षुदाद्यभावेपि कर्मोदयात्संयमे **अरतिरूपजायते** ॥७॥

---

(३) शीतपरीषहजय—ठण्ड के कारण मिलने पर जो उसके प्रतिकार की इच्छा नहीं रखते, जो शरीर में निर्मम-स्नेह रहित हैं, जो पूर्व में भोगे हुए उष्ण पदार्थों का स्मरण नहीं करते तथा वर्तमान में किसी प्रकार का विषाद नहीं करते ऐसे मुनि का संयम की रक्षा के लिए शीत की बाधा सहन करना शीतपरीषहजय है।

(४) उष्णपरीषहजय—जो दाह गर्मी के प्रतिकार की इच्छा से रहित हैं, तथा शीतल पदार्थों की अभिलाषा और बार-बार स्मरण से रहित हैं ऐसे मुनि का चारित्र की रक्षा के लिए उष्ण की बाधा सहन करना उष्णपरीषहजय है।

(५) दंशमशकपरीषहजय—डांस-मच्छर आदि के खाये जाने पर भी जिनका चित्त विचलित नहीं हो रहा है, जो कर्मोदय का स्मरण करते हैं, किसी प्रकार का प्रतीकार नहीं करते हैं तथा शस्त्र के द्वारा उनका घात करना आदि कार्यों से पराङ्मुख हैं ऐसे मुनि का दंशमशक आदि की बाधा का सहन करना दंशमशकपरीषहजय है। यहाँ दंश शब्द से ही काम चल सकता था फिर भी मशक शब्द का जो ग्रहण किया गया है वह समस्त जीवों से प्राप्त होने वाले उपघात के उपलक्षण के लिए है।

(६) नाग्न्यपरीषहजय—जो स्त्री के रूप को निरन्तर अपवित्र, घृणित और मुर्दा जैसे भाव से देखते हैं, जो बिना किसी सजावट व विकार के नग्न रूप को धारण करते हैं तथा वैराग्यभाव को प्राप्त हैं ऐसे मुनि का नग्न मुद्रा धारण करते हुए किसी विकार का अनुभव नहीं करना नाग्न्यपरीषहजय है।

(७) अरतिपरीषहजय—किसी कारण से उत्पन्न हुई रति को दूरकर, धैर्य के बल से संयम में ही रति को विष के समान विचारते हैं तथा जो देखे सुने और भोगे हुए पदार्थों के रतिविषयक स्मरण और उनकी कथा के श्रवण से रहित हैं ऐसे मुनि के अरतिपरीषहजय होता है। चक्षु आदि सभी इन्द्रियाँ अरति का कारण हो सकती हैं। इसलिए पृथक् से अरति के कारणों का ग्रहण करना अयुक्त है। कदाचित् क्षुधा आदि न होने पर भी कर्म का उदय आ जाने से संयम में अरति हो जाती है।

स्त्रीदर्शन-स्पर्शनालापाभिलाषादि-निरुत्सुकस्य तदक्षिवक्त्रभ्रूविकारश्रृंगाराकाररूप-गतिहासलीला-विजृंभितपीनोन्नतस्तनजघनोरुमूलकक्षानाभिनिरीक्षणादिभिरविकृतचेतसस्त्यक्तवंशगीतादिश्रुतेः **स्त्रीपरीषह-जयः** ॥८॥

देवादिवंदनार्थं गुरुणानुज्ञातगमनस्य संयमाविघातिमार्गेण गच्छतोऽटव्यादिषु सहायानपेक्षस्य शर्करादिभिर्जातखेदस्यापि पूर्वोचितयानादिकमस्मरतश्चर्यापरीषहजयः ॥९॥

श्मशानादिस्थितस्य संकल्पितवीरासनाद्यन्यतमासनस्य प्रादुर्भूतोपसर्गस्यापि तत्प्रदेशादविचलतोऽकृत-मंत्रविद्यादिप्रतीकारस्य अनुभूतमृद्वास्तरणादिकमस्मरतश्चित्तविकाररहितस्य **निषद्यातितिक्षा** ॥१०॥

स्वाध्यायादिना खेदितस्य विषमादिशीतादिसु भूमिषु निद्रां मौहूर्तिकीमनुभवतः एकपार्श्वादिशायिनो ज्ञातबाधस्याप्यस्पंदिनो व्यंतरादिभिर्विशस्यमानस्यापि त्यक्तपरिवर्तनपलायनस्य शार्दूलादिसहितोऽयं प्रदेशोऽ-

---

(८) स्त्रीपरीषहजय—जो स्त्रियों के देखने, उनका स्पर्श करने तथा उनके साथ वार्तालाप करने आदि की अभिलाषा से निरुत्सुक हैं स्त्रियों के नेत्र, मुख और भौंहों के विकार, श्रृंगारपूर्ण आकार, रूप गति, हास्य, लीलापूर्वक जम्हाई लेना, स्थूल एवं उठे हुए स्तन, नितम्ब, जांघों का मूल भाग, कक्ष और नाभि के देखने से जिनके चित्त में कोई विकार नहीं आता तथा जिन्होंने वंशी आदि वाद्य और संगीत आदि का सुनना छोड़ दिया है ऐसे मुनि के स्त्री सम्बन्धी उपद्रव होने पर भी विकारभाव नहीं होना स्त्रीपरीषहजय है।

(९) चर्यापरीषहजय—देव आदि की वन्दना के लिए जो गुरु की आज्ञा से गमन कर रहे हैं, जो संयम को नष्ट नहीं करने वाले मार्ग से चलते हैं, अटवियों में किसी सहायक की अपेक्षा नहीं करते हैं तथा कंकड़ आदि के द्वारा खेद होने पर भी जो पूर्व अभ्यस्त सवारी आदि का स्मरण भी नहीं करते ऐसे मुनि के पैदल चलने का दुःख सहन करना चर्यापरीषहजय है।

(१०) निषद्यापरीषहजय—जो श्मशान आदि में स्थित हैं, जिन्होंने वीरासन आदि आसनों में किसी एक आसन का संकल्प किया है, जो उपसर्ग के प्रकट होने पर भी उस स्थान से विचलित नहीं होते, जो मन्त्र तथा विद्या आदि के द्वारा उपसर्ग का प्रतिकार नहीं करते, जो पहले भोगे हुए कोमल बिस्तर आदि का स्मरण नहीं करते तथा जो मानसिक विकारों से रहित हैं ऐसे मुनि के निश्चित समय तक एक ही आसन से बैठने का दुःख सहन करना निषद्यापरीषहजय है।

(११) शय्यापरीषहजय—जो स्वाध्याय आदि के द्वारा खेद को प्राप्त है, जो ऊँची-नीची तथा ठण्डी आदि भूमियों में मुहूर्त भर रहने वाली निद्रा का अनुभव करते हैं, जो एक ही करवट से शयन करते हैं, बाधा का पता हो जाने पर भी जो वहाँ से हिलते नहीं हैं, व्यन्तरादिक के द्वारा पीड़ा पहुँचाये जाने पर भी जिन्होंने करवट बदलना या वहाँ से भागना छोड़ दिया है, यह स्थान व्याघ्र आदि से सहित है। यहाँ से शीघ्र ही निकल जाना श्रेयस्कर है, रात्रि कब व्यतीत होगी है। इस प्रकार का

चिरादतो निर्गमः श्रेयान् कदा रात्र्यं विरमतीत्यकृतविषादस्य मृदुशयनमस्मरतः शयनादप्रच्यवतः **शय्यासहनं** ॥११॥

परं भस्मसात् कर्तुं शक्तस्याप्यनिष्टवचनानि शृण्वतः परमार्थावहितचेतसः स्वकर्मणो दोषं प्रयच्छतोऽ-निष्ट-वचनसहनमा**क्रोशजयः** ॥१२॥

चौरादिभिः क्रुद्धे शस्त्राग्न्यादिभिर्मार्यमाणस्याप्यनुत्पन्नवैरस्य मम पुराकृतकर्मफलमिदमिति इमे वराकाः किं कुर्वन्ति शरीरमिदं स्वयमेव विनश्वरं दुःखदमेतैर्हन्यते न ज्ञानादिकर्म इति भावयतो **वधपरीषहक्षमा** ॥१३॥

क्षुदध्व-श्रमतपोरोगादिभिः प्रच्यावितवीर्यस्यापि शरीरसंदर्शनमात्रव्यापारस्य प्राणान्त्ययेप्याहार-वसतिभेषजादीनभिधानमुखवैवर्ण्यांगसंज्ञादिभिरयाचमानस्य **याचन**सहनं ॥१४॥

एकभोजनस्य मूर्तिमात्रदर्शनपरस्यैकत्र ग्रामे अलब्ध्या ग्रामांतरान्वेषणनिरुत्सुकस्य पाणिपुटपात्रस्य बहुदिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्यापि असंक्लिष्टचेतसो व्यपगतदातृविशेषपरीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे परं तप इति संतुष्टस्य **अलाभविजयः** ॥१५॥

जो कभी विषाद नहीं करते हैं, जो कोमल शय्या का स्मरण नहीं करते हैं तथा शयन से च्युत नहीं होते ऐसे मुनि के शय्या सम्बन्धी कष्ट सहन करना शय्यापरीषहजय है।

(१२) आक्रोशपरीषहजय—जो पर को भस्म करने के लिए समर्थ होने पर भी अनिष्ट वचनों को सुनते हैं, जिन्होंने परमार्थ में चित्त लगा रखा है तथा जो अपने पूर्वकृत कर्म को ही दोष देते हैं ऐसे मुनि का अनिष्ट वचन सहन करना आक्रोशपरीषहजय है।

(१३) वधपरीषहजय—चोर आदि क्रोधी जीव शस्त्र तथा अग्नि आदि के द्वारा जिन्हें मारते हैं फिर भी जिनके वैरभाव उत्पन्न नहीं होता, यह हमारे पूर्वकृत कर्म का फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर स्वयं नष्ट होने वाला तथा दुःखदायक है यही इनके द्वारा नष्ट किया जा रहा है, ज्ञानादि कर्म इनके द्वारा नष्ट नहीं किए जाते। इस प्रकार की भावना करने वाले मुनि के वध-मरण ताड़न आदि का दुःख सहन करना वधपरीषहजय है।

(१४) याचना परीषहजय—क्षुधा, मार्ग का श्रम, तप तथा रोग आदि के द्वारा शक्ति क्षीण हो जाने पर भी वे जो मात्र शरीर को दिखलाते हैं अर्थात् श्रावकों के घर शरीर मात्र दिखाकर जो आगे बढ़ जाते हैं तथा जो प्राणान्त होने पर भी आहार, वसतिका और भोजन आदि की शब्द, मुख की विवर्णता या अंगों के संकेत आदि से याचना नहीं करते ऐसे मुनि के याचनापरीषहजय होता है।

(१५) अलाभपरीषहजय—जो एक ही बार भोजन करते हैं, जो शरीर मात्र के दिखाने में तत्पर हैं, एक ग्राम में आहार न मिलने पर जो दूसरे ग्राम में आहार खोजने के लिए निरुत्सुक हैं, हस्त पुट ही जिनका पात्र है, बहुत दिनों तथा बहुत गृहों में भिक्षा प्राप्त न होने पर भी जिनके चित्त में संक्लेश उत्पन्न नहीं होता, जो दातृविशेष की परीक्षा से रहित हैं तथा जो लाभ की अपेक्षा अलाभ

स्वशरीरमन्यशरीरमिव मन्यमानस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणलेपवदाहारमाचरतो जल्लौषधाद्यनेकतपो-विशेषर्द्धियोगेपि शरीरनिस्पृहत्वात् व्याधिप्रतीकारानपेक्षिणः पुराकृतकर्मणः फलमिदमनेनोपायेनानृणी भवामीति चिन्तयतो रोगसहनं ॥१६॥

तृणगृहणमुपलक्षणं तेन शुष्कतृणपत्रभूमिकंटकफलकशिलादिषु प्रासुकेष्वसंस्कृतेषु व्याधिमार्ग-शीतादिजनितश्रमविनोदार्थं शय्यां निषद्यां वा भजमानस्य गमनमकुर्वतः शुष्कतृणपरुषशर्करा-कंटक-निशित-मृत्तिकादिबाधितमूर्तेरुत्पन्नकंडूविकारस्य दुःखं मनस्यचिन्तयतस्**तृणस्पर्शसहनं** ॥१७॥

रविकिरणजनितप्रस्वेदलवसंलग्नपांसुनिचयस्य सिध्माकच्छूदद्रूभृतकायत्वादुत्पन्नायामपि कंड्वां कण्डूयनमर्दनादिरहितस्य स्नानानुलेपनादिकमस्मरतः स्वमलापचये परमलोपचये च प्रणिहितमनसो **मल-धारणं** ॥१८॥

ही मेरे लिए परम तप है ऐसा विचार कर संतुष्ट रहते हैं ऐसे मुनि के अलाभ का दुःख सहन करना अलाभ परीषहजय है।

(१६) रोगपरीषहजय—जो अपने शरीर को दूसरे के शरीर जैसा मानते हैं, जो शरीर सम्बन्धी यात्रा की सिद्धि लिए व्रण पर लेप के समान आहार ग्रहण करते हैं, जो विशिष्ट तप से प्रकट होने वाली जल्लौषधि आदि अनेक ऋद्धियों से युक्त होने पर भी शरीर से निःस्पृह होने के कारण रोग का प्रतिकार नहीं करना चाहते हैं तथा जो ऐसा विचार करते हैं कि यह हमारे पूर्वकृत कर्म का फल है, इस उपाय से मैं ऋण रहित हो रहा हूँ, ऐसे मुनि के रोगकृत बाधा का सहन करना रोगपरीषहजय है।

(१७) तृणस्पर्शपरीषहजय—तृण का ग्रहण उपलक्षण है इसलिए सूखे तृण, पत्र, पृथ्वी, कटक, पटिया या शिला आदि प्रासुक तथा असंस्कृत स्थानों पर राग, तथा शीत आदि से उत्पन्न थकावट को दूर करने के लिए जो शय्या अथवा निषद्या को प्राप्त हैं, गमन नहीं कर रहे हैं, सूखे तृण, कठोर बालू, कण्टक, तथा पैनी मिट्टी आदि से जिनके शरीर में बाधा उत्पन्न हो रही है तथा उत्पन्न हुई खुजली के विकार सम्बन्धी दुःख का मन में जो विचार भी नहीं करते, ऐसे मुनि के तृणादि के स्पर्श का दुःख सहन करना तृणस्पर्शपरीषहजय है।

(१८) मलपरीषहजय—सूर्य की किरणों से उत्पन्न पसीना के कणों में जिनके धूलि का समूह लग रहा है, सैहुआ, खाज तथा दाद से युक्त शरीर होने के कारण खुजली उत्पन्न होने पर भी जो खुजाना तथा मीडना आदि से रहित हैं, जो स्नान तथा लेपन आदि का स्मरण भी नहीं करते, मुझे मल नहीं लग रहा है तथा दूसरे को मल लग रहा है, इसकी ओर जो कभी ध्यान नहीं देते, ऐसे मुनि के मल का दुःख सहन करना मलपरीषहजय है। केशलोंच और उनके असंस्कार से उत्पन्न खेद का सहना, मल सामान्य में अन्तर्गत होता है इसलिए उसे पृथक् नहीं कहा है।

केशलुंचासंस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहनं मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तं। सत्कारः पूजा-प्रशंसात्मकः पुरस्कारः क्रियारंभादिष्वग्रतः करणं चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयज्ञस्य हितोपदेशकथामार्गकुशलस्य बहुतत्त्वपरवादिविजयिनः प्रणामभक्ति-संभ्रमासनप्रदानादीनि न मे कश्चित् करोति वरं मिथ्यादृशः स्वसमयगतमज्ञमपि सर्वज्ञ-संभावनया सन्मान्य स्वसमयप्रभावनां कुर्वन्ति व्यन्तरादयः पुरात्युग्रतपसां प्रत्युग्रपूजां निवर्तयन्तीति यदि न मिथ्याश्रुतिस्तदा कस्मादस्मादृशां एते समयगता अनादरं कुर्वन्ति इति प्रणिधानरहितचित्तस्य मानापमानयोस्तुल्यस्य **सत्कारपुरस्कारपरिषहजयः** ॥१९॥

अंगपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य अनुत्तरवादिनो मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवन्नितरामवभासन्ते इति ज्ञानमदनिरासः **प्रज्ञापरीषहजयः** ॥२०॥

अज्ञोऽयं न किंचिदपि वेत्ति पशुसमः इत्याद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्य सततमध्ययनरतस्य निवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्य महोपवासाद्यनुष्ठायिनोद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते इत्यनभिसंदधतो **अज्ञानपरीषहजयः** ॥२१॥

---

(१९) सत्कार पुरस्कार परीषहजय—पूजा तथा प्रशंसात्मक शब्द कहना सत्कार है तथा कार्य के प्रारम्भ में अगुआ करना पुरस्कार है। मैं यद्यपि चिरकाल से ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा हूँ, महातपस्वी हूँ, स्वसमय और परसमय का ज्ञाता हूँ, हितोपदेशकारी कथाओं की खोज करने में कुशल हूँ और अनेक तत्त्वों के ज्ञाता परवादियों को जीतने वाला हूँ तो भी कोई मेरे लिए प्रणाम नहीं करता, मेरी भक्ति नहीं करता और न हड़बड़ा कर आसन ही देता है, इनसे अच्छे तो मिथ्यादृष्टि हैं, जो अपने धर्म के अज्ञानी पुरुष को भी सर्वज्ञ जैसा मानकर उसका सम्मान करते हैं तथा अपने धर्म की प्रभावना करते हैं, पूर्वकाल में व्यन्तरादिक देव उग्र तप करने वाले मुनियों की अत्यधिक पूजा करते थे, यह श्रुति यदि मिथ्या न होती तो ये सहधर्मी लोग हमारे जैसे पुरुषों का अनादर क्यों करते, ऐसा विचार जिनके चित्त में नहीं आता तथा जो मान और अपमान में तुल्य रहते हैं, ऐसे मुनि के सत्कारपुरस्कारपरीषहजय होता है।

(२०) प्रज्ञापरीषहजय—मैं अंग, पूर्व तथा प्रकीर्णक शास्त्रों का विद्वान् हूँ, मैं इस तरह बोलता हूँ कि किसी से उत्तर देते भी नहीं बनता, मेरे सामने अन्य लोग सूर्य की प्रभा से जिनका प्रकाश दब गया है, ऐसे पटबीजना के समान बिलकुल ही शोभित नहीं होते इस प्रकार ज्ञान का मद दूर करना प्रज्ञापरीषहजय है।

(२१) अज्ञानपरीषहजय—यह अज्ञानी है, कुछ भी नहीं जानता है, पशु के समान है, इत्यादि तिरस्कार के वचन मुझे सहन करना पड़ते हैं, मैं निरन्तर अध्ययन में लीन रहता हूँ, मन वचन काय की अनिष्ट चेष्टाओं को मैंने दूर कर दिया है, मैं बड़े उपवास करता हूँ फिर भी मेरे ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हो रहा है, ऐसा विचार न करने वाले मुनि के अज्ञानपरीषहजय होता है।

दुष्करतपोनुष्ठायिनो वैराग्यभावनापरस्य ज्ञातसकलतत्त्वस्य चिरंतनव्रतिनो अद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमनर्थिकेयं प्रव्रज्या विफलं व्रतपालनमित्येवम-चिन्तयतो दर्शनविशुद्धियोगाद**दर्शनपरीषहसहनम्** ॥२२॥

न केवल परीषहसुभटा ज्ञातव्या किंतु ते परीषहा **जेयव्वा** जेतव्याः। केन? **मुणिणा** मुनिना। केन करणभूतेन? **वरउवसमणाणखग्गेण** वरोपशमज्ञानखड्गेन वरोपशमज्ञान एव रागद्वेषाभाव एव खड्गस्तेन। एतेन परीषहान् सर्वान् जित्वा क्षपकः शुद्धात्मानं ध्यायतीति रहस्यं ॥४०॥

संन्याससंग्रामांगणे परीषहसुभटैर्निराकृताः केचिद्धीनसत्त्वाः[1] शरीरसुखं शरणं प्रविशंतीत्यादिशति–

परिसहसुहडेहिं जिया केई सण्णासआहवे भग्गा।
सरणं पइसंति पुणो सरीरपडियारसुक्खस्स ॥४१॥

---

(२२) अदर्शन परीषहजय–मैं कठिन तप करता हूँ, वैराग्य की भावना में तत्पर रहता हूँ, समस्त तत्त्वों का जानने वाला हूँ और चिरकाल से व्रत धारण कर रहा हूँ इतने पर भी मेरे ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हो रहा है, मासोपवास आदि करने वाले मुनियों के विशिष्ट अतिशय प्रकट होते थे यह प्रलापमात्र है, यह दीक्षा निरर्थक है, तथा व्रत का पालन करना निष्फल है, सम्यग्दर्शन की विशुद्धता के कारण जो ऐसा कभी विचार नहीं करते ऐसे मुनि के अदर्शन परीषहजय होता है।

ये परीषहरूपी सुभट केवल जानने योग्य ही नहीं है किन्तु उत्कृष्ट उपशमज्ञानरूप खड्ग के द्वारा जीतने योग्य भी हैं।

परीषह सहन करने का प्रयोजन गृहीत मार्ग से च्युत नहीं होना तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करना है। आराधना में बैठे हुए पुरुष को यदि क्षुधा, तृषा आदि की बाधा सताती है तो उसे साम्यभाव से सहन करना चाहिए। जो आराधक परीषहरूपी सुभटों को जीतने में असमर्थ होता है, वह आराधना के मार्ग से विचलित हो जाता है ॥४०॥

आगे संन्यासरूपी रणांगण में परीषह रूपी सुभटों के द्वारा पराजित हुए कितने ही हीनशक्ति के धारक पुरुष शरीर सुख की शरण में प्रवेश करते हैं, यह कहते हैं–

परिसह–गाथार्थ–(सण्णास आहवे) संन्यासरूपी युद्ध में **(परिसह सूहडेहिं)** परिषहरूपी सुभटों के द्वारा **(जिया)** पराजित **(केई)** कितने ही लोग **(भग्गा)** भागकर **(पुणो)** फिर से **(सरीरपडियार सुक्खस्स)** शरीर के प्रतिकार–भोजनवस्त्रादि विषयसुख की **(सरणं)** शरण में **(पइसंति)** प्रवेश करते हैं ॥४१॥

---

१. हीनसत्त्वात् प०।

परिसहसुहडेहिं जिया परीषहसुभटैर्जिताः विनिर्जिताः केचित् चारित्रमोहोदयेन प्रच्छर्दितवृत्ता रुद्रादयो मुनयः **सण्णासाहवे** संन्यासाहवात् सर्वसङ्गपरित्यागलक्षणः संन्यासः चरित्रानुष्ठानं स एवाहवः सङ्ग्रामः ऋषभादिभिर्वीरपुरुषैः समाश्रितत्वात् तत्सहदीक्षितचतुःसहस्रनरेन्द्रादि–कातरपुरुषैः परित्यजनत्वात् सामान्यैः श्रवणमात्रत्रासोत्पादकत्वात् नानानशनरसपरित्यागादिव्रतानुष्ठानकांडाद्यस्त्रैः कायकदर्थनत्वात्, तस्मात्संन्यास-सङ्ग्रामात् **भग्गा** भग्नाः पलायिताः परीषहान् सोढुमशक्ताश्चारित्ररणभूमिं परित्यज्य गता इत्यर्थः। ततो नष्टास्ते क्व गच्छन्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। **सरीरपडियारसुक्खस्स** शरीरप्रतीकारसुखस्य शरीरस्य निजदेहस्य प्रतीकारः प्रावरणभोजनादिविषयस्तदेव सुखं तस्य **सरणं** शरणमाश्रयं पुनः **पविसंति** प्रविशन्ति गच्छन्ति पूर्वं तावत्किमपि वैराग्यमात्रं प्राप्य समस्तदेहेंद्रियविषयजन्यसुखपुत्र–मित्रकलत्रं परित्यज्य ख्यातिपूजा-लाभाद्यैहलौकिकस्वर्गापवर्गरूपपारलौकिककमनीयसुख–संपत्तिदायिनीं जिनराजदीक्षां प्राप्ता ये तत्र दुर्धरतपोनुष्ठानं विलोकयन्तो भीता वयमीदृशमाचरितुमक्षमाः पुनस्ते देवशास्त्रगुरुचतुर्विधसंघविद्यमानात्तप्रतिज्ञां परिहाय चतुर्गतिकसंसारकूपपतनभीतिमगणयंतः पुनरपि मनोवाक्कायकदर्थनसमर्थनानाविधदुःखजल-संभारभरितकृषिवाणिज्यादिगृहव्यापारपारावारकल्लोलान् दोलायमानाः क्वापि क्वापि पञ्चेंद्रिय-

---

टीका—समस्त परिग्रह का त्याग ही जिसका लक्षण है ऐसा संन्यास संग्राम के समान है क्योंकि ऋषभ आदि वीर पुरुषों ने उसका आश्रय लिया था। भगवान् ऋषभदेव के साथ दीक्षा लेने वाले चार हजार राजाओं को आदि लेकर जो कायर पुरुष थे, उन्होंने उस संन्यासरूपी संग्राम का परित्याग किया था, वह संन्यासरूपी संग्राम सामान्य मनुष्यों को सुनने मात्र से भय उत्पन्न करता है, नाना प्रकार के अनशन तथा रस परित्याग आदि व्रतों के आचरण रूप शस्त्रों से उनका शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है इसलिए वे परीषह रूपी सुभटों का सामना करने के लिए असमर्थ होते हुए चारित्र रूपी रणभूमि को छोड़कर भाग खड़े होते हैं तथा अपने शरीर के प्रतिकार–भोजन वस्त्रादि विषयक सुख की शरण में जाते हैं अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि की बाधा सहन करने में असमर्थ होकर फिर से भोजन वस्त्रादि ग्रहण कर लेते हैं। गाथा का समूचा भाव यह है कि कितने ही लोग पहले तो कुछ वैराग्य को प्राप्त कर समस्त शरीर तथा इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से उत्पन्न होने वाले सुख, पुत्र, मित्र और स्त्री आदि को छोड़कर ख्याति–लाभ–पूजा आदि इस लोक सम्बन्धी और स्वर्ग मोक्षरूप परलोक सम्बन्धी सुख सम्पदा को देने वाली जिनदीक्षा को प्राप्त होते हैं परन्तु जब वहाँ कठिन तपों का आचरण देखते हैं तब भयभीत होकर कहने लगते हैं कि हम ऐसा आचरण करने में समर्थ नहीं हैं। अन्त में वे देव, शास्त्र, गुरु तथा चतुर्विध संघ के विद्यमान रहते ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को छोड़कर चतुर्गतिमय संसाररूप कूप में पड़ने के भय की उपेक्षा करते हैं और फिर से मन वचन काय को दुःख देने में समर्थ, नाना प्रकार के दुःखरूपी जल के समूह से भरे हुए, खेती तथा व्यापार आदि गृह कार्यरूपी समुद्र की लहरों से झूलने लगते हैं तथा कहीं–कहीं पञ्चेन्द्रियों के विषय से उत्पन्न सुखरूपी टापुओं में विश्राम करते हैं और उसके फलस्वरूप फिर अनन्त संसार में

विषयजनितसुखजलगतस्थलेषु विश्रमन्ति पुनरपि तत्फलेनानंत-संसारं पर्यटन्ति। एवं चेतसि विज्ञाय संसारभीतिं चित्ते समारोप्य जिनराजदीक्षां नीत्वा देहममत्वपरिहारेण दुर्धरपरीषहजयं कृत्वा परमात्मानमाराधयत इति तात्पर्यम् ॥४१॥

ननु परिषहसुभटैः पराभूयमानो मुनिः केनोपायेन तान् जयतीति पृष्टः सन्निमां भावानां सद्धेतुमन्तरङ्गकरे कारयति–

दुक्खाइं अणेयाइं सहियाई परवसेण संसारे।
इण्हं सवसो विसहसु अप्पसहावे मणो किच्चा ॥४२॥

भो आत्मन्! अस्मिन् **संसारे** भवे जन्मजरामरणपरिवर्तने **परवसेण** निजचिरदुरार्जित-कर्म-विपाकत्वादन्याधीनतावस्थाविशेषेण **अणेयाइं** अनेकानि चतुर्गतिषु संभवत्वेन घोरासुरोदीरिततिलमात्र-गात्रकर्तनतप्ततैलकटाहावर्तनासिपत्रवनान्तरालवर्तनप्रज्वलितवालुकास्थलविहितनर्तनपरस्परप्रक्षिप्त-घातछेदनक्रकचविदारणातिभारारोपणबन्धदाहशीतोष्णयातदारिद्र्यपुत्रशोकप्रियावियोगनृपपराभवसुतविहित-द्यूतक्रीडादिदुर्व्यसनसंभवपर-परमर्द्धिदर्शनोद्भवमानसिकादिभेदात् अनेकभेदानि **दुक्खाइ** दुःखानि। किंकृतानि।

परिभ्रमण करते हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा चित्त में विचार कर तथा संसार के भय को चित्त में धारण कर जिनेन्द्र दीक्षा को स्वीकृत करो और शरीर से ममता भाव छोड़कर, दुर्धर परीषहों को जीतते हुए परमात्मा की आराधना करो ॥४१॥

आगे परीषहरूपी सुभटों के द्वारा पराजित होता हुआ मुनि किस उपाय से उन्हें जीतता है। इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य अन्तरंग को निर्मल बनाने वाली इस भावना को प्रकट करते हैं।

दुक्खाइं—गाथार्थ—हे आत्मन् तूने **(परवसेण)** पराधीन होकर **(संसारे)** संसार में **(अणेयाइं)** अनेक **(दुक्खाइं)** दुःख **(सहियाई)** सहन किए हैं **(इण्हं)** अब **(अप्पसहावे)** आत्मस्वभाव में **(मणो किच्चा)** मन लगाकर **(सवसो)** स्वाधीनता पूर्वक **(विसहसु)** सहन कर।

टीका—हे आत्मन् तूने जन्म, जरा और मरण के चक्र से परिपूर्ण, इस संसार में अनादिकाल से खोटे कर्मों का अर्जन किया है। उन्हीं कर्मों का विपाक आने पर तूने पराधीन होकर चारों गतियों में होने वाले अनेक दुःख सहन किए हैं। जैसे नरकगति में भयंकर असुर कुमारों के द्वारा प्रदत्त दुःख, शरीर के तिल तिल बराबर टुकड़े करना, तपाए हुए तैल के कड़ाहे में घुमाना, असिपत्र वन के बीच में चलाना, जलती हुई बालू के स्थलों में नचाना, परस्पर एक दूसरे पर फेंक कर घात करना, छेदना और करोत से विदारण करना, तिर्यञ्च गति में अत्यधिक भार लादना, बांधा जाना, दाहा जाना, सर्दी और गर्मी में चलना, मनुष्य गति में दरिद्रता, पुत्रशोक, स्त्री वियोग, राजपराभव, पुत्र का द्यूत आदि खोटे व्यसन में पड़ जाना आदि से उत्पन्न दुःख तथा देवगति में दूसरे देवों की उत्कृष्ट ऋद्धि को देखने से उत्पन्न मानसिक दुःख इत्यादि अनेक दुःख तूने परवश होकर सहन किये हैं। अब इस

सहियाइं सोढानि त्वया अनुभूतानि आस्वादितानि सेवितानीति यावत्। **इण्हं** इदानीं संप्रति तपश्चरणावस्थायां **सवसो** स्ववशः आत्माधीनः सन् **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे स्वस्वरूपे **मणो** मनश्चित्तं **किच्चा** कृत्वा **विसहसु** विषहस्व विशेषेण सहस्व भो आत्मन्! त्वमिह तपोनुष्ठाने हठात्केनापि न नियुक्तस्त्वमेवं कुरु त्वं स्वयमेव संसारशरीरभोगेषु विरज्य तपसि परायणो जातोसि अतस्तावकीना स्वाधीना प्रवृत्तिः न पराधीनता क्वापीह। पूर्वं तावदेव योनिषु संसारे पराधीनतां गतेन स्वसामर्थ्याभावादनेकभेदानि दुःखानि भुक्तानि अधुना हठग्राहितचारित्वात् स्ववशः सन् शुद्धभावे मनो विधाय परीषहान् सहस्वेति भावः ॥४२॥

तीव्रवेदनाक्रान्तो यदि परमोपशमशालिनीं भावनां करोषि तदा कर्माणि हन्तीत्याचष्टे–

अइतिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा।
जइ तो णिहणसि कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण ॥४३॥

अइतिव्ववेयणाए अतितीव्रवेदनया अतिशयेन तीव्रा कठोरा दुस्सहवेदना क्षुत्पिपासादिपरीषह-समुत्पन्नमनोवाक्कायकदर्थनासातया **अक्कंतो** आक्रान्तः पीडितः यदि त्वं भो क्षपकपुरुष! **सुसमा** सुसमां सुष्ठु अतिशयेन समा विग्रहादिषु ममेदमस्याहमित्याग्रहासङ्ग्रहीतपरिणामनिग्रहणेन रुग्जरादिविकृतिर्नमेऽञ्जसा सा तनो रहमितः सदा पृथक् मेलितेपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिःसूक्तिपरंपरा–

तपश्चरण की अवस्था में स्वाधीन होकर तथा अपना मन अपने स्वभाव में स्थिर कर कुछ दुःख सहन कर। हे आत्मन्! दुःखों को सहन करते समय तू ऐसा विचार कर कि तुझे इस तप के कार्य में किसी ने हठपूर्वक नहीं लगाया है किन्तु स्वेच्छा से तू संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर तपश्चरण में तत्पर हुआ है अतः तेरी यह स्वाधीन प्रवृत्ति है, पराधीन कहीं भी नहीं है। पहले तो तूने संसार की चौरासी लाख योनियों में पराधीन होकर अपनी सामर्थ्य के अभाव में अनेक दुःख भोगे हैं, अब स्वेच्छा से व्रत धारण करने के कारण स्वाधीन होता हुआ शुद्ध स्वभाव में मन लगाकर परीषहों को सह ॥४२॥

आगे कहते हैं कि तीव्र वेदना से पीड़ित हुआ क्षपक यदि परम उपशमभाव से शोभायमान भावना को करता है तो वह कर्मों को नष्ट करता है–

अइतिव्ववेयणाए–गाथार्थ–हे आत्मन्! **(अइतिव्व वेयणाए)** अत्यन्त तीव्र वेदना से **(अक्कंतो)** आक्रान्त हुआ तू **(जइ)** यदि **(सुसमा भावणा)** मध्यस्थ भावना **(कुणसि)** करता है। **(तो)** तो **(खणद्धेण)** आधे क्षण में **(सव्वं)** समस्त **(असुहं)** अशुभ **(कम्मं)** कर्म को **(णिहणसि)** नष्ट कर सकता है ॥४३॥

टीका–हे क्षपक! यदि तू क्षुधा-तृषा आदि परीषहों से उत्पन्न होने वाली मन वचन काय सम्बन्धी तीव्र वेदना से पीड़ित हो रहा है तो नीचे लिखी अत्यन्त साम्य-भावना का चिन्तन कर। शरीरादि के विषय में ''यह मेरा है और मैं इसका हूँ'' इस प्रकार के आग्रह से उत्पन्न होने वाले परिणामों का निग्रह कर। शरीर में रोग या वृद्धावस्था सम्बन्धी विकार होने पर ऐसा विचार कर कि

विचारनीरपूरेणरागद्वेषमोहसंभवसमस्तविभावपरिणामसंकल्पविकल्पलक्षणजाज्वल्यमानाग्निनिःशेषेणोपशम्य चित्तस्य चिद्रूपे शुद्धपरमात्मनि स्थितिलक्षणा या सुसमा तां सुसमां **भावणा** भावनां मुहुर्मुहुश्चेतसि अनित्याद्यनुप्रेक्षा–चिन्तनलक्षणां **जइ कुणसि** यदि करोषि **तो** तदा काले **असुहं** अशुभं **सव्वं** सर्वं **कम्मं** घातिकर्मचतुष्टयस्वरूपं सर्वमशुभं कर्म **खणद्धेण** क्षणार्धेन अंतर्मुहूर्तेन **णिहणसि** निहंसि क्षपयसि यावदत्र रागद्वेषोत्पादकेष्विष्टानिष्टपदार्थेषु शुद्ध–परमात्मपदार्थनिरंतरचिंतनानुरागबलेन सुसमां भावनां न करोषि तावत् कर्माणि क्षपयितुं परीषहजनित–तीव्रवेदनां सोढुं च न शक्नोषि। एवं ज्ञात्वा परीषहदुःखेषूत्पद्यमानेष्वपि परमात्मनि भावना कर्तव्या इति ॥४३॥

ननु परीषहान् सोढुमशक्नुवाना ये अनेकभवगहनदुःखनिर्घाटनसमर्थं ग्रहीतं चारित्रं परित्यजन्ति तेषामिह लोके परलोके च किं फलमिति तदाह–

परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडंति चरणरणभूमी।
भुवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया ॥४४॥

यह विकार वास्तव में मेरा नहीं है किन्तु शरीर का है, मैं इस शरीर से पृथक् हूँ विकार उत्पन्न करने वाले मेघों से मिलने पर भी आकाश में कुछ भी विकार नहीं होता है इत्यादि सूक्ति परम्परा का विचार रूप जल का प्रवाह, रागद्वेष तथा मोह–मिथ्यात्व में होने वाले समस्त विभाव परिणामों से तन्मय संकल्प विकल्प रूप जलती हुई अग्नि को शान्त करने वाला है। तू इस विचार रूप जल प्रवाह के द्वारा संकल्प–विकल्प रूप अग्नि को शान्त कर। इस तरह चैतन्यरूप शुद्ध परमात्मा में चित्त को स्थिर कर यदि तू अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन करता है तो समस्त अशुभकर्मों को आधे क्षण में नष्ट कर सकता है। हे क्षपक! जब तक तू रागद्वेष के उत्पाद का इष्ट अनिष्ट पदार्थों में शुद्ध परमात्म पदार्थ के निरन्तर चिन्तन सम्बन्धी अनुराग के बल से सुसमा–अत्यन्त मध्यस्थ भावना नहीं करता है तब तक तू न कर्मों का क्षय करने के लिए समर्थ है और न परीषह से उत्पन्न तीव्र वेदना को सहन करने के लिए ही समर्थ है। ऐसा जानकर परिषह सम्बन्धी दुःख उत्पन्न होने पर भी परमात्मा में ही भावना स्थिर करना चाहिए ॥४३॥

आगे शिष्य पूछता है कि परीषहों को सहन करने में असमर्थ हुए जो लोग अनेक भवों के तीव्र दुःख को दूर करने में समर्थ गृहीत चारित्र को छोड़ देते हैं उन्हें इस लोक तथा परलोक में क्या फल प्राप्त होता है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं–

परीसहभडाण–गाथार्थ–(परीसह भडाण) परीषह रूपी सुभटों से **(भीया)** डरे हुए जो **(पुरिसा)** पुरुष **(चरणरणभूमी)** चारित्ररूपी रण भूमि को **(छंडंति)** छोड़ देते हैं **(ते)** वे **(भुवि)** इस लोक में **(उवहासं पविया)** उपहास को प्राप्त होते हैं और परलोक में **(दुक्खाणं णिलया)** दुःखों के स्थान **(हुंति)** होते हैं ॥४४॥

ये केचित् **परिसहभडाण** परिषहभटेभ्यः परीषहा एव भटाः शरीरेण [१]शीतातपतापादिकठोर–घातकार[२]–कत्वात्तेभ्यो **भीया** भीताः स्वस्वभावादन्यमनस्कतां नीताः **पुरिसा** पुरुषाः **चरणरणभूमी** चरणरणभूमिं चरणं चारित्रं तदेव रणभूमिः संग्रामभूमिः व्रतसमितिगुप्ति–प्रभृतिसैन्यपरिग्रहप्रवर–विजृंभमाणप्रभुत्वेन स्वरूपावस्थानसाम्राज्यभाज्यात्मनृपेण[३] निर्बाधभेदबोधासिना अनादिकामक्रोधमोहादि–सैन्यशालिनां कर्मारीणां विध्वंसत्वात् तां रणभूमिं **छंडंति** परित्यजन्ति मुञ्चन्ति। ते कथंभूता भवन्तीत्याह। भुवि इहलोके **उवहासं** उपहास्यं सज्जनानां म्लानीकरणकारणदुर्जनजनजनितधिक्कारांगुलिप्रसर–परस्परभ्रूविकारा–विष्करणलक्षणं **पाविय** प्राप्ताः। परलोके च किंविशिष्टा। **हुंति** भवन्ति दुःक्खाणं दुःखानां अनन्तसंसार–संभवसकला–कुलत्वोत्पादकत्वात्मकलक्षणानां **णिलया** निलयाः स्थानानि तद्रूप–वस्तुसमाश्रयत्वात् ते चारित्रमोक्तारः भवन्ति। यस्मादेवं तस्मादिहलोकपरलोकफल–हानिमवलोक्य मा चारित्रं त्यजन्तु मुनयः परिणामपरावर्तनतया तत्क्षणविध्वंसत्वात् किं मे परीषहवराकाः करिष्यन्ति इति दृढतरं चित्तं विधाय परीषहदुःखमवगणय्य शुद्धपरमात्मानं भावयेति तात्पर्यम् ॥४४॥

टीका—इस गाथा में परीषहों को भट–योद्धा की उपमा दी क्योंकि वे योद्धाओं के समान शीत आतप आदि में डालना आदि के द्वारा शरीर का तीव्र घात करते हैं तथा चारित्र को रणभूमि की उपमा दी है क्योंकि उसमें स्थित होकर–व्रत, समिति, गुप्ति और सेना के परिग्रह से जिसका प्रभुत्व बढ़ रहा है तथा जो स्वरूप में अवस्थिति रूप साम्राज्य से युक्त है ऐसा आत्मा रूपी राजा, निर्बाधभेद ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा अनादिकालीन काम, क्रोध, मोह आदि सेना से सुशोभित कर्मरूपी शत्रुओं का विध्वंस करता है जो पुरुष परीषह रूपी योद्धाओं से भयभीत होकर चारित्ररूपी रणभूमि को छोड़ देते हैं, इस भव में उनका उपहास होता है। सज्जनों को म्लान करने के कारण दुर्जन पुरुष उन्हें धिक्कार देते हैं, उनकी ओर अंगुलि उठाते हैं, तथा परस्पर भौंह चढ़ाते हैं। वे केवल इस लोक में ही हँसी के पात्र नहीं होते हैं किन्तु परलोक में भी अत्यन्त संसार की कारण समस्त प्रकार की आकुलता के उत्पादक दुःखों के स्थान होते हैं। चारित्र को छोड़ने वाले मनुष्य, क्योंकि इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त होते हैं इसलिए इस लोक और परलोक सम्बन्धी फल की हानि को देखकर मुनि चारित्र को नहीं छोड़े। परिणाम परिणमनशील है अतः क्षणभर में परिवर्तित होते रहते हैं। ये बेचारे परीषह मेरा क्या कर लेंगे इस प्रकार चित्त को अत्यन्त दृढ़ कर परीषह सम्बन्धी दुःखों की उपेक्षा करते हुए शुद्ध परमात्मा का ध्यान करना चाहिए ॥४४॥

अब इस गाथा के पूर्वार्ध से यदि तू परीषहों से भयभीत हुआ है तो तीन गुप्ति रूपी दुर्ग का आश्रय ले और उत्तरार्ध से मनरूपी बाण को मोक्ष में संलग्न कर–ऐसी शिक्षा देते हैं–

---

१. शीतातपतापादि म० , २. पानकत्वात् (?) म० प०, ३. भाज्यात्मनृपेण म० प०।

अथ गाथायाः पूर्वार्धेन यदि परीषहेभ्यो भीतस्तदा गुप्तित्रयमेव दुर्गमाश्रय अपरार्धेन च मोक्षगतं मनोबाणं विधेहीति शिक्षयति–

परिसहपरचक्क भिओ जइ तो पइसेहि गुत्तितयगुत्तिं।
ठाणं कुण सुसहावे मोक्खगयं कुणसु मणबाणं ॥४५॥

भो क्षपक! **पइसेहि** प्रविश **तो** तदा **जइ परिसहपरचक्क भिओ** यदि परीषहपरचक्रभीतः कर्मनिर्जरार्थं मुनिभिः परितः सर्वप्रकारेण सह्यन्त इति परीषहाः परीषहा एव परचक्रं शत्रुसैन्यं परीषहपरचक्रं तस्माद्भीतः साध्वसाक्रांतः परीषहपरचक्रभीतः यदि त्वं दुःसहपरीषहवैरिवीरजनित–भीतिचलितचित्तोसि तदा प्रविश। कं **गुत्तितयगुत्तिं** गुप्तित्रयगुप्तिं गोपनं गुप्तिः मनोवाक्कायानां सम्यग्निग्रहो गुप्तिः गुप्तीनां त्रयं गुप्तित्रयं गुप्तित्रयमेव गुप्तिः परीषहशत्रूणामगम्यं दुर्गं चिच्चमत्कारमात्रपरब्रह्मलक्षणं। अत्र मनोवचनकायगुप्तिकारणं परमसमय–सारानुचिन्तनमेव। यदुक्तम्–

"[१]**अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चिंत्यतां नित्यमेकः।**
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा- न्न खलु-समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति॥"

परिसहपरचक्क —गाथार्थ—हे क्षपक! **(जइ)** यदि तू **(परिसहपरचक्कभिओ)** परीषहरूपी परचक्र–शत्रुसेना से भीत है **(तो)** तो **(गुत्तितयगुत्ति)** तीन गुप्ति रूपी दुर्ग में **(पइसेहि)** प्रवेश कर **(ससहावे)** अपने स्वभाव में **(ठाणं कुण)** स्थान कर और **(मणवाणं)** मनरूपी बाण को **(मोक्खगयं)** मोक्षगत **(कुणसु)** कर ॥४५॥

टीका—कर्मों की निर्जरा के लिए मुनियों द्वारा जो सब प्रकार से सहन किए जाते हैं उन्हें परीषह कहते हैं। गाथा में इन परीषहों को परचक्र–शत्रुसेना की उपमा दी है। क्षपक को संबोधते हुए आचार्य कहते हैं कि हे क्षपक! यदि तू परीषहरूपी शत्रुसेना से भयभीत है अर्थात् तेरा चित्त यदि दुःसह परीषहरूपी शत्रुवीरों के द्वारा उत्पन्न भय से विचलित हुआ है तो तू मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिरूप जो सुरक्षित दुर्ग है उसमें प्रवेश कर। मन, वचन, काय का अच्छी तरह निग्रह करना गुप्ति कहलाती है। इसके मनोगुप्ति आदि के भेद से तीन भेद हैं। परीषहरूपी शत्रुओं के अगम्य तथा चैतन्य चमत्कार मात्र परब्रह्मरूप जो दुर्ग है उसका गुप्तित्रय में आरोप किया गया है। यहाँ मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति का कारण उत्कृष्ट समयसार का बार–बार चिन्तन करना ही है। जैसा कि कहा गया है–

अलमलमति—अत्यधिक विस्तार से युक्त बहुत भारी खोटे विकल्प दूर रहें, निरन्तर इसी एक परमार्थ का विचार किया जावे कि आत्मरस के समूह से पूर्ण ज्ञान की विशिष्ट स्फूर्तिरूप जो समयसार है उससे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है।

---

१. समयसारकलशेऽमृतचन्द्रस्वामिनः श्लोक २४३

तथा **ठाणं कुण सुसहावे** पुनरपि कुरुष्व। किं तत्? स्थानमवस्थानं। कस्मिन्? स्वस्वभावे सहजशुद्धचिदानंदैकस्वभावे निजात्मनि। मुहुः शिक्षां यच्छन्नाह। **मोक्खगयं कुणसु माणवाणं** कुरुष्व। कं? मनोवाणं। मनश्चित्तं तदेवातिचंचलत्वाद्बाणः शरः मनोबाणस्तं मनोबाणं। कीदृशं कुरुष्व। मोक्षगतं सकलकर्मविप्रमोक्षो मोक्षस्तत्र गतः स्थितः मोक्षगतः तं मोक्षगतं अनन्तसुखपदप्रतिष्ठितं निजमनो विधेहि। परीषहादिवैरिव्रातजनितातन्कं हित्वेति भावार्थः। यथा कश्चिच्छूरः तनुत्राणेन तनुं परिवेष्टय वै शाखादिस्थानं च [१]रचयित्वा बाणं मोक्षगतं विसर्गगतं कुरुते तथा ॥४५॥

परीषहदवदहनतप्तो यदि ज्ञानसरोवरे प्रविशति जीवस्तदा किं लभते इत्यावेदयत्याचार्यः–

परिसहदवग्गितत्तो पइसइ जइ णाणसरवरे जीवो।
ससहावजलपसित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो ॥४६॥

तीन गुप्तिरूपी दुर्ग में प्रवेश कर स्वकीय स्वभावरूप सुरक्षित स्थान में अपना स्थान निश्चित कर अर्थात् सहजशुद्ध चिदानन्द ही जिसका एक स्वभाव है ऐसे निज आत्मा में स्थिर हो और वहाँ से मनरूपी बाण को मोक्षगत कर। यहाँ अत्यन्त चञ्चल होने से मन को बाण की उपमा दी गई है। समस्त कर्मों का बिल्कुल छूट जाना मोक्ष है। तू स्वस्वभाव में स्थित हो मन से मोक्ष तत्त्व का चिन्तन कर। ऐसा करने से तेरा परीषहरूपी बैरियों से उत्पन्न हुआ आतंक छूट जायेगा। यहाँ एक भाव यह भी दिया गया है कि जिस प्रकार कोई शूरवीर कवच से अपने शरीर को वेष्टित कर आलीढ़ आदि आसन से खड़ा हो बाण को मोक्षगत करता है। बाण को डोरी से छोड़ता है उसी प्रकार क्षपक को भी परीषहरूपी परचक्र का भय उपस्थित होने पर अपने आपको तीन गुप्तिरूपी कवच से वेष्टित कर स्वस्वभाव में स्थितिरूपी आसन लगाकर मनरूपी बाण को मोक्षगत करना चाहिए, छोड़ना चाहिए। यहाँ श्लेष से मोक्ष शब्द के दो अर्थ लिए गए हैं एक समस्त कर्मों का बिल्कुल छूटना और दूसरा डोरी से बाण का छोड़ना ॥४५॥

आगे शिष्य पूछता है कि दावाग्नि से संतप्त जीव यदि ज्ञानरूपी सरोवर में प्रवेश करता है तो क्या प्राप्त करता है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य कहते हैं–

परिसहेति–गाथार्थ–(परिसहदवग्गितत्तो) परीषहरूपी अग्नि से संतप्त **(जीवो)** जीव **(जइ)** यदि **(णाण सरवरे)** ज्ञानरूपी सरोवर में **(पइसइ)** प्रवेश करता है तो **(ससहावजल-पसित्तो)** स्वभावरूपी जल में सींचा जाकर **(अवियप्पो)** निर्विकल्प होता हुआ **(णिव्वाणं)** मोक्ष को **(लहइ)** प्राप्त होता है ॥४६॥

---

१. पिरचयित्वा म० (?)

परिसहदवग्गितत्तो परीषहदवाग्नितप्तः उक्तलक्षणाः परीषहास्त एव दवाग्निः क्षुत्पिपासादिभिः शरीरसंतापजनकत्वात् तेन तप्तः सन् **जीवो** जीवः आत्मा **णाणसरवरे** ज्ञानसरोवरे अमीभिः परीषहैर्यद्बाध्यते तदहं न भवामि योऽहं स परीषहलेशैरपि स्पृष्टुमपि न शक्यः। शरीरात्मनोरत्यंतमंतरमिति लक्षितत्वादित्यादि भेदज्ञानं तदेव सरोवरं तत्तापापोहाय मोहापोहिभिरवगाहितत्वात् **जइ पविसइ** यदि प्रविशति यदि प्रवेशं करोति तदा। किं भवतीत्याह। **ससहावजलपसित्तो** स्वस्वभावजलप्रसिक्तः तत्र स्वस्वभावः स्वकीयशुद्ध-परमात्मनः स्वभावः परमानंदमयः स एव जलं पानीयं सहजशुद्धचैतन्य-निर्विकारमात्म स्वरूपमेघजन्यत्वात् तेन प्रसिक्तः अभिषिक्तः किं करोति। **अवियप्पो** अविकल्पो भूत्वा **णिव्वाणं** निर्वाणं परमाह्लादलक्षणं लभते प्राप्नोति। यथा कश्चन दावाग्निना दह्यमानः सन् सरोवरे प्रविशति तत्र जलेन [1]प्रसिच्यमानः शैत्यं प्राप्नोति तथासौ परीषहदावाग्निना दह्यमानो ज्ञानसरोवरमवगाह्य निर्वाणं प्राप्नोतीति तात्पर्यं ॥४६॥

टीका—गाथा में परीषहों को दावाग्नि की उपमा दी गई है क्योंकि वे भूख-प्यास आदि के द्वारा शरीर में संताप उत्पन्न करते हैं। इन परीषहों के द्वारा जो बाधित होता है वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ, उसे परीषह का अंश भी छूने के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि शरीर और आत्मा में अत्यन्त अन्तर है इत्यादि प्रकार का जो भेदज्ञान है उसे सरोवर की उपमा दी गई है क्योंकि परीषह सम्बन्धी संताप को दूर करने के लिए निर्मोही जीव उसमें अवगाहन करते हैं। स्वकीय शुद्ध परमात्मा का परमानन्द से परिपूर्ण जो स्वभाव है उसे जल की उपमा दी गई है क्योंकि वह आत्म स्वभावरूपी मेघ से उत्पन्न होता है। निवारण का अर्थ मोक्ष है, इस मोक्ष में अग्नि सम्बन्धी दाह के दूर होने पर उत्पन्न होने वाले परम आह्लाद का आरोप किया गया है। इस प्रकार उपमान उपमेय अथवा रूप्य-रूपक भाव का विवेचन करने पर गाथा का समूचा अर्थ इस प्रकार होता है।

परीषहरूपी दावानल से तपा हुआ जीव यदि भेदज्ञान रूपी सरोवर में प्रवेश करता है तो स्वभावरूपी जल से सींचा जाकर वह सब विकल्पों से रहित हो परमाह्लाद रूप निर्वाण को प्राप्त करता है। जिस प्रकार दावाग्नि से जलता हुआ कोई पुरुष यदि सरोवर में प्रवेश करता है तो वहाँ जल से अच्छी तरह सींचा गया वह पुरुष शीतलता को प्राप्त होता है उसी प्रकार परीषह रूपी दावाग्नि से जलता हुआ यह जीव ज्ञानरूपी सरोवर में अवगाहन कर निर्वाण को प्राप्त होता है। यथार्थ में बात यह है कि अज्ञानी जीव शरीर और आत्मा को एक मानता है इसलिए शरीर पर होने वाली परीषह जन्य बाधा को आत्मा की बाधा मानता हुआ दुखी होता है और ज्ञानी जीव शरीर तथा आत्मा को अत्यन्त भिन्न मानता है इसलिए शरीर पर होने वाली परीषहजन्य बाधा को अपनी बाधा नहीं मानता इसलिए वह दुखी नहीं होता। अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव पर उसकी दृढ़ श्रद्धा रहती है इसलिए वह रूपादिमान् जड़ शरीर को अपने आप से पृथक् ही अनुभव करता है ॥४६॥

---

१. प्रसेव्यमानः (?) म० ।

एतेन परीषहजयं व्याख्यायाधुना क्रमायातमुपसर्गसहनमितीदं पञ्चमस्थलं षड्भिः गाथाभिः प्रथयति। तत्र यदि कथमपि मुनेर्दुःखजनका उपसर्गा भवन्ति तदा तेन ते किं कर्तव्याः भवन्तीत्याह–

जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा बहुविहा हु दुहजणया।
ते सहियव्वा णूणं समभावणणाणचित्तेण ॥४७॥

जइणो यतेर्मुनीश्वरस्य **कहवि** कथमपि पुरा दुरर्जितकर्मोदयेन **बहुविहा** बहुविधाः सचेतनाचेतनप्रभवाः **दुहजणया** दुःखजनका दुःखोत्पादका **उवसग्गा** उपसर्गा उपद्रवलक्षणा **जइ हुंति** यदि भवन्ति हु खलु। ते उपसर्गाः। किं कर्तव्याः? **सहियव्वा** सोढव्या नूनं अङ्गीकर्तव्याः। केन? मुनिना। किं विशिष्टेन। **समभावण-णाणचित्तेण** समभावनज्ञानचितेन दुःखे सुखेऽमित्रे मित्रे वने भवनेऽलाभे लाभे काचे सुवर्णे समाना भावना समभावना प्रोच्यते। कस्मात्। तदवस्थायां रागद्वेषयोरभावात्। समभावनायां यत्स्वसंवेदनज्ञानं समभावनज्ञानं चित्ते यस्यासौ समभावनज्ञानचित्तः तेन समभावनज्ञानचित्तेन। तथा चोक्तं ज्ञानार्णवे–

इस प्रकार परीषहजय की व्याख्या कर अब क्रम से प्राप्त हुए उपसर्ग सहन नामक पञ्चम स्थल का छह गाथाओं द्वारा विस्तार करते हैं।

आगे कोई पूछता है कि यदि किसी तरह मुनि के दुःख को उत्पन्न करने वाले उपसर्ग होते हैं तो उस समय उस मुनि को उन उपसर्गों के प्रति क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं–

जइहुँति–गाथार्थ–(जइ) यदि **(कहवि)** किसी प्रकार **(जइणो)** मुनि के **(दुइजणया)** दुःख को उत्पन्न करने वाले **(बहुविहा)** नाना प्रकार के **(उवसग्गा)** उपसर्ग **(हु)** निश्चय से **(हुंति)** होते हैं तो **(समभावणाण चित्ते ण)** चित्त में समताभाव को धारण करने वाले मुनि के द्वारा **(ते)** वे परीषह **(णूणं)** निश्चय से **(सहियव्या)** सहन करने योग्य हैं ॥४७॥

टीका–उपसर्ग उपद्रव को कहते हैं उसके मूल में दो भेद हैं एक चेतन कृत और दूसरा अचेतनकृत। चेतनकृत उपसर्ग के देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत के भेद से तीन भेद होते हैं। और अचेतनकृत का एक, सब मिलाकर उपसर्ग चार प्रकार का होता है। पूर्व पर्याय में बाँधे हुए खोटे कर्मों का उदय मुनियों को भी हो सकता है। दुःख-सुख, शत्रु-मित्र, वन भवन, अलाभ लाभ तथा काँच सुवर्ण में जो समान भावना है वह समभावना कहलाती है क्योंकि इस समभावना में राग द्वेष का अभाव रहता है। समभावना में जो स्वसंवेदन ज्ञान होता है उसे समभावन ज्ञान कहते है। जिस मुनि के चित्त में समभावन ज्ञान विद्यमान है वह समभावन ज्ञान चित्त कहा जाता है। इस प्रकार शब्दों की परिभाषा समझ लेने पर गाथा का अर्थ निम्न प्रकार होता है यदि पूर्वोपार्जित दुष्कर्म के उदय से मुनि के दुःख उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के उपसर्ग होते हैं तो चित्त में समताभाव को धारण करने वाले मुनि को उन्हें निश्चय से सहन करना चाहिए। जैसा कि **ज्ञानार्णव** में कहा गया है–

[१]सौधोत्सङ्गे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुङ्कुमे वा,
पल्यङ्के कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु।
शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम्॥

ततो नानाविधेषु घोरोपसर्गेषु उपढौकितेषु सत्स्वपि मुमुक्षुणा मुनिना निजचिरदुरर्जितकर्मविपाकं बुद्ध्वा। निरुपद्रवशुद्धपरमात्मस्वसंवेदनज्ञानभावनाबलेन शरीरे ममतां परिहाय समतामवलंब्य स्थातव्यमिति तात्पर्यम् ॥४७॥

णाणमयभावणाए भावियचित्तेहिं पुरिससीहेहिं।
सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया ॥४८॥

णाणमयभावणाए ज्ञानमयभावनया ज्ञानेन निर्वृत्ता यासौ भावना वासना सा ज्ञानमयभावना तया ज्ञानमयभावनया **भावियचित्तेहिं** भावितचित्तैर्वासितांतरंगैः **पुरिससीहेहिं** पुरुषसिंहैः पुरुषप्रधानैः। अत्र प्रशस्यवाची पुरुषपदस्यांते सिंहशब्दः [२]अमरकोशाद्यभिधानेषूक्तवात्। **अचेयणादीय** अचेतनादिका चउभेया

सौधोत्सङ्गे इति—उत्तम महल के मध्य में, श्मशान में, स्तुति में, गाली देने में, कीचड़ में, केशर में, पलंग में, कांटों के अग्रभाग में, पत्थर में, चन्द्रकान्त मणि में, चर्म चीनांशुक में, सड़े कलेवर में, तथा दिव्य स्त्री में अनुपम शान्ति के कारण जिसका चित्त विकल्पों से व्याप्त नहीं होता है वही एक कुशल मुनि साम्यलीला के विलास को धारण करता है।

इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि नाना प्रकार के भयंकर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी मोक्षाभिलाषी मुनि को अपने पूर्वोपार्जित दुष्कर्म का उदय जानकर, उपद्रव रहित शुद्ध परमात्मा के स्वसंवेदन ज्ञान की भावना के बल से शरीर में ममता भाव को छोड़कर साम्यभाव का आलम्बन लेते हुए मध्यस्थ रहना चाहिए ॥४७॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानमय भावना से ही बड़े-बड़े उपसर्ग सहन किए जाते हैं-

णाणमयेति—गाथार्थ—(णाणमयभावणाए) ज्ञान के द्वारा रचित भावना से **(भावियचित्तेहिं)** वासित चित्त वाले **(पुरिस सीहेहि)** श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा **(अचेयणादीय)** अचेतन आदिक **(चउभेया)** चार प्रकार के **(महोवसग्गा)** बड़े-बड़े उपसर्ग **(सहिया)** सहन किए गए हैं ॥४८॥

टीका—'ज्ञानमयभावनया' यहाँ पर ज्ञान शब्द से मयट् प्रत्यय **'तेन निर्वृतं'** उसके द्वारा रचा हुआ इस अर्थ में हुआ है इसलिए ज्ञानमय भावना का अर्थ है ज्ञान में रची हुई भावना। पुरुषसिंह शब्द में पुरुष के अन्त में जो सिंह शब्द है वह प्रशंसा वाची है क्योंकि अमर कोशादि कोष ग्रन्थों में वैसा

---

१. ज्ञानार्णव, श्लोक ११७५, २. सिंह शार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः इत्यमरः।

चतुर्भेदाश्चतु:प्रकाराः **महोवसग्गा** महोपसर्गाः महांतश्चते उपसर्गाश्च महोपसर्गाः। महांतश्चेति विशेषणे कृते कोऽर्थः। तैरपि पुरुषसिंहैर्मनागपि मनोविक्षेपरहितैः सोढुं शक्या नान्यैः सामान्यैः कातरत्वेनासहमानत्वादित्यर्थः **सहिया** सोढाः ''षह मर्षणे'' क्षमिता योगाधैर्याविर्भावहेतुभूतायां बाधायां सत्यामपि मनसि मनसा वा येषां सहनं न सर्वो भवतीति किन्तु निर्जरार्थं तेषामपि सहनमेवेत्यर्थः ॥४८॥

[१]नन्वचेतनादयश्चतुर्भेदा उपसर्गा निर्दिष्टास्ते के कैश्च ते सोढा इति प्रश्ने कृते गाथापूर्वार्धेना-चेतनाकृतोपसर्गा अपरार्धेन तिर्यक्कृतश्च अचेतनकृतोपसर्गसोढारं शिवभूतिनामादिं कृत्वा प्रथयति–

सिवभूइणा विसहिओ महोवसग्गो हु चेयणारहिओ।
सुकुमालकोसलेहि य तिरियंचकओ महाभीमो ॥४९॥

विसहिओ विसोढः विशेषेण चिदानन्दोत्थपरमसुखामृतरसास्वादबलेन षोढः। कोऽसौ **महोवसग्गो** महोपसर्गः महांश्चासौ उपसर्गश्च महोपसर्गः छेदनभेदनमारणादिरूपः। केन विषोढः। सिवभूइणा शिवभूतिना।

कहा गया है। गाथा का समूचा अर्थ यह है कि ज्ञानमयभावना से जिनका चित्त वासित है ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा अचेतन आदि चार प्रकार के बड़े–बड़े उपसर्ग सहन किए गए हैं। यहाँ उपसर्ग के साथ जो महा विशेषण दिया है, उसका तात्पर्य यह है कि वे महान् उपसर्ग भी उन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा सहन किए जा सकते हैं जिनके मन में थोड़ा भी विक्षेप नहीं होता। अन्य सामान्य मनुष्यों के द्वारा कातर होने के कारण वे परीषह सहन नहीं किए जा सकते। योग सम्बन्धी अधैर्य के प्रकट करने में कारणभूत बाधा के रहते हुए भी जिनके मन में उन बाधाओं का संपूर्ण रूप से सहन नहीं होता उन्हें भी निर्जरा के लिए उन उपसर्गों को सहन करना ही चाहिए ॥४८॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि अचेतन आदि चार प्रकार के उपसर्ग कहे गए हैं। वे कौन हैं तथा किनके द्वारा सहन किए गए हैं? ऐसा प्रश्न होने पर गाथा के पूर्वार्ध से अचेतनकृत उपसर्ग और उत्तरार्ध से तिर्यञ्चकृत उपसर्ग तथा अचेतनकृत उपसर्ग को सहन करने वाले शिवभूति मुनि का नाम आदि का वर्णन करते हैं–

शिवभूइणा–गाथार्थ–(हु) निश्चय से **(सिवभूइणा)** शिवभूति मुनि के द्वारा **(चेयणारहिओ)** अचेतनकृत **(महोवसग्गो)** महान् उपसर्ग **(विसहिओ)** सहन किया गया है **(य)** और **(सुकुमाल-कोसलेहि)** सुकुमाल तथा सुकोसल मुनियों के द्वारा **(तिरियंचकओ)** तिर्यञ्चों के द्वारा किया हुआ **(महाभीमो)** महान् भयंकर महोपसर्ग सहन किया गया है ॥४९॥

टीका–अग्नि, जल, पाषाण, तथा शिलापात आदि अचेतन पदार्थों के द्वारा किया हुआ उपसर्ग अचेतन उपसर्ग कहलाता है। इसे शिवभूति नामक मुनि ने चिदानन्द से उत्पन्न परम सुख रूप

---

१. ननु चेतनादयश्चतुर्भेदा म०।

शिवभूतिर्नाम कश्चिद्राजकुमारस्तेन शिवभूतिना। कीदृशः उपसर्गः?

चेयणारहिओ चेतनारहितः अचेतनैरग्निजलपाषाणशिलापातादिभिः कृतत्वादुपसर्गोप्यचेतनः शिवभूतिना अचेतनमहोपसर्गा यथा सोढास्तत्कथामाख्याति–

चम्पापुर्यामभूद्भूपो विक्रमः स्मेरविक्रमः।
शिवभूतिः सुतस्तस्य शिववद्भूतिभूपतिः॥
तदात्वोद्भूतवात्याभिः खण्डशः कृतमंबरे।
वीक्ष्यान्यदा स साम्द्राभ्रं मनसीति व्यचिंतयत्॥
धिग् धिग् भवमिमं यत्र सुखं नैवास्ति[१] किञ्चन।
तथापि नैव बुध्यंते महामोहादिहांगिनः॥
क्षणप्रध्वंसिनो दुष्टकायस्यास्य कृते कथम्।
बह्वारंभा विधीयंते मोहेनांधं भविष्णुभिः॥
इति वैराग्यरंगेन रंजितात्मा[२] स तत्क्षणात्।
भोगांस्त्यक्त्वा तृणानीव जैनीं दीक्षामश्रियत्॥
अभ्यस्यन् स ततो योगं तपस्यन् दुस्तपं तपः।
वनेऽन्यदा प्रतिमया तस्थौ क्वापि तरोस्तले॥

अमृत रस के आस्वाद के बल से सहन किया है। इनकी कथा इस प्रकार है–

शिवभूति की कथा

चम्पापुर्यामिति—चम्पापुरी नगरी में महापराक्रमी विक्रम नाम का राजा था। उसके शिवभूति नाम का एक पुत्र था जो शिव के समान भूति–सम्पत्ति (पक्ष में भस्म) का स्वामी था। एक दिन उसने आकाश में सघन मेघ को तत्काल उठी हुई वायु के समूह से खण्ड–खण्ड किया हुआ देखकर मन में इस प्रकार विचार किया कि इस संसार को धिक्कार हो, धिक्कार हो जिसमें कुछ भी सुख नहीं है, फिर भी बड़े खेद की बात है कि महामोही अज्ञानी जीव इसे समझते नहीं हैं। मोह से अन्धे प्राणी इस क्षणनश्वर दुष्ट शरीर के लिए बहुत भारी आरम्भ क्यों करते हैं ? इस प्रकार वैराग्य के रंग से जिसकी आत्मा रंगी गई थी ऐसे शिवभूति ने उसी समय भोगों को तृण के समान छोड़कर दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।

तदनन्तर योग का अभ्यास करने और कठिन तप तपते हुए शिवभूति मुनि किसी दिन कहीं एक वृक्ष के नीचे प्रतिमा योग से विराजमान हुए। उस समय परस्पर बांसों की रगड़ से उत्पन्न होने

---

१. नैवात्र प० म०, २. रङ्गितात्मा प० म०।

तदा ज्वलन्मिथो वंशघर्षणोत्थदवानलः।
ज्वलद्दारुस्फुटद्वंशत्रुटच्छब्दभयंकरः ॥
अविशेषतया सर्वं ज्वालयन्स दवानलः।
अपीडयत् मुनिमपि क्व विवेको ह्यचेतने॥
तस्थौ तरोस्तले यस्य ज्वलतो वह्निना तनोः।
निपेतिवद्भिरालातैः प्रत्यंगं स कदर्थितः॥
एवं दावानलेनोच्चैरालीढोप्येष सर्वतः।
मनागप्यचलद्ध्यानान्नारिरद् दृढता सताम्।

उक्तं च समयसारे–

[१]सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ॥
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥

भावयन् स परं ब्रह्म छित्वा दुःकर्मसंचयम्।
केवलज्ञानमासाद्य बभूवे मोक्षमक्षयम्॥

वाला दावानल प्रज्वलित हो उठा। वह दावानल जलती हुई लकड़ियों और चटकते हुए बांसों के टूटने से उत्पन्न शब्द से भयंकर था। सामान्य रूप से सब को जलाते हुए उस दावानल ने उन मुनिराज को भी पीड़ित किया सो ठीक ही है क्योंकि अचेतन में विवेक कहाँ होता है। वे मुनिराज जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे वह वृक्ष अग्नि से जलने लगा उसके पड़ते हुए अंगारों से वे अंग अंग में पीड़ित हो गए। इस प्रकार सब ओर से प्रचण्ड दावानल से व्याप्त होने पर भी वे शिवभूति मुनिराज ध्यान से रञ्चमात्र भी विचलित नहीं हुए सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों की दृढ़ता कभी नष्ट नहीं होती जैसा कि समयसार में कहा है–

सम्यग्दृष्टय एवेति–सम्यदृष्टि जीव ही यह उत्कृष्ट साहस करने के लिए समर्थ होते हैं कि वे, जिसके भय से विचलित होकर तीनों लोक के प्राणी मार्ग छोड़ देते हैं ऐसे वज्र के पड़ने पर भी स्वाभाविक निर्भयता से सभी प्रकार की शंका को छोड़कर स्वयं अपने आपको अखण्ड ज्ञानमय शरीर से युक्त जानते हुए ज्ञान से विचलित नहीं होते हैं। वे शिवभूति मुनिराज परब्रह्म की भावना करते हुए, दुष्ट कर्मों को छेदकर तथा केवलज्ञान को प्राप्त कर अविनाशी मोक्ष को प्राप्त हुए।

---

१. समयसार कलशेऽमृतचन्द्रसूरिः श्लोक १५४

इति शिवभूतिकथा। अथ तिर्यक्कृत उपसर्ग उभाभ्यां सोढस्तमाख्याति।

तिरियंचकओ तिर्यक्कृतः तिर्यग्भिः व्याघ्रसिंहशूकरसर्पसैरिभसौरभेयशृगालादिभिः कृत उपसर्गः तिर्यक्कृतः सोढः। काभ्यां? **सुकुमाल-कोसलेहिं** सुकुमालकोशलाभ्यां सुकुमालश्च कोशलश्च सुकुमालकोशलौ ताभ्यां सुकुमालकोशलाभ्यां। कथंभूत उपसर्गः? महाभीमः अतिशयेन भयानकः। सुकुमालकोशलाभ्यां तिर्यक्कृत उपसर्गः सोढः। कथं सोढस्तदनयोः कथा? अथ जंबूद्वीपस्य भारते कौशांबीनगर्यां विनमन्नरपालमौलि-मालाशोणमणिकिरणकाश्मीरपूरानुरंगरंजितचरणकमलोऽतिबलो नाम राजाभूत्। तत्पुरोधाः राजसदसि प्राप्तप्रतिष्ठश्चतुर्वेदाभिज्ञः व्याकरणप्रमाणकवितारत्नरत्नाकरः विष्णुभक्ति-तत्परः प्रतिदिन-माचरितषट्कर्मा सोमशर्मा नाम तत्पत्नी काश्यपी तत्पुत्रावुभौ अग्निभूतिमरुभूतिनामानौ। अथैकदा द्विजन्मा पुत्रद्वयं प्रत्याह, रे सुतौ श्रुताभ्यासं भवन्तौ तनुतं। यदुक्तम्–

भवविटपि समूलोन्मूलने मत्तदंती
जडमतिभिरनाशे पद्मिनीप्राणनाथः।
नयनमपरमेतद्विश्वविश्वप्रकाशे
करणहरिणबन्धे वागुराजातमेतत्॥

इस प्रकार शिवभूति की कथा समाप्त हुई। अब तिर्यञ्चकृत उपसर्ग जिन दो पुरुषों ने सहन किया है उसका वर्णन करते हैं।

व्याघ्र, सिंह, शूकर, सर्प, भैंसा, बैल तथा शृगाल आदि के द्वारा किया हुआ उपसर्ग तिर्यञ्चकृत उपसर्ग है इसे सुकुमाल और सुकौशल इन दो मुनियों ने सहन किया था। वह तिर्यञ्चकृत उपसर्ग अत्यन्त भयंकर था।

सुकुमाल मुनि की कथा

जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र की कौशाम्बी नगरी में नमस्कार करते हुए राजाओं के मुकुट समूह सम्बन्धी लालमणियों की किरण रूपी केशर के पूर से जिसके चरण कमल अतिशय रूप से रंगे गए थे ऐसा अतिबल नाम का राजा था। उसका एक सोमशर्मा नाम का पुरोहित था, जिसकी राज सभा में बहुत भारी प्रतिष्ठा थी। वह चार वेदों का ज्ञाता, व्याकरण, न्याय और काव्य रूपी रत्नों का रत्नाकर समुद्र था, विष्णु की भक्ति में तत्पर था और प्रतिदिन षट्कर्मों का अच्छी तरह आचरण करता था। उसकी पत्नी का नाम काश्यपी था। उन दोनों के अग्निभूति और मरुभूति नाम के दो पुत्र थे।

तदन्तर एक दिन पुरोहित ने दोनों पुत्रों से कहा–रे पुत्रो! आप लोग शास्त्र का अभ्यास बढ़ावें। जैसा कि कहा है–

भवविटपि–यह शास्त्राभ्यास संसाररूपी वृक्ष को उखाड़ने के लिए मत्त हस्ती है, जड़तारूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य है, समस्त संसार को प्रकाशित करने के लिए दूसरा नेत्र है और इन्द्रियरूपी हरिणों को बाँधने के लिए जालों का समूह है।

अधीतशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति सर्वेषां गोचरः अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं पुरुषाणां तृतीयं लोचनं अनधीतशास्त्रः चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव इति प्रतिबोधितावपि तौ नाधीयाते प्रत्युत पितरं क्लेशं नयतः। यदुक्तं–

प्रायो मूर्खस्य कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम्।
निर्लूननासिकस्यैव विशुद्धादर्शदर्शनम्॥

तद्दुष्टचेष्टौ पश्यन् [1]विषप्रयोगयोगादुत्पन्नरोगो [2]विप्रोऽकांडेपि मृतः। अथ कियत्सु वासरेष्वतीतेषु राज्ञा तौ पुरोहितसुतावाहूय स्मृत्यर्थं पृष्टौ। देव न जानीवहे इत्युत्तरं चक्रतुः। भूपेन अनध्ययनो ब्राह्मणोऽयाजनो देवानामिति विमृश्य तौ पुरोहितपदान्निराकृतौ। ततः पुरोहितभार्या अत्यर्थं दुःखिता सती उपभूपं गत्वा जजल्प। भो महीमहेन्द्र किमिति मत्तनयौ हतवृत्ती विहितौ। राजा जगाद। तवात्मजौ निरक्षरशिरोमणी अतोंतःसभं कामप्यभीष्यां न लभेते। यदुक्तम्–

विद्वज्जनानां खलु मंडलीषु मूर्खो मनुष्यो लभते न शोभाम्।
श्रेणीषु किं नाम सितच्छदानां काको वराकः श्रियमातनोति॥

शास्त्रों का अध्ययन करने वाला मनुष्य बुद्धि से रहित होने पर भी सब के संपर्क में आ जाता है। नेत्रों से न दिखने योग्य पदार्थों के विषय में शास्त्र तीसरा नेत्र है। शास्त्रों को नहीं पढ़ने वाला मनुष्य चक्षु युक्त होने पर भी अन्धा ही है। इस प्रकार समझाए जाने पर भी उन पुत्रों ने अध्ययन नहीं किया उल्टा वे पिता को क्लेश पहुँचाते रहे। जैसा कि कहा है–

प्रायो मूर्खस्येति–मूर्ख के लिए सन्मार्ग का उपदेश देना नकटे को विशुद्ध दर्पण दिखाने के समान प्रायः क्रोध का ही कारण होता है।

दुष्ट चेष्टा से युक्त उन पुत्रों को देखता हुआ पुरोहित, विष प्रयोग के योग से बीमार होकर असमय में ही मर गया। तदन्तर कितने ही दिन व्यतीत होने पर राजा ने पुरोहित के उन पुत्रों को बुलाकर उनसे स्मृति का अर्थ पूछा। पुत्रों ने उत्तर दिया कि हे राजन्! हम नहीं जानते हैं। ''अध्ययन रहित ब्राह्मण देवों की पूजा नहीं करा सकता'' ऐसा विचार कर राजा ने उन दोनों को पुरोहित के पद से पृथक् कर दिया। इस घटना से पुरोहित की स्त्री अत्यन्त दुःखी होती हुई राजा के पास जाकर बोली। हे राजन्! आपने मेरे पुत्रों को इस तरह आजीविका से रहित क्यों कर दिया है ? राजा ने कहा–तुम्हारे पुत्र निरक्षर शिरोमणि–मूर्खों के शिरताज हैं अतः सभा के भीतर कुछ भी शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं। जैसा कि कहा है–

विद्वज्जनावामिति–विद्वानों की मण्डली में मूर्ख मनुष्य शोभा को प्राप्त नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि हंसों की पंक्ति में बेचारा कौआ क्या शोभा को बढ़ाता है? अर्थात् नहीं बढ़ाता।

---

१. विषयभोगयोगात् म०, २. वाऽवोऽकाण्डे ममार।

अथ तनयावाहूय ब्राह्मणी प्रोवाच। रे मद्यौवनवनच्छेदे कुठारौ नृपसदसि प्राप्तमानखण्डनयोर्युवयोः मरणमेव शरणं। यदुक्तम्–

[१]मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोपि जीवति।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः।

अथ सुतावूचतुः। मातर्जहीहि कोपं देहि शिक्षामतः परं कथमावयोः शास्त्रपाठलाभः। साह। राजगृहे नगरे भावत्कः पितृव्यो विदितव्याकरणोऽधीततर्कशास्त्रो न्यायशास्त्रपाथोधिपारीणः परवादिशिरःकरोटीकुट्टकः सूर्यमित्रः सांप्रतं निःशेषमनीषिशिरोमणिर्वरीवर्ति तदितस्त्वरितं गत्वा तमाराध्य विद्याभ्यासं युवामाचरतां। तौ च तन्मातृवचनं निशम्य राजगृहनगरं त्वरितमगमतां। तत्र सूर्यमित्रसदनं सद्यः प्रविश्य उपाध्यायं च नमस्कृत्य तत्पुरो भूमावुपविष्टौ। सूर्यमित्रोपि तद्युगलमपूर्वमालोक्य [२]विस्मयक्रांतचेताः अपृच्छत्। कौ युवां कस्मादागतौ। कस्यात्मजौ किमिह करणीयं चेति। तावूचतुः। कौशाम्ब्या आगतौ सोमशर्मात्मजौ अग्निभूतिमरुद्भूतिनामानौ त्वमाराध्यावां शास्त्राभ्यासं चिकीर्षावः। सूर्यमित्रोपि मदीयज्येष्ठभ्रातृपुत्राविमाविति सम्बन्धं जानन्नपि जुगोप। यदि विद्यां जिघृक्षू युवां तदा व्यसनानि त्यजतां यतो व्यसनिनो विद्यासिद्धिर्न भवति। यदुक्तम्–

तदनन्तर ब्राह्मणी ने पुत्रों को बुलाकर कहा–मेरे यौवनरूपी वन को काटने में कुठार स्वरूप अरे पुत्रो! राजसभा में तिरस्कृत होने वाले तुम दोनों को मरण ही शरण है। क्योंकि कहा है–

माजीवन्निति–वह जीवित नहीं है जो दूसरे के द्वारा प्राप्त तिरस्कार के दुःख से दग्ध होता हुआ भी जीवित है। माता के क्लेश को करने वाले उस पुत्र का जन्म न लेना ही अच्छा है।

तदनन्तर पुत्रों ने कहा–माता! क्रोध छोड़ो, शिक्षा देओ कि अब आगे हम दोनों को शास्त्र पढ़ने का लाभ किस तरह हो सकता है? माता ने कहा–राजगृह नगर में सूर्यमित्र नाम का तुम्हारा काका रहता है वह व्याकरण का ज्ञाता है, तर्क शास्त्र का उसने अध्ययन किया है, वह न्याय शास्त्ररूपी समुद्र का पारगामी है और परवादियों के शिर की खोपड़ी को कूटने वाला है। इस समय वह समस्त विद्वानों का शिरोमणि है। इसलिए तुम दोनों यहाँ से शीघ्र जाकर तथा उसकी सेवा कर विद्याभ्यास करो। दोनों पुत्र माता के वचन सुनकर शीघ्र ही राजगृह नगर गए। वहाँ सूर्यमित्र के घर में प्रवेश कर तथा उपाध्याय को नमस्कार कर उसके आगे भूमि पर बैठ गए। सूर्यमित्र ने भी उन पुत्रों के युगल को पहले कभी देखा नहीं था, इसलिए देखकर आश्चर्य से युक्तचित्त होते हुए पूछा–तुम दोनों कौन हो ? कहाँ से आए हो? किसके पुत्र हो और यहाँ क्या कार्य है ? पुत्रों ने कहा–हम दोनों कौशम्बी से आए हैं, सोमशर्मा के पुत्र हैं अग्निभूति मरुभूति हमारा नाम है, आपकी सेवा कर शास्त्राभ्यास करना चाहते हैं। सूर्यमित्र ने भी यह हमारे बड़े भाई के पुत्र हैं इस सम्बन्ध को जानते हुए भी उसे छिपा लिया तथा कहा कि यदि तुम दोनों विद्या ग्रहण करना चाहते हो तो व्यसनों को छोड़ो क्योंकि व्यसनी मनुष्य को विद्या की सिद्धि नहीं होती। जैसा कि कहा है–

---

१. ऽयजनो प०, २. विस्मयवंतचेता प०, विस्मयवांतचेताः म०।

[१]स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रणष्टसचिवस्य नराधिपस्य॥

भिक्षाया निजोदरपूरणं गुरुशुश्रूषणं भूमिशयनं च वितन्वतोर्भवतोः श्रुतावधारणशक्तिः। अथ तच्छिष्यद्वयं स उपाध्यायः सभाष्यं व्याकरणमपीपठत् वेदांश्च सांगानध्यजीज्ञपत् प्रमाणशास्त्राण्यबूबुधत्। अथ सुप्रसन्ने गुरौ। शिष्योऽवश्यमचिरेणैव विद्यांबुधिपारदृश्वा भवत्येव। यदुक्तम्–

गुरोः प्रसादाद्धि सदा सुखेन प्रागल्भमायाति विनेयबुद्धिः।
माधुर्यमाम्रोद्भवमंजरीणामास्वादनात्कोकिलवागिवाशु॥

ततः सूर्यमित्रेण तौ सद्वस्त्राभरणैः संमान्य मम भ्रातृपुत्रौ युवामिति संबंधं प्रकाश्य आत्मपुरं व्रजतमित्युदीर्य च प्रेषितौ। तौ च निजनगरं प्राप्य महीपालं विद्वत्तयानुरज्य स्वपदं लेभाते सुखेन च तस्थतुः। इतश्च राजगृहे जलांजलिं सूर्याय ददतः सूर्यमित्रस्य करान्नृपदत्ता मुद्रिकान्तःकमलं पपात। अथ गृहं गतः सूर्यमित्रो मुद्रिकां हस्ताङ्गुलावपश्यन् किं नृपस्योत्तरं दास्यामीति व्याकुली बभूव। ततः सुधर्ममुनिमष्टांगनिमित्तकोविदं गत्वा

स्तब्धस्येति–अहंकारी मनुष्य का यश, विषम मनुष्य की मित्रता, क्रियाहीन मनुष्य का कुल, धन संग्रह में तत्पर मनुष्य का धर्म, व्यसनी मनुष्य की विद्या का फल, कंजूस मनुष्य का सुख और मंत्री से रहित राजा का राज्य नष्ट हो जाता है। भिक्षा से अपना पेट भरो, गुरुओं की सेवा करो और भूमि पर शयन करो। ऐसा करने से तुम दोनों में शास्त्र को धारण करने की शक्ति आवेगी। तदनन्तर उपाध्याय ने उन दोनों शिष्यों को भाष्य सहित व्याकरण पढ़ाया, अंग सहित वेद पढ़ाए तथा न्याय शास्त्र का ज्ञान कराया। गुरु के प्रसन्न रहने पर शिष्य अवश्य ही तथा शीघ्र ही विद्यारूपी समुद्र का पारगामी हो जाता है। जैसा कि कहा है–

गुरोरिति–जिस प्रकार आम के वृक्ष से उत्पन्न हुई मञ्जरियों के भक्षण से कोयल के वचन शीघ्र ही मधुरता को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार गुरु के प्रसाद से शिष्य की बुद्धि सदा सुख से सरलता पूर्वक प्रगल्भता को प्राप्त हो जाती है।

तदनन्तर सूर्यमित्र ने उन दोनों को अच्छे वस्त्राभूषणों से सम्मानित कर तुम दोनों हमारे भाई के पुत्र हो, ऐसा सम्बन्ध प्रकट किया और अब तुम अपने नगर जाओ। ऐसा कहकर उन्हें विदा किया। दोनों पुत्र अपने नगर पहुँचे और विद्वत्ता से राजा को प्रसन्न कर अपने पद को प्राप्त हो गए तथा सुख से रहने लगे।

इधर राजगृह नगर में सूर्यमित्र को राजा ने एक अंगूठी दी थी जो सूर्य के लिए जलाञ्जलि देते समय सूर्यमित्र के हाथ से गिर कर कमल के भीतर जा पड़ी। जब सूर्यमित्र घर आया और हाथ की अंगुलि में उसने अंगूठी नहीं देखी तब वह, ''राजा को क्या उत्तर दूँगा'' यह विचार कर बहुत

---

१. पञ्चतन्त्रे

च पर्यनुयोगं चकार। यतिरुवाच। भो द्विज! मास्म दुःखं कार्षीः यत्र त्वया जलांजलिः क्षिप्ता तत्र करान्निसृत्य पद्मकोशे निपतिता। प्रातः सत्वरं गत्वा गृह्णीथाः। सोपि नान्यथा यतिवचनमिति कृतनिश्चयो निजनिलयमीयिवान्। निशावसाने अंगुलीयकं नलिनांतर्लब्धवान्। अहो दिगम्बरा! एव नितरां यद्भूत् यद्भविष्यति यच्च वर्तते तत्सर्वं सर्वतो विदन्ति तदहमेतानुपास्य त्रिकालवेदी भविष्यामि इति विमृश्य मतिश्रुतावधिज्ञानलोचनं यतीशं गत्वा कपटेन ववन्दे। उवाच च–

रोहणं सूक्तिरत्नानां वंदे वृंदं विपश्चिताम्।
यन्मध्यं पतितो नीचकाचोप्युच्चैर्मणीयते॥

तदहमपि त्वत्पादप्रसादेन त्वमिव ज्ञानी बुभूषामि। मुनिरपि तं सूर्यमित्रमासन्नभव्यं विज्ञाय व्याजहार। भो अहमिव यदि त्वं दिगंबरः स्याः तदा ज्ञानी भवेः। सोपि "दिगंबरो भूत्वा कलां गृहीत्वा पुनः स्वगृहं यास्यामीति विचार्य" जगाद। स्वामिन्मां दीक्षादानेन लघु प्रसादय। मुनिनापि स तपश्चरणं ग्राहितः। सोपि श्रुतपदानि पठन् सद्यः सम्यग्दृष्टिः दृढव्रतश्चाभूत्। यदुक्तम्–

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अंगारवत् खलो दीप्तोऽमली वा भस्मना भवेत्॥

व्याकुल हुआ। तदनन्तर अष्टांग निमित्त शास्त्र के ज्ञाता सुधर्म नामक मुनि के पास जाकर उसने अंगूठी के विषय में पूछा। मुनि ने कहा–भो ब्राह्मण! दुःख मत करो, तुमने जहाँ जलाञ्जलि दी थी वहाँ तुम्हारे हाथ से निकल कर वह अंगूठी कमल की बोंडी में जा पड़ी है प्रातः काल जल्दी जाकर ले आना। सूर्यमित्र भी मुनि के वचन अन्यथा नहीं होते ऐसा निश्चय कर घर आ गया। प्रातःकाल होते ही उसने कमल के भीतर अपनी अंगूठी प्राप्त कर ली। आश्चर्य है कि जो हो चुका जो होगा और जो हो रहा है उसे सब तरह से दिगम्बर मुनि ही अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए मैं इनकी उपासना कर त्रिकालज्ञ होऊँगा ऐसा विचार कर उसने मतिश्रुत और अवधिज्ञानरूपी नेत्रों से युक्त मुनिराज के पास जाकर उन्हें कपट से वन्दना की तथा कहा–

रोहणमिति–सूक्तिरूपी रत्नों के लिए रोहणगिरि के समान उन विद्वानों के समूह को मैं नमस्कार करता हूँ जिन के बीच में पड़ा हुआ नीच काँच भी उत्कृष्ट मणि के समान आचरण करने लगता है।

मैं भी आपके चरणों के प्रसाद से आप जैसा ज्ञानी होना चाहता हूँ। मुनि ने भी उस सूर्यमित्र को निकट भव्य मानकर कहा–

भो विद्वान्! यदि तुम मेरे समान दिगम्बर हो सको तो ज्ञानी हो सकते हो। सूर्यमित्र ने भी दिगम्बर होकर तथा कला ग्रहण कर फिर अपने घर चला जाऊँगा, ऐसा विचार कर कहा–स्वामिन् मुझे शीघ्र ही दीक्षा देकर प्रसन्नता प्रकट करो। मुनि ने भी उसे दीक्षा दे दी। वह शास्त्रों को पढ़ता हुआ शीघ्र ही सम्यग्दृष्टि तथा दृढ़व्रती हो गया। जैसा कि कहा है–

शास्त्राग्नाविति–शास्त्ररूपी अग्नि में पड़कर भव्य पुरुष मणि के समान निर्मल होता हुआ

गुरुमापृच्छ्य तीव्रतपश्चरणं चरन् कौशाम्बीनगरीं गतवान्। तत्र कांश्चिदुपवासान् कृत्वा पारणार्थ-मग्निभूतिमरुद्भूतिमन्दिरं प्रविशत्। अग्निभूतिरपि सप्तगुणसमन्वितः तस्मै मुनये नवकोटि-विशुद्ध्याहारं दत्तवान्, ततो मुनिर्गृहीताहारस्तद्गृहे क्षणं तस्थिवान्। सर्वैरपि द्विजात्मजैर्यतिनमस्कृतः। अग्निभूतिना प्रेरितोपि वायुभूतिर्मुनीन्द्रं न नमति केवलं जुगुप्सते। पुनरग्निभूतिः प्राह रे त्वमनेन पाठितः एतादृशं महिमानं च प्रापितस्तत्किमेनं न नौषि। यदुक्तम्–

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य च।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम्॥

मरुद्भूतिः ब्रूतेस्म। अनेन दुरात्मनाहं भूमौ शायितः भिक्षान्नेन भोजितः अत्यर्थं क्लेशितः तदेनं वचनेनापि न संभावयामि किं पुनर्नमस्कारेण इति ब्रुवाणो दोषानेव गृह्णाति। यदुक्तम्–

[1]**गुणानगृह्णान् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः।**
चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः॥

सुशोभित होता है और खल–दुर्जन पुरुष अंगार के समान दीप्त होता है परन्तु पीछे भस्म में मलीन हो जाता है।

तदनन्तर तीव्र तपश्चरण करते हुए सूर्यमित्र मुनि गुरु से पूछकर कौशाम्बी नगरी गए। वहाँ कुछ उपवास कर उन्होंने पारणा के लिए अग्निभूति और मरुभूति के भवन में प्रवेश किया। अग्निभूति भी सात गुणों से सहित था इसलिए उसने उन मुनि के लिए नौ कोटियों से विशुद्ध आहार दिया। तदनन्तर मुनि आहार लेकर कुछ देर तक उसके घर बैठे रहे। ब्राह्मण के सभी पुत्रों ने मुनि को नमस्कार किया। अग्निभूति ने वायुभूति को भी प्रेरित किया परन्तु उसने मुनि को नमस्कार नहीं किया, वह निन्दा करने लगा। अग्निभूति ने फिर कहा–अरे, इसने तुम्हें पढ़ाकर ऐसी महिमा को प्राप्त कराया है फिर भी तुम उन्हें नमस्कार नहीं करते। कहा भी है–

अक्षरस्यापीति–जो मनुष्य एक अक्षर एक पदार्थ तथा एक पद के भी देने वाले गुरु को भूल जाता है वह पापी है फिर जो धर्म का उपदेश देने वाले को भूलता है उसका तो कहना ही क्या है?

वायुभूति ने कहा–इस दुष्ट ने मुझे भूमि पर सुलाया था, भिक्षा का अन्न खिलाया था तथा अत्यधिक क्लेश पहुँचाया था इसलिए मैं वचन से भी इसका सम्मान नहीं करता हूँ नमस्कार से तो कहना ही क्या है। ऐसा कहता हुआ वायुभूति दोषों को ग्रहण करता रहा। कहा भी है–

गुणानिति–सज्जन गुणों को ग्रहण किए बिना और दुर्जन दोषों के कहे बिना संतोष को प्राप्त नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि चिरकालीन अभ्यास रूपी कारण से प्रेरित हुई बुद्धि गुणों और दोषों में प्रवृत्ति होती है।

---

१. चन्द्रप्रभचरिते वीरनंदिनः।

मुनिरपि स्तुतौ निन्दायां समधीरग्निभूतिना सह तपोवनं जगाम। अग्निभूतिरपि यत्र लघुरप्याज्ञा-भंगमाचरति कथितं न पुनः कुरुते तत्र स्थातुं नोचितमिति जातवैराग्यो दीक्षां गृहीतवान्। अथाग्निभूतिपत्न्या वायुभूति-समीपं निजगदे, रे यत्त्वया मुनिर्न नमस्कृतस्तेनैव निर्विण्णो भवदीयो बान्धवो मुक्तगृहबन्धनः प्राव्राजीत्। रे दुरात्मन् शृंगपुच्छविरहितो द्विपदः पशुस्त्वमेतादृशीं लोकवन्दितां पदवीं येन प्रापितः तस्यावमाननां विदधानः कां गतिं यास्यसि। एवं दूषितो वायुभूतिरुत्थाय तां कोपात्लत्तप्रहारेणाताडयत्।

सा विकटामर्षप्रकर्षान्वितस्वांता निदानमिति बबन्ध येन क्रमेणाहं त्वया हता तमेव क्रममादिं कृत्वा तैरश्चमप्याश्रित्य त्वां पापिनं भक्षितुमिच्छामि।

इतश्च वायुभूतिः [१]कुष्ठीभूत्वा मृतस्तदनु खरीशूकरीकुक्कुर्यादिभवान् लब्ध्वा चाण्डालपुत्री दुर्गन्धा समजनि। अग्निभूतिमुनिना सा दृष्टा संबोधिता। मकारत्रयनिर्वृत्तिं कारिता अणुव्रतं ग्राहिता च। तस्य व्रतस्य माहात्म्येन सा मृत्वा ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा बभूव। अथ सूर्यमित्राग्निभूतिमुनिभ्यां सम्बोधिता पाठिता च। सा च विज्ञातश्रुतरहस्या तौ नमस्कृत्य दीक्षां जग्राह। अनेकधा तपश्चरणं कृत्वा प्रांते चतुर्विधाहारपरिहारं च विधाय स्त्रीलिङ्गं च छित्वा षोडशे स्वर्गेऽच्युतेन्द्रोऽजनि। यदुक्तम्-

---

मुनि भी स्तुति और निन्दा में मध्यस्थ बुद्धि होते हुए, अग्निभूति के साथ तपोवन को चले गए। अग्निभूति ने विचार किया कि जहाँ छोटा भाई भी आज्ञा भंग करता है, कहा नहीं करता है, वहाँ रहना अच्छा नहीं है, ऐसा विचार कर उसने विरक्त हो दीक्षा ले ली। तदनन्तर अग्निभूति की पत्नी ने वायुभूति के पास जाकर कहा कि तुमने मुनि को नमस्कार नहीं किया है, इसी से विरक्त होकर तुम्हारे भाई ने घर के बन्धन से मुक्त हो दीक्षा ली है। रे दुष्ट! तू सींग और पूँछ से रहित दो पैर वाला पशु है। जिसने तुझे ऐसी लोक वन्दित पदवी को प्राप्त कराया, उसी का अपमान करता हुआ, तू किस गति को प्राप्त होगा। इस प्रकार जिसे दोष दिया गया था ऐसे उस वायुभूति ने उठकर अग्निभूति की पत्नी को क्रोधवश लात मार कर ताड़ित किया। तीव्र क्रोध से जिसका हृदय परिपूर्ण था ऐसी अग्निभूति की पत्नी ने निदान किया कि तूने जिस पैर से मुझे ताड़ित किया है, मैं उसी पैर से प्रारम्भ कर तुझ पापी को खाना चाहती हूँ भले ही मुझे तिर्यञ्च पर्याय का आश्रय लेना पड़े।

इधर वायुभूति कोढ़ी होकर मरा और गर्दभी, सूकरी तथा कुत्ती आदि के भव प्राप्त कर दुर्गन्ध से युक्त चांडाल की पुत्री हुआ। अग्निभूति मुनि ने जब उसे देखा तब संबोधित किया और तीन मकार छुड़वाये तथा अणुव्रत ग्रहण कराए। उस व्रत के प्रभाव से वह चांडाल पुत्री मरकर नागश्री नाम की ब्राह्मण पुत्री हुई। तदनन्तर सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनियों ने नागश्री को संबोधित किया तथा पढ़ाया। शास्त्रों का रहस्य जानकर उसने उन दोनों मुनियों को नमस्कार किया तथा आर्यिका की दीक्षा ले ली। अनेक प्रकार के तप कर तथा अन्त में चार प्रकार के आहार का त्याग कर उसने संन्यास धारण किया और स्त्रीलिंग छेदकर सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुई। जैसा कि कहा है-

१. कष्टीभूत्वा म०।

यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः॥

इतश्चावंतीविषये उज्जयिन्यां सोच्युतेन्द्रोऽवतीर्य श्रेष्ठितनूजः सुकुमालनामा बभूव। स पूर्वोपार्जित-शुभकर्मणा बहुधा राज्यादिकं प्राप्तवान्। यदुक्तम्–

राज्यं च सम्पदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।
पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदुः॥

अथ तन्मातुलेन गुणधराचार्येण सुकुमालसदनस्य पश्चिमायां दिशि वर्तमाने क्रीडोद्याने समागत्य स्थितं। सुकुमालो मुनिदर्शनेनैव दीक्षां स्वीकरिष्यतीति मत्वा तन्मात्रा गृहमध्य एव स्थाप्यते न बहिर्निष्कास्यते कदाचित्। अथ सुकुमालमात्रा मुनिरागत्य प्रोक्तस्त्वया अत्र न स्थातव्यं। तद्वचनं श्रुत्वा मुनिर्मौनमाश्रित्य स्थितः। अथ प्रभातकल्पायां निशि ऊर्ध्वलोकप्रज्ञप्तिं पठन् मुनिः सुकुमालेनाश्रावि, अहमच्युतेंद्रोऽच्युते एतादृशानि सुखान्यालप्सि इति सस्मार सुकुमालः। ततस्तत्क्षणजातिस्मरः ज्ञातस्ववृत्तान्तो मुनि-समीपमीयिवान्। यतिरपि तं धर्मोपदेशामृतेन संतोष्य न्यगदीत्। वत्स तवायुर्दिनत्रयमेव तत्त्वं परलोकसाधनोपायमाचर।

यद्दूरमिति–जो कार्य दूर है, दुराराध्य है, तथा दूर स्थित है, वह सब तप से साध्य हो जाता है क्योंकि तप का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

इधर वह अच्युतेन्द्र अवन्तिदेश की उज्जयिनी नगरी में सुकुमाल नाम का श्रेष्ठि पुत्र हुआ। उसने पूर्वोपार्जित शुभ कर्म से अनेक प्रकार का राज्यादिक वैभव प्राप्त किया। जैसा कि कहा है–

राज्यंचेति–राज्य, संपदाएँ, भोग, अच्छे कुल में जन्म, सुन्दररूप, पाण्डित्य, दीर्घायु और नीरोगता इन सबको धर्म का फल जानना चाहिए।

तदनन्तर सुकुमाल के मामा गुणधराचार्य सुकुमाल के भवन की पश्चिम दिशा में वर्तमान उपवन में आकर ठहर गए। मुनि के दर्शन मात्र से सुकुमाल दीक्षा ले लेगा, ऐसा मान कर उसकी माता उसे घर के भीतर ही रखती थी, कभी बाहर नहीं निकलने देती थी। सुकुमाल की माँ ने मुनि गुणधराचार्य के पास आकर कहा कि आपको यहाँ नहीं रहना चाहिए। उसके वचन सुनकर मुनि मौन लेकर बैठ गए।

तदनन्तर जब रात्रि प्रातःकालरूप में परिणत होने वाली थी। तब मुनि उर्ध्वलोक प्रज्ञप्ति का पाठ करने लगे, सुकुमाल ने उसे सुना। सुनते ही सुकुमाल को स्मरण हुआ कि मैं अच्युतस्वर्ग में अच्युतेन्द्र था और ऐसे सुखों को प्राप्त था। पश्चात् जिसे उसी क्षण जातिस्मरण हुआ था और जिसने अपना सब वृत्तान्त जान लिया था ऐसा सुकुमाल, मुनि के समीप पहुँचा। मुनि ने भी उसे धर्मोपदेश रूपी अमृत से संतुष्ट कर कहा–वत्स! तेरी आयु मात्र तीन दिन की है इसलिए तू परलोक को साधने

सुकुमालोप्यासन्नभव्यत्वात्तत्क्षणसंजातवैराग्यो[1] मुनिमानम्य दीक्षां जग्राह। ततो नगराद्बहिरुद्याने सुकुमालो मुनिर्दिनत्रयं यावत् गृहीतसंन्यासो योगमास्थाय तस्थिवान्। [2]तत्रैव वने सा अग्निभूतिभार्या बहूनि भवान्तराणि पर्यट्य श्रृगाली बभूव। अथ तं मुनिमालोक्य पूर्वभववैरसम्बन्धेन संस्मृतभवांतरचरित्रा तत्क्षणसमुद्भूतामर्षा सा श्रृगाली क्रममारभ्य खादितुं प्रवृत्ता। सुकुमालो मुनिरपि परमसाम्यमारूढः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राविनाभूतचिदानंदध्यानसामर्थ्येन सर्वार्थसिद्धिं जगाम ॥१॥ अथायोध्यापुर्यां सिद्धधर्मार्थः। सिद्धार्थो नाम श्रेष्ठी तस्य मनोवल्लभा वल्लभा जयावती। तयोः पुत्रः कलाकुशलः सुकोशलोऽजनि। यदुक्तम्–

किं तेन जातु जातेन मातृयौवनहारिणा।
स जातो येन जातेन याति वंशः[3] समुन्नतिम्॥

प्रसादसदनं नन्दनस्य वदनमालोक्य सम्यग्दृष्टिः स श्रेष्ठी समाधिगुप्तनाम्नो मुनेः पादान्ते प्राव्राजीत्। यदुक्तम्–

का उपाय कर। सुकुमाल ने भी निकट भव्य होने के कारण तत्क्षण विरक्त हो मुनिराज को नमस्कार कर दीक्षा ले ली। तदनंतर सुकुमाल मुनि नगर के बाहर उद्यान में तीन–दिन के संन्यास का नियम लेकर तथा ध्यान धारण कर स्थित हो गए। वह अग्निभूति की स्त्री अनेक भवों में भ्रमण कर उसी वन में श्रृगाली हुई थी। तदनन्तर उस श्रृगाली ने ज्यों ही मुनि को देखा त्योंही पूर्वभव के बैर के सम्बन्ध से भवान्तरों का सब चरित्र उसे स्मृत हो गया तथा तत्काल उत्पन्न हुए क्रोध से युक्त होकर वह श्रृगाली उन्हें पैर से प्रारम्भ कर खाने लगी। सुकुमाल मुनि भी परम साम्यभाव को प्राप्त हो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से अविनाभूति चिदानन्द से ध्यान की सामर्थ्य से सर्वार्थसिद्धि गए। इस प्रकार सुकुमाल मुनि की कथा पूर्ण हुई।

सुकौशल मुनि की कथा

अथानन्तर अयोध्यानगरी में धर्म और अर्थ को सिद्ध करने वाले सिद्धार्थ नाम के सेठ रहते थे। उनके हृदय को आकर्षित करने वाली जयावती नाम की स्त्री थी। उन दोनों

के अनेक कलाओं में कुशल सुकौशल नाम का पुत्र हुआ। जैसा कि कहा है–

किमिति–माता के यौवन को हरने वाले उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ है। उत्पन्न तो वह कहलाता है जिससे वंश उन्नति को प्राप्त होता है।

पुत्र का प्रसन्नमुख देख उस सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठी ने समाधिगुप्त मुनि के चरणमूल में दीक्षा ली। जैसा कि कहा है–

---

१. संयत वैराग्यो प०, २. प पुस्तके त्रुटितोऽयंपाठः–तत्रैव वने सा अग्निभूतिभार्या बहूनि भवान्त–राणिपर्यट्य श्रृगाली बभूव। अथ तं मुनिमालोक्य पूर्वभव वैर सम्बन्धेन संस्मृतभवान्तर चारित्रा तत्क्षण समुद्भूतभार्या सा श्रृगाली क्रममारभ्य, ३. पुनः म० वंशममुन्नतिः प०।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
भीतः संसारतो भव्यस्तपश्चरति दुश्चरम्॥

अतो जयावती श्रेष्ठिनी गृहीतदीक्षां भर्तारं कर्णा कर्णिकयाकर्ण्य[१] गत्वा च तमेवं ततर्ज। रे दुराचार कुलपांसन बालतनयप्रतिपालनं कर्तुमशक्तस्त्वं[२] नग्नीभूतः स्थितोसि। किं विवेकविकलस्य नग्नत्वमभिप्रेतार्थ-सिद्धये भवति। नग्नाः किं वृषभा न भवन्ति यतः सत्पुरुषो बालतनयमकार्यशतमपि कृत्वा प्रतिपालयति। यदुक्तम्–

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।
अपकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥

तन्नग्नीभूय किं साधितं। अथ सा तद्गुरुमप्येवमुपा[३]लम्भितवती भो मुने भवतामुं भार्यापुत्रयोः प्रतिपालकं श्रेष्ठिनं दीक्षयता अपरीक्षितमकारि। यदुक्तम्–

[४]अपरीक्षितं न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मणी नकुलं यथा॥

ततः कोपावेशवशंवदया तया गुरुशिष्यौ ''मद्गृहे अस्मिन् पुरे च प्रवेशो न कर्तव्य'' इति निषिद्धौ

विरज्येति–संसार से भयभीत भव्य पुरुष काम भोगों से विरक्त होकर शरीर विषयक इच्छा को छोड़कर कठिन तपश्चरण करता है।

तदनन्तर जयावती सेठानी ने जब कर्ण परम्परा से सुना कि पति ने दीक्षा ले ली है, तब उसने पति के पास जाकर उसे इस प्रकार डाँटा, रे दुराचारी! कुल कलंकी! छोटे बच्चे की रक्षा करने में तू असमर्थ रहा इसलिए नग्न होकर बैठा है। विवेक हीन मनुष्य की नग्नता क्या इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए होती है ? क्या बैल नंगे नहीं होते ? जब कि सत्पुरुष सैकड़ों अकार्य करके भी छोटे बच्चे की रक्षा करते हैं। जैसा कि कहा गया है–

वृद्धोचेति–वृद्ध माता, पिता, पतिव्रता स्त्री और शिशु पुत्र, सैकड़ों अकार्य करके भी इनका भरण-पोषण करना चाहिए, ऐसा मनु ने कहा है।

तब नग्न होकर तूने क्या सिद्ध कर लिया? तदनन्तर पति के गुरु को भी उसने इसी तरह उलाहना दिया। हे मुने! स्त्री और पुत्र का पालन करने वाले इस सेठ को दीक्षा देते हुए आपने अपरीक्षित काम किया है। जैसा कि कहा गया है–

अपरीक्षितमिति–अपरीक्षित कार्य नहीं करना चाहिए किन्तु सुपरीक्षित कार्य करना चाहिए। नहीं तो पीछे संताप होता है जैसे कि नेवले को मारने वाली ब्राह्मणी को हुआ था।

तदनन्तर कोपावेश की वशीभूत उस सेठानी ने गुरु और शिष्य–दोनों मुनियों को निषेध किया

---

१. कर्णिकयाकर्ण्य म०, २. मशक्तक्त नग्नीभूत प०, ३. मुपालब्ध प०, ४. पञ्चतंत्रे।

इति जयावतीदुर्वचनकुठारैर्भिद्यमानमपि मुनिमनो न क्षोभ[१]मानम् यदुक्तम्–

लोक एव बहुभावभावितः स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा।
पश्यतोस्य विकृतीर्जडात्मनः क्षोभमेति हृदयं न योगिनः॥

अथ परमोपशमसरःस्नानशमितकोपतापौ तौ त्वरितं देशान्तरमीयतुः।

तत्र च सिद्धार्थो मुनिः गुरुपादांते कानिचित् श्रुतपदानि अभ्यासीत् अज्ञानमयतमोविनाशमनैषीत्। अथ बहुषु वत्सरेषु अतीतेषु सिद्धार्थो मुनिर्गुरुमापृच्छ्य तामयोध्यामयासीत्। पूजापुरस्सरं सर्वो हि पौरो धर्मार्थी तं मुनिराजं प्राणंसीत्। सुकोशलोपि मुनिदर्शनसंभवदमन्दानंदः स्वजननीमप्राक्षीत्। मात–रस्य दर्शनात्। मम मनोऽत्यंतं प्रसीदति नेत्रे च तृप्यतस्तदयं कः कस्मादुपागतश्च। माता च कालुष्य[२]क्रांतस्वांता न किंचिद्वदतिस्म। ततो धात्री प्रोवाच। भो तनय! इमं मुनिमात्मीयं जनकं जानीहि। त्वन्मुखमवलोक्यैव तपसे जगाम। सुकोशलोपि इदं पितृचरित्रं श्रुत्वा सद्यो विषयविरतोऽजनि। यदुक्तं–

[३]**विषयविरतिः सङ्गत्यागः कषायविनिग्रहः।**
शमदमयमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ॥
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता।
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति॥

कि तुम्हें हमारे घर तथा नगर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। इस प्रकार जयावती के दुर्वचनरूपी कुठारों से भेदा जाने पर भी मुनि का मन क्षोभ को प्राप्त नहीं हुआ। जैसा कि कहा है–

लोकएषेति–यह संसार अपने द्वारा अर्जित नाना कर्मों से नाना प्रकार के भावों से युक्त है अतः इस मूर्ख संसार के विकारों को देखने वाले मुनि का हृदय क्षोभ को प्राप्त नहीं होता।

तदनन्तर परम उपशमभावरूपी सरोवर में स्नान करने से जिनका क्रोध सम्बन्धी संताप शान्त हो गया था ऐसे दोनों गुरु शिष्य मुनि शीघ्र ही देशान्तर को चले गए। वहाँ सिद्धार्थ मुनि ने गुरु के चरणमूल में कुछ शास्त्रों का अभ्यास कर लिया जिससे उनका अज्ञानरूपी अन्धकार विनाश को प्राप्त हो गया। तदनन्तर बहुत वर्षों के व्यतीत होने पर सिद्धार्थ मुनि गुरु से पूछकर अयोध्या की ओर गए नगर के सभी धर्मात्मा जनों ने पूजा कर उन मुनिराज को प्रणाम किया। मुनिराज के दर्शन से जिसे बहुत भारी आनन्द उत्पन्न हो रहा था ऐसे सुकौशल ने भी अपनी माँ से पूछा–माँ! इनके दर्शन से मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है तथा नेत्र तृप्त हो गए हैं इसलिए ये कौन हैं ? तथा कहाँ से आए हैं? जिसका चित्त कलुषता से भर रहा था ऐसी माँ ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तदनंतर धाय ने कहा–हे पुत्र! इन मुनि को तुम अपना पिता जानो। तुम्हारा मुख देखकर ही ये तप के लिए चले गए थे। सुकौशल भी पिता का यह चरित्र सुनकर शीघ्र ही विषयों से विरक्त हो गया। जैसा कहा भी है–

---

१. शोभमानं प० म०, २. वान्तस्वान्ता प० म०, ३. आत्मानुशासने गुणभद्रस्य।

ततो जनयित्रीमनापृच्छ्यैव तस्यैव यतेश्चरणांते तपो जग्राह। मातापि पुत्रशोकादार्तध्यानपरायणा परासुरासीत्। तदनु मगधदेशमध्यवर्तिनि विकटाटवीपरिवेष्टिते मंगलनाम्नि शिलोच्चये पुरोक्षाव्याघ्री किलाजनिष्ट। यः खलु पुत्रादावभीष्टे मृते नष्टे प्रव्रजिते शोकमुपगच्छति तस्यावश्यं दुर्गतिर्भवति। यदुक्तम्–

मृत्युर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृ-
न्नो गन्धोपि गुणस्य तस्य बहवो दोषाः पुनर्निश्चितम्।
दुःखं वर्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः
पापं रुक् च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घसंसारिता॥

अथ कदाचित्तौ सिद्धार्थसुकोशलाभिधानौ यतीशौ तस्मिन्नेव व्याघ्रीसमुपवेष्टिते मंगलपर्वते मासचतुष्टयपर्यंतमनशनमादाय योगं च गृहीत्वा तस्थिवांसौ। अथ [१]चतुर्थमासेषु व्यतीतेषु तौ योगं निष्ठाप्य पारणार्थं काञ्चनपुरीमुपसरंतावंतराले तामेव व्याघ्रीं व्यलोकिषातां। इयं पापिष्ठा दुष्टानिष्टं करिष्यतीति

विषयविरतिः—विषयों से विरक्ति, परिग्रह त्याग, कषायों का निग्रह, शम, दम और यम, तत्त्वों का अभ्यास, तपश्चरणों में उद्यम, मनोवृत्ति का रोकना, जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति और दयालुता ये सब बातें कुशल मनुष्य के संसाररूपी समुद्र का तट निकट रहने पर प्रकट होती है।

तदनंतर माता से बिना पूछे ही सुकौशल ने उन्हीं मुनि के पाद मूल में तप ग्रहण कर लिया–दीक्षा ले ली। माता भी पुत्र के शोक से आर्तध्यान में तत्पर हो मर गई। तत्पश्चात् वह मगध देश के मध्य में वर्तमान तथा बहुत बड़ी अटवी में घिरे हुए मंगल नाम के पर्वत पर परोक्षा नामक व्याघ्री हुई। वास्तव में जो मनुष्य पुत्रादिक इष्ट जन के मर जाने पर अथवा दीक्षा ले चुकने पर शोक को प्राप्त होता है, उसकी अवश्य ही दुर्गति होती है। जैसा कि कहा है–

मृत्योरिति—आत्मीय जन के मर जाने पर जो मोह से शोक करता है उसके गुण का तो लेश भी नहीं होता। किन्तु अनेक दोष निश्चित ही होते हैं। दुःख बढ़ता ही है, धर्मादिचारों का वर्ग नष्ट हो जाता है, बुद्धि विभ्रम हो जाती है तथा पाप, रोग, मृत्यु, दुर्गति और दीर्घ संसारीपन ये सब नियम से होते हैं।

तदनन्तर किसी समय सिद्धार्थ और सुकौशल नाम के दोनों मुनिराज व्याघ्री से युक्त उसी मंगल पर्वत पर चार माह का अनशन लेकर तथा वर्षा योग धारण कर ठहर गए। पश्चात् चार माह बीत जाने पर वे दोनों मुनिराज वर्षायोग समाप्त कर पारणा के लिए किसी नगरी की ओर जा रहे थे कि बीच में उन्होंने उसी व्याघ्री को देखा। ''यह पापिनी दुष्ट व्याघ्री अनिष्ट करेगी'' इस आशंका से दोनों ही मुनिराज संन्यास धारण कर तथा शुक्लध्यान का अवलम्बन लेकर स्थित हो गए। इधर

---

१. चतुर्षुमासेषु

संन्यासमादाय शुक्लध्यानमवलंब्य तस्थतुः। इतश्च सा व्याघ्री घोरतररूपा प्राग्जन्म-संस्कारजनिततीव्र-क्रोधोत्तालज्वलनज्वालकराला गिरिकुहरान्निर्गत्य तन्मुनियुगं चखाद। तौ शुक्लध्यानबलेन निजनिरंजन-शुद्धात्माभिमुखपरिणामपरिणतांतःकरणौ सर्वार्थसिद्धिमीयतुः। इति सुकोशल कथा ॥४९॥

मनुष्यकृतोपसर्गो यैः सोढस्तन्नामानि सूचयन्नाह;–

गुरुदत्तपंडवेहिं य गयवरकुमरेहिं तह य अवरेहिं।
माणुसकउ उवसग्गो सहिओ हु महाणुभावेहिं ॥५०॥

सहिओ सोढः **हु** स्फुटं। कः सोढः। उपसर्गः कीदृशः? **माणुसकउ** मनुष्यकृत। कैः सोढः। उपसर्गः। **गुरुदत्तपंडवेहिं** गुरुदत्तपांडवैः गुरुदत्ताख्यो भूपालः पांडवाः पांडुनरेंद्रपुत्रा युधिष्ठिरादयः गुरुदत्तश्च पांडवाश्च गुरुदत्तपांडवास्तैर्गुरुदत्तपांडवैः। अत्र गुरुदत्तकथा। हस्तिनागपुरे न्यायोपार्जितवित्तो गुरुदत्तो नाम राजा। एकदा स प्रजायाः पीडामापादयन्तं व्याघ्रमनुचरमुखादश्रोषीत्। ततः कोपाविष्टो भूपरिवृढः ससैन्यो गत्वा द्रोणीमति पर्वते सत्त्व-सन्तानघातकं तं व्याघ्रं रुरोध। व्याघ्रोपि कांदिशीकतया प्रपलाय्य गिरिगुहां प्राविशत्। सकोपो भूपो गुहांतर्दारुभारं क्षेपयित्वा वह्निमदीपयत्। तत्क्षणे प्रदीप्ताशुशुक्षिणिजिह्वाजालेन करालितो व्याघ्रो ममार।

जिसका रूप अत्यन्त भयंकर था तथा पूर्व जन्म के संस्कार से उत्पन्न तीव्र क्रोधरूपी विशाल अग्नि की ज्वालाओं से जो भयानक दिख रही थी ऐसी उस व्याघ्री ने पर्वत की गुफा से निकल कर उन दोनों मुनियों को खा लिया। निज निरञ्जन शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणामों में जिनका मन लग रहा था अर्थात् जो मन में स्वकीय शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान कर रहे थे ऐसे दोनों मुनिराज शुक्लध्यान के बल से सर्वार्थसिद्धि गए। इस तरह सुकौशल मुनि की कथा समाप्त हुई ॥४९॥

आगे मनुष्यकृत उपसर्ग जिन्होंने सहा है उनके नामों को सूचित करते हुए कहते हैं–

गुरुदत्तेति–गाथार्थ–(हु) निश्चय से **(गुरुदत्तपंडवेहिं)** गुरुदत्त तथा पाण्डवों ने **(गयवर कुमरेहि)** गजवर कुमार ने **(तहय)** और **(अवरेहिं)** अन्य **(महाणुभावेहिं)** महानुभावों ने **(माणुसकउ)** मनुष्यकृत **(उवसग्गो)** उपसर्ग **(सहिओ)** सहन किया है॥ ५०॥

टीका–अब गुरुदत्त की कथा लिखते हैं–

गुरुदत्त की कथा

हस्तिनागपुर में न्याय पूर्वक धन को उपार्जित करने वाला गुरुदत्त नाम का राजा रहता था। एक दिन उसने सेवकों के मुख से सुना कि एक व्याघ्र प्रजा को पीड़ा पहुँचा रहा है। तदन्तर क्रोध से युक्त राजा ने सेना के साथ जाकर द्रोणीमान् पर्वत् पर जीवों का घात करने वाले उस व्याघ्र को रोका, व्याघ्र भी भय से भागकर पर्वत की गुफा में घुस गया। क्रोध से भरे हुए राजा ने गुफा के भीतर लकड़ियों का समूह फिकवा कर आग जला दी। तत्काल प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं के समूह से व्याकुल होकर व्याघ्र मर गया, और मरकर चन्द्रपुरी में कपिल नाम का ब्राह्मण हुआ।

मृत्वा च चंद्रपुर्यां कपिलो नाम द्विजन्माऽजनि, इतश्च गुरुदत्तः क्षोणीपो वैराग्यकारणं किंचिदवलोक्य पुत्राय राज्यं दत्वा यतिर्बभूव। क्रमेण विहारक्रमं विदधानः चंद्रपुरीमभ्येत्य कपिलब्राह्मणस्य क्षेत्रसविधे कायोत्सर्गेण तस्थौ। कपिलोपि निजपाणिगृहीतां सिद्धान्नमादाय सत्वरमागच्छेरित्यादिश्य क्षेत्रमीयिवान्। तत् क्षेत्रं कर्षणायोग्यं मत्वा क्षेत्रांतरं गतो वाडवः। इतश्च तदीया भार्या संबलं गृहीत्वा क्षेत्रं प्रति गच्छन्ती अन्तराले मुनिमालोक्य पप्रच्छ। मुने क्षेत्रेस्मिन् ब्राह्मणोस्ति नास्ति चेति तया पृष्टोपि मुनिर्न वक्ति केवलं मौनमास्थाय [1]स्थितः मुनिः। ततः सा निवृत्य स्वमन्दिरमियाय। बृहद्वेलायां तेन द्विजन्मना क्षेत्रादागत्य भार्या निर्भत्सिता॥ रंडे मुनिं पृष्ट्वा किं नायातासि। तयोक्तं पृष्टोपि न स किंचिद्वक्ति। ततोऽकारणकुपितेन कपिलेन शाल्मलितूलेन वेष्टयित्वा स यतिर्ज्वलति ज्वलने क्षिप्तः उपशमवारिणा वह्निजनितां यातनां यतिर्जित्वा शुक्लध्यानेन केवलज्ञानमुत्पादितवान्। ततोऽसुरामरास्तस्य केवलिनः पूजार्थमाजग्मिवांसः। ब्राह्मणोपि मुनिचरणार्चामाचरतोऽसुरामरानालोक्य अहो महानयं मुनिस्तदस्योपसर्ग–माचरता मयानिष्टं कृतमिति स्वात्मानं निनिंद। तदनु परमवैराग्यरससंपन्नो विप्रः क्षिप्रं यतेः पादयोरुपरि पतित्वा प्रोवाच। स्वामिन्! कृपासागर! यावदनेन पापेन नारको न भवेयं तावन्मां पाहि। मुनिरपि तमासन्नभव्यं वाडवं बुद्ध्वा दीक्षयामास। इति मनुष्यकृतोपसर्गसहनशीलस्य **गुरुदत्त**भूपतेर्दृष्टांतकथा।

इधर गुरुदत्त राजा भी वैराग्य का कोई कारण देख पुत्र के लिए राज्य देकर मुनि हो गया। वे मुनि क्रम से विहार करते हुए चन्द्रपुरी नगरी के समीप आकर कपिल ब्राह्मण के खेत के पास कायोत्सर्ग से खड़े हो गए। कपिल ब्राह्मण भी ''तैयार भोजन लेकर जल्दी आना'', ऐसा अपनी स्त्री से कहकर खेत को चला गया। कपिल ब्राह्मण उस खेत को जोतने के अयोग्य मान कर दूसरे खेत पर चला गया। इधर उसकी स्त्री कलेवा लेकर खेत की ओर जा रही थी। बीच में मुनि को देखकर उसने पूछा–हे मुने! इस खेत में ब्राह्मण है या नहीं? उसके द्वारा पूछे जाने पर भी मुनि कुछ भी नहीं बोले, केवल मौन लेकर खड़े रहे। पश्चात् वह स्त्री लौट कर घर आ गई। बहुत देर बाद जब ब्राह्मण खेत से घर आया तब उसने स्त्री को डाँटा और कहा कि रांड! मुनि से पूछकर क्यों नहीं चली आई? स्त्री ने कहा–पूछने पर भी मुनि ने कुछ नहीं कहा। तदनंतर कारण के बिना ही कुपित कपिल ब्राह्मण ने सेमर की रूई से लपेट कर मुनि को जलती हुई आग में फेंक दिया। मुनि ने उपशम भाव रूपी जल से अग्नि जनित पीड़ा को जीत कर शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तदनन्तर सुर और असुर उन केवली की पूजा के लिए आये। जब ब्राह्मण ने मुनि के चरणों की पूजा करते हुए सुर और असुरों को देखा तब उसने समझा कि अहो! ये मुनि तो महान पुरुष हैं। इनके ऊपर उपसर्ग करते हुये मैंने अनिष्ट किया है। इस तरह उसने अपने आपकी निन्दा की। तदनन्तर परम वैराग्य से युक्त ब्राह्मण शीघ्र ही मुनि के चरणों पर पड़ कर बोला–हे स्वामिन्! हे दया के सागर! इस पाप से मैं जिस तरह नरक में न पड़ूँ, उस तरह मेरी रक्षा कीजिए। मुनि ने भी उस ब्राह्मण को निकट भव्य जानकर दीक्षा दे दी।

---

१. मुनिः स्थितः म०।

अतःपरं पांडवानां कथा। पूर्वोपार्जिताखण्डपुण्यप्रभावेण दुर्जयान् दुर्योधनादीन् परांश्च शत्रून् जित्वा दक्षिणमथुरायां राज्यं कुर्वाणा विलसत्कीर्तिताण्डवाः पाण्डवाः खल्वासन्। अन्यदा ते नेमिनाथनिर्वाणमाकर्ण्य सपदि संसारशरीरभोगनिर्विण्णाः स्वस्वपुत्रेषु राज्यभारमारोप्य जैनीं दीक्षां जग्रहुः। ततस्तपस्तीव्रं चिन्वानाः शत्रुंजयशिलोच्चयशिखरमारुह्य स्थिरप्रतिमायोगेन शिलोत्कीर्णा इव तस्थुः। तथास्थितान् तानाकर्ण्य केचिद्दुर्योधनगोत्रसम्भवा राजपुत्रास्तत्पूर्ववैरं स्मृत्वा शत्रुञ्जयं समागत्य चात्यर्थमतूतुदन्। कथं। मुकुटकुण्डल-हारकेयूरकटकाद्याभरणानि लोहमयानि कृपोटयोनिघनज्वालाभिस्तप्तानि कृत्वा पांडवानां भुजाद्यवयेवेषु ते पापा निचिक्षिपुः, वह्नितापितेषु लोहेषु पीठेषु ते तान् न्यवीविशंश्च। ततो युधिष्ठिर-भीमार्जुनास्त्रयः स्वस्यैव कर्मविपाकं दुर्निवारं गणयंतः। ततो भिन्नं ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगादभिन्नमात्मानमत्यर्थं भावयंतः शुक्लध्यानबलेन घातिकर्माणि समूलकाषं कषित्वा केवलज्ञानं च समुत्पाद्य शेषाण्यपि कर्माणि क्षपयित्वांतकृतो [१]निर्वाणं शान्तमक्षयसुखमीयुः। नकुलसहदेवौ तु अद्यापि यदि राजा आदिशति तदा बाहुबलेन प्रतिपक्षान् हन्वः इति

इस प्रकार मनुष्य कृत उपसर्ग को सहन करने वाले गुरुदत्त राजा की दृष्टान्त कथा पूर्ण हुई। अब इसके आगे पाण्डवों की कथा लिखते हैं

पाण्डवों की कथा

पूर्वोपार्जित अखण्ड पुण्य के प्रभाव से दुर्जेय दुर्योधनादिक तथा अन्य शत्रुओं को जीतकर पाण्डव दक्षिण मथुरा में राज्य करते हुए रहते थे। उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त फैल रही थी। किसी समय नेमिनाथ भगवान के निर्वाण का समाचार सुनकर वे शीघ्र ही संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गए तथा अपने-अपने पुत्रों को राज्यभार सौंप कर सबने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। तदनन्तर तीव्र तप करते हुए वे शत्रुञ्जय पर्वत के शिखर पर चढ़ कर स्थिर प्रतिमा योग से इस प्रकार खड़े हो गए मानो शिला में उकेरे ही गए हों। दुर्योधन के गोत्र में उत्पन्न हुए कुछ राजकुमारों ने सुना कि पाण्डव मुनि होकर शत्रुञ्जय पर्वत पर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हैं। राजपुत्रों ने उनके पूर्व वैर का स्मरण कर शत्रुञ्जय पर्वत पर जाकर उन पाण्डव मुनियों को बहुत पीड़ा दी। किस प्रकार की पीड़ा दी सुनो-उन्होंने मुकुट, कुंडल, हार, बाजूबंद तथा कड़े आदि लोहे के आभूषण अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में तपा कर पाण्डवों के भुजा आदि अंगों में पहनाए, तथा अग्नि में तपाये हुए लोहे के आसनों पर उन्हें बैठाया तदनंतर युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन पाण्डव, अपने ही कर्मोदय को दुर्निवार मानते हुए तथा कर्मों से भिन्न ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग से अभिन्न आत्मा का अत्यधिक चिंतन करते हुए शुक्लध्यान में लीन हो गए और उसके बल से घातिया कर्मों का समूल नाश कर अन्तःकृत केवली बने तथा शेष अघातिया कर्मों का क्षय कर निर्वाण सम्बन्धी शान्त एवं अविनाशी सुख को प्राप्त हुए। नकुल और सहदेव के मन में क्षणभर के लिए यद्यपि यह भाव आया कि अब भी यदि राजा-युधिष्ठिर आज्ञा दें, तो बाहुबल से शत्रुओं को नष्ट कर दें, परन्तु ज्यों ही स्वीकृत

---

१. नैर्वाणं प० म०।

क्षणं ध्यात्वा पुनः स्वीकृतयतिव्रतरत्नस्मरणात्प्रतिबुद्ध्यात्मानं निंदित्वा परमधर्मध्यानेन सर्वार्थसिद्धिमीयतुः। **इति पांडवानां कथा**।

न केवलं पांडवादिभिः उपसर्गः सोढः। **गयवरकुमरेहिं** गजकुमारेणापि सोढः तह य अवरेहिं तथापरैः तथा तेनैव प्रकारेण अन्यैरपि सोढः। किंविशिष्टैस्तैः? **महाणुभावेहिं** महानुभावैः सत्त्वाधिकैः महापुरुषैः। **अत्र गजकुमारकथा**। इह प्रसिद्धायां [1]द्वारावत्यां वसुदेवोऽनेकभूपालकृतपादसेवो राजते। तस्यात्मजो गजकुमारः परं सर्वेषु राजकुमारेषु स पराक्रमसारः। अन्यदा नारायणेन यः पोदनपत्तननायकमपराजितं रणभूमौ विजित्य बद्ध्वा चानयति स मनोवांछितं लभते इति घोषणा निजनगर्यां दापिता। तां गजकुमारो निशम्य त्वरितं तत्र गत्वा अपराजितरणभूपालं रणक्षोणौ जित्वा बद्ध्वा चानीयं वासुदेवस्य समर्पितवान्। ततश्च कामचारं चरित्वा स द्वारवती-स्त्रीजनं सेवमानः पांसुलश्रेष्ठिपत्न्यामासक्तोऽभूत्। यदुक्तम्-

स्वाधीनेपि कलत्रे नीचः परदारलंपटो भवति।
परिपूर्णेपि तडागे काकः कुंभोदकं पिबति॥

अन्यदा गजकुमारो नेमिनाथवंदनार्थं समवसरणमीयिवान्। तत्र भगवतः परांगनापरित्यागलक्षणं

मुनिव्रत रूपी रत्न का उन्हें स्मरण हुआ, त्यों ही प्रतिबोध को प्राप्त होकर उन्होंने अपने आप की निन्दा की और उत्कृष्ट धर्मध्यान से सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया।

इस प्रकार पाण्डवों की कथा पूर्ण हुई।

न केवल पाण्डवादिक ने ही उपसर्ग सहन किया है किन्तु गजकुमार तथा अन्य महानुभावों ने भी सहन किया है।

गजकुमार की कथा

इस पृथ्वीतल पर प्रसिद्ध द्वारावती नगरी में, अनेक राजाओं के द्वारा सेवित राजा वसुदेव रहते थे। उनका एक गजकुमार नाम का पुत्र था जो सभी राजकुमारों में पराक्रमी था। किसी समय नारायण-श्रीकृष्ण ने अपनी नगरी में घोषणा कराई कि जो पोदन नगर के राजा अपराजित को रणभूमि में जीतकर लावेगा वह मनोवाञ्छित वस्तु को प्राप्त करेगा। उस घोषणा को सुनकर गजकुमार ने शीघ्र ही वहाँ जाकर तथा अपराजित राजा को रणभूमि में जीतकर बांध लिया और लाकर नारायण को सौंप दिया। तदनंतर स्वेच्छाचारी होकर वह द्वारावती की स्त्रियों को सेवन करता हुआ पांसुल नामक सेठ की पत्नी में आसक्त हो गया। जैसा कि कहा गया है-

स्वाधीनेऽपीति-अपने स्त्री के स्वाधीन रहते हुए भी नीच मनुष्य परस्त्री में लंपट रहता है सो ठीक है क्योंकि भरे हुए तालाब के रहते हुए भी कौवा घड़े का पानी पीता है।

किसी अन्य समय गजकुमार नेमिनाथ भगवान की वन्दना के लिए समवसरण में गया। वहाँ

---

१. द्वारवत्यां म०।

धर्ममुपदिशतो मुखादिदं पद्यमश्रौषीत्। उक्तं च–

चिंताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशातिदाहभ्रम
क्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसताम्।
यान्यत्रैव पराङ्गनाहितमतेस्तद्भूरि दुःखं चिरं
श्वभ्रेऽभाषि यदग्निदीपितवपुर्लोहांगनालिंगनात्॥

इत्यादिकं श्रुत्वा **गजकुमारस्तत्क्षणादेव** विरक्तः समभूत्। ततो जिनपादांते तपो जग्राह। गुरुसेवया श्रुतपदान्यन्वासीत्। कालक्रमेण गिरनार-गिरि विकटाटव्यां प्रायोपगमनमरणं[१] स्वीकृत्य संन्यासेन स्थितः। इतश्च पांसुलश्रेष्ठी चिरंतननिजांगनासक्तिजनितं वैरमनुस्मृत्य तीव्रतरक्रोधावेशात्तं मुनीन्द्रं गजकुमारं लोहकीलकैः कीलयित्वा बहुतरां पीडां चापाद्य प्रपलाय्य गतः। मुनीन्द्रोऽपि तथाविधां बाधां सोढ्वा धर्मध्यानेन [२]स्वर्गतः। **इति गजकुमार कथा** ॥५०॥

देवनिकायनिर्मितोपसर्गविषहणं यैरकारि तानुदाहरति –

अमरकओ उवसग्गो सिरिदत्तसुवण्णभद्दआईहिं।
समभावणाए सहिओ अप्पाणं झायमाणेहिं ॥५१॥

परस्त्री त्याग नामक धर्म का उपदेश देते हुए भगवान् के मुख से उसने यह पद्य सुना।

चिन्तेति–परस्त्री लंपट को जो इसी लोक में चिन्ता, व्याकुलता, भय, अरति, बुद्धिभ्रंश, तीव्रदाह, भ्रम, क्षुधा, तृषा की बाधा, रोग, दुःख और मरण ये दुःख होते हैं वे दूर रहें किन्तु अग्नि से संतप्त शरीर वाली लोहे की पुतलियों के आलिंगन से नरक में चिरकाल तक जो दुःख भोगना पड़ता है वह बहुत भारी कहा गया है।

इत्यादिक उपदेश सुन कर गजकुमार उसी समय विरक्त हो गया। तदनंतर नेमिजिनेन्द्र के चरणमूल में उसने दीक्षा धारण कर ली। गुरु सेवा से उसने शास्त्रों का अभ्यास कर लिया। कालक्रम से गजकुमार मुनि गिरनार पर्वत के निकट अटवी में प्रायोपगमन संन्यास का नियम लेकर स्थित हो गए। इधर पांसुल सेठ ने, चिरकाल तक अपनी स्त्री विषयक आसक्ति से उत्पन्न वैर का जब स्मरण किया तब वह तीव्रतर क्रोध के आवेश से उन गजकुमार मुनि को लोहे की कीलों से कील कर बहुत भारी पीड़ा पहुँचा कर भाग गया। मुनिराज भी उस प्रकार की बाधा को सहन कर धर्मध्यान से स्वर्ग गए। इस प्रकार गजकुमार मुनि की कथा हुई ॥५०॥

अब आगे देव समूह के द्वारा निर्मित उपसर्ग का सहन जिन्होंने किया है उनका उदाहरण देते हैं–

अमरकओ–गाथार्थ–(अप्पाणं) आत्मा का **(झायमाणेहिं)** ध्यान करते हुए **(सिरिदत्त-सुवण्णभद्दआईहिं)** श्री दत्त तथा सुवर्णभद्र आदि मुनियों ने **(समभावणाए)** समभावना से **(अमरकओ)** देवकृत **(उवसग्गो)** उपसर्ग **(सहिओ)** सहन किया है ॥५१॥

---

१. पादपोपयानमरण प० म०, २. स्वर्ग गतः प०।

सहिओ सोढः। कोसौ? उपसर्गः विषमतरवेदना। कीदृश उपसर्गः? **अमरकओ** अमरकृतः देवनिकायविहितः। तीव्रतरोपसर्गः **विसोढः**। कैरित्याह? **सिरिदत्तसुवण्णभद्दआईहिं** श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभिः श्रीदत्तश्च सुवर्णभद्रश्च श्रीदत्तसुवर्णभद्रौ तावादी येषां ते श्रीदत्तसुवर्णभद्रादयस्तैः श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभिः। कया सोढः? **समभावणया** समभावनया शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे समाना या भावना सा-समभावना तया समभावनया। किं कुर्वद्भिस्तैरुपसर्गः सोढः? **अप्पाणं झायमाणेहिं** आत्मानं सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावं ध्यायद्भिः ध्यानगोचरी-कुर्वद्भिः। **अत्र श्रीदत्तस्य कथा** यथा। इलावर्धननगरे राजा श्रीदत्तो राज्ञी अंशुमती तयोर्द्यूतं क्रीडतो सतोः राज्ञ्या पराभवं गते राजनि राज-पत्नीशुक एकां रेखां दत्तवान्। एकवारं राज्ञा हारितमिति कुपितेन भूपेन शुको गलं मोटयित्वा मारितः। स केनचिद्ध्यानविशेषेण मृत्वा व्यंतर-देवोऽजनि। राजा श्रीदत्तोप्यन्यदा धवलगृहोपरि स्थितो जलधरजनितप्रासादविनाशं दृष्ट्वा संजातवैराग्यः पुत्राय राज्यं वितीर्य जैनीं दीक्षामशिश्रियत्।

ततः श्रुताभ्यासं विदधानः परमं तपश्चिन्वानः कालमतिवाहयामास।

अन्यदा तीव्रतरे शीततौं प्रवर्तमाने पुरबाह्योद्याने कायोत्सर्गमाश्रित्य तस्थिवान्। शुकचरेण व्यंतरदेवेन तेन पूर्ववैरमनुस्मृत्य शीतलवारिणा सिक्तः तथा शीतलवातेन कदर्थितः सहजशुद्धं परमात्मान-माराध्य केवलाख्यं

टीका—सहज-शुद्धबुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग स्वभाव से युक्त आत्मा का ध्यान करने वाले श्रीदत्त तथा सुवर्णभद्र आदि मुनियों ने समभावना से देवनिर्मित उपसर्ग सहन किए हैं। शत्रुमित्र, तृण तथा स्त्री में समताभाव होना समभावना कहलाती है। ज्ञानी जीव विचार करते हैं कि एक शुद्धबुद्ध-स्वभाव से संपन्न आत्मा ही मेरा है, शरीरादिक पर पदार्थ निश्चय से पर ही हैं इनका नाश होने पर मेरे शुद्धबुद्ध-स्वभाव में कोई बाधा नहीं आती। ऐसा विचार कर वे देवकृत उपसर्ग को सहन करते हैं।

श्रीदत्त की कथा

इलावर्धन नगर में राजा श्रीदत्त और रानी अंशुमती रहते थे। एक बार वे दोनों जुआ खेल रहे थे। जुआ खेलते समय रानी ने राजा को हरा दिया इस पर रानी को शुक ने 'राजा एक बार हार गए' इस अभिप्राय से एक रेखा खींच दी। इससे कुपित होकर राजा ने गला मोड़ कर सुआ को मार डाला। वह सुआ किसी ध्यान विशेष से मरकर व्यन्तर देव हुआ।

किसी अन्य समय राजा श्री दत्त अपने सफेद भवन के ऊपर बैठा था। वहाँ उसने देखा कि मेघों ने एक महल बनाया है, थोड़ी देर बाद उस महल का नाश देख, उसे वैराग्य हो गया जिससे पुत्र के लिए राज्य देकर उसने जैनी दीक्षा धारण कर ली। तदनंतर शास्त्र का अभ्यास और उत्कृष्ट तप का संचय करते हुए उसने बहुत समय व्यतीत किया।

तदनंतर किसी एक समय जब अत्यन्त तीव्र शीतऋतु चल रही थी तब वे मुनि नगर के बाह्य उद्यान में कायोत्सर्ग लेकर स्थित थे। सुआ का जीव जो व्यन्तर देव हुआ था उसने पूर्व वैर का स्मरण

च ज्योतिरुत्पाद्य निर्वाणं प्राप्तवान् श्रीदत्तो मुनिः ॥५१॥

यथा प्रागुक्तैः राजर्षिभिरुपसर्गः सोढस्तथा त्वमपि सहस्वेत्युत्साहयन्नाह–

एएहिं अवरेहिं य जहं सहिया थिरमणेहिं उवसग्गा।
विसहसु तुमंपि मुणिवर अप्पसहावे मणं काऊ ॥५२॥

विसहसु विषहस्व **मुणिवर** मुनिवर क्षपक। कान्। अर्थादुपसर्गान्। **जहं एएहिं अवरेहिं य** यथा एतैः पूर्वोक्तैः सुकुमालादिभिः अपरैः अनुक्तैः संजयंतादिभिः **सहिया** सोढाः। के? **उवसग्गा** उपसर्गाः। कीदृशैः। **थिरमणेहिं** स्थिरमनोभिः स्थिरचित्तैः। यथा सुकुमालसुकोशलगुरुदत्तपांडवादिभि–राराधनास्वर्धुनीमध्यम–ध्यासीनैरुपसर्गाः चतुर्विधाः समभावनया सोढास्तथा त्वमपि यद्युत्तमां गतिं जिगमिषसि तर्हि सहस्व। किं कृत्वा? **अप्पसहावे मणं काऊ** आत्मस्वभावे परमात्मनि मनश्चित्तं कृत्वा सहस्वेत्यर्थः ॥५२॥

प्रपञ्चतः प्रकृष्टोपसर्गान्[१] व्याख्याय संप्रति क्रमायातस्येंद्रियजयस्य प्रपञ्चयन् गाथापञ्चकं निरूपयति इति समुदायपातनिका।

कर शीतल वायु के द्वारा उन्हें बहुत पीड़ा पहुँचाई परन्तु श्रीदत्त मुनि, सहज शुद्ध परमात्म की आराधना कर केवलज्ञानरूपी ज्योति को उत्पन्न कर निर्वाण को प्राप्त हुए ॥५१॥

आगे कहते हैं कि पूर्वोक्त राजर्षियों ने जिस प्रकार उपसर्ग सहा है उसी प्रकार हे क्षपक! तू भी उपसर्ग सहन कर–उत्साहित करते हुए आचार्य कहते हैं–

एएहिं इति–गाथार्थ–(मुणिवर) हे मुनि श्रेष्ठ! **(थिरमणेहिं)** स्थिर चित्त के धारक **(एएहिं)** इन सुकुमाल आदि ने **(य)** और **(अवरेहिं)** अन्य संजयन्त आदि मुनियों ने **(जहं)** जिस प्रकार **(उवसग्गा)** उपसर्ग **(सहिया)** सहन किए हैं **(तहं)** उसी प्रकार **(तुमंपि)** तुम भी **(अप्पसहावे)** आत्मस्वभाव में **(मणं काऊ)** मन लगाकर **(विसहसु)** सहन करो ॥५२॥

टीका–सुकुमाल, सुकौशल, गुरुदत्त तथा पाण्डव आदि मुनियों ने आराधनारूपी गंगा नदी के मध्य में स्थित होते हुए समभावना से चार प्रकार के उपसर्ग सह कर उत्तम गति प्राप्त की है। हे क्षपक! यदि तू भी उत्तमगति को प्राप्त करना चाहता है तो आत्मस्वभाव में मन स्थिर कर उपसर्गों को सह। शुद्ध ज्ञान दर्शन रूप स्वभाव ही मेरा है शेष शरीरादि पर द्रव्य मेरे नहीं हैं पर के विनाश से मेरा नाश होने वाला नहीं है ऐसा विचार करने से उपसर्गों का सहन करना सरल हो जाता है ॥५२॥

इस तरह विस्तार से कठिन उपसर्गों का वर्णन कर अब क्रम प्राप्त इन्द्रिय विजय अधिकार का विस्तार करते हुए पाँच गाथाएँ कहते हैं–

---

१. प्रकृष्टोपसर्गाणां प०।

तत्रादौ रूपकेण कृत्वा इन्द्रियाणां व्याधत्वं समर्थयन् स्मरे शरत्वं विषयेषु वनत्वं जनेषु हरिणत्वं प्रतिपादयति–

इंदियवाहेहिं हया सरपीडापीडियंगचलचित्ता।
कत्थवि ण कुणंति रई विसयवणं जंति जणहरिणा ॥५३॥

इंदियवाहेहिं इन्द्रियव्याधैः इन्द्रियाण्येव व्याधा आखेटिकाः परनिमित्तसुखरूपपलाभिलाषित्वेन स्वव्यापारे प्रवर्तमानत्वात्। तैरिन्द्रियव्याधैः **हया** हता घातिताः शल्यगोचरीकृताः **सरपीडापीडियंगचल-चित्ता** शरपीडापीडिताङ्गचलचित्ताः। शरो बाणः। बाणस्थानीयोत्र क इति चेत्। शरशब्देन स्मरो लभ्यते प्राकृतलक्षणदर्शनत्वात् स्मर एव शरः। शरशब्द एक एवेति चेत् नास्ति दोषः। एकस्मिन्नेव शब्देऽपि मुख्योपचारयोरुभयार्थयोः प्राप्यमाणत्वात्। न भवेदिति चेत् तदा चिंत्यमेतत् दूष्यं वैदुष्यैः। स्मररूपशरस्य पीडा बाधा तया पीडितांगे बाधितांगे सति चलचित्ता लोलमनसः **जणहरिणा** जनहरिणाः जना एव हरिणा मृगाः **कत्थवि** कुत्रापि **रई** रतिं **ण कुणंति** न कुर्वन्ति। कस्मिन्नपि स्थाने स्वगततत्त्वे परगततत्त्वे वा शास्त्रश्रवणे देवपूजायां आर्तरौद्रपरिहारनिमित्तमन्यस्मिन्नपि शुभावलंबने वा न रज्यंते न स्थितिं कुर्वन्ति स्थातुमपि न वांछन्तीत्यर्थः। कस्मात्। अनादिकर्मबन्धवशादनंतवीर्यावरणेनात्मनोऽधैर्यप्रादुर्भावात्। तदा ते

उन पाँच गाथाओं में सर्वप्रथम रूपकालंकार द्वारा इन्द्रियों में शिकारीपन का समर्थन करते हुए काम में बाणपन, विषयों में वनपन और मनुष्यों में हरिणपने का प्रतिपादन करते हैं

इंदियवाहेहि–गाथार्थ–(इंदियवाहेहि) इन्द्रियरूपी शिकारियों के द्वारा **(हया)** ताड़ित तथा **(सरपीडापीडियंगचलचित्ता)** कामरूपी बाण की पीड़ा से पीड़ित शरीर होने के कारण चंचल चित्त **(जणहरिणा)** मनुष्यरूपी हरिण **(कत्थपि)** कहीं भी **(रई)** प्रीति **(ण कुणंति)** नहीं करते हैं और **(विसयवणं)** विषयरूपी वन की ओर **(जंति)** जाते हैं ॥५३॥

टीका–यहाँ इन्द्रियों में शिकारी का आरोप किया है क्योंकि ये शिकारी के समान पर के निमित्त से होने वाले सुखरूपी मांस के अभिलाषी होकर अपने–अपने व्यापार में प्रवर्तमान हैं। शर का अर्थ बाण होता है। यहाँ बाण का स्थानापन्न काम को लिया है क्योंकि प्राकृत में स्मर शब्द का शर ऐसा रूप बनता है। यद्यपि गाथा में एक ही शर शब्द है तो भी मुख्य और उपचार रूप से दोनों अर्थ प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्यों में हरिण का आरोप किया है और विषयों में वन का आरोप किया गया है। इस तरह रूप्यरूपक भाव का निरूपण कर गाथा का अर्थ लिखते हैं–जो इन्द्रियरूपी शिकारियों के द्वारा पीड़ित हैं तथा काम पीड़ारूपी बाण की पीड़ा से शरीर के पीड़ित होने से चंचल चित्त है, ऐसे मनुष्यरूपी हरिण स्वतत्त्व, परतत्त्व, शास्त्र श्रवण, देवपूजा अथवा आर्तरौद्रध्यान से बचने के लिए अन्य किसी रूप शुभ कार्य में प्रीति नहीं करते क्योंकि अनादि कर्मबन्ध के कारण आत्मा का अनन्तवीर्य आच्छादित होने से उनका धैर्य दूर हो जाता है। वे मात्र विषयरूपी वन की

किं कुर्वन्तीति प्रश्ने? **विसयवणं जंति** विषयवनं यान्ति विषया एव वनं विषयवनं यान्ति गच्छन्ति। यथा व्याधेन बाणेन बाधिताः चलचित्ता भूत्वा कुत्रापि रतिमकुर्वाणा मृगा वनमाश्रयन्ति तथेन्द्रियैरमनस्कतां नीता स्मरपीडनेन चलचेतसो जाता जनाः कुत्रापि रतिं न कुर्वन्ति। तर्हि किं कुर्वन्ति। स्रक्चंदनवनितादीन् विषयानेव सेवते येषु सेवितेषु तृष्णा वर्धते, तदलाभे च सति इहैव दारुणं दुःखं भवति, परभवे नरकतिर्यग्योन्यादेर्भूरि दुःखान्यनुभवन्ति। एवं ज्ञात्वेन्द्रियविजयं विधाय परमात्मध्यानविधानं विधीयतामिति तात्पर्यम् ॥५३॥

ननु समस्तसंन्यस्तत्वेन प्रतिज्ञानिष्ठानां यदि विषयाभिलाषः स्यान्न तु सेवने प्रवृत्तिस्तदा किंचिद्रूपं प्रादुर्भवतीति वदन्तं प्रत्याह–

सव्वं चायं काऊ विसए अहिलससि गहियसण्णासे।
जइ तो सव्वं अहलं दंसण णाणं तवं कुणसि॥५४॥

सर्वं त्यागं कृत्वा गृहीतसंन्यासे सति यदि विषयानभिलषसि तदा दर्शनं ज्ञानं तपः सर्वमफलं करोषि। तथाहि–भो क्षपक! पूर्वं तावत्त्वं संसारस्वरूपमनित्यं नित्यं मोक्षस्वरूपं निश्चित्य चेतसि सार्वभौम-साम्राज्यराज्यलक्ष्मीं तृणवदवगणय्य **सव्वं चायं काऊ** सर्वपरिग्रहत्यागमेव कृत्वा। क्व सति। **गहिय-**

ओर दौड़ते हैं अर्थात् माला, चन्दन, स्त्री आदि विषयों का सेवन करते हैं। ऐसे विषय, जिनका कि सेवन करने पर तृष्णा बढ़ती है, जिनका वियोग होने पर इसी लोक में दारुण दुःख होता है और पर भव में नरक तथा तिर्यञ्च योनि आदि के बहुत भारी दुःख भोगने पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शिकारी द्वारा बाण से पीड़ित हरिण, चंचल चित्त होते हुए किसी स्थान में रति नहीं करते किन्तु सघन वन की ओर भागते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा बेचैनी को प्राप्त हुए मनुष्य, कामपीड़ा से चंचलचित्त होते हुए कहीं भी रति नहीं करते किसी शुभ कार्य में उनका मन नहीं लगता किन्तु विषयों का ही सेवन करते हैं। हे क्षपक! ऐसा जान कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हुए परमात्मा का ध्यान करो ॥५३॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि समस्त वस्तुओं के त्यागरूप संन्यास की प्रतिज्ञा में स्थित पुरुषों के यदि विषयाभिलाषा हो परन्तु सेवन में प्रवृत्ति न हो तो ऐसा करने से उनके क्या चैतन्य स्वरूप प्रकट होता है या नहीं ? ऐसा प्रश्न करने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं–

सव्वं चायं–गाथार्थ–(सव्वं चायं काऊ) सर्व त्याग कर **(गहियसण्णासे)** संन्यास के ग्रहण करने पर भी **(जइ)** यदि तू **(विसए अहिलससि)** विषयों की अभिलाषा करता है **(तो)** तो **(सव्वं)** समस्त **(दंसण णाणं तवं)** दर्शन, ज्ञान और तप को **(अहलं)** निष्फल **(कुण्णसि)** करता है ॥५४॥

टीका–आचार्य क्षपक को संबोधते हुए कहते हैं कि हे क्षपक! संसार का स्वरूप अनित्य है तथा मोक्ष का स्वरूप नित्य है, ऐसा चित्त में निश्चय कर तथा चक्रवर्ती के साम्राज्य की लक्ष्मी को तृण के समान उपेक्षित कर, तूने सर्व परिग्रह का त्याग किया और संन्यास को ग्रहण किया, फिर

सण्णासे गृहीत संन्यासे गृहीतश्चासौ संन्यासश्च तस्मिन् सति **जइ** यदि त्वं पुनरपि **विसए अहिलससि** विषयानभिलषसि तो तदा **दंसणं णाणं तवं** दर्शनं ज्ञानं तपश्च **सव्वं** सर्वं **अहलं** अफलं-फलरहितं **कुणसि** करोषि दर्शनज्ञानतपसां यत्संवरनिर्जरामोक्षस्वरूपं फलं विषयाभिलाषे सति तपः कुर्वत्स्वपि तन्न भवतीत्यर्थः। तथा चोक्तम्-

पठतु सकलशास्त्रं सेवतां सूरिसंघान्
दृढयतु च तपश्चाभ्यस्यतु स्फीतयोगम्।
चरतु विनयवृत्तिं बुध्यतां विश्वतत्त्वं
यदि विषयविलासः सर्वमेतन्न किंचित्॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना धर्मे विधीयमाने कस्मिन्नपि क्वापि अभिलाषो न विधेयः समीहित-निधिकत्वात्। तथा चोक्तं-

स्पृहा मोक्षेपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते।
अन्यस्मिन् तत्कथं शान्ताः स्पृहयन्ति मनीषिणः॥

किंतु शुद्धपरमात्मन्येव भावनाभिलाषो योग्यो भवतीति तात्पर्यम् ॥५४॥

ननु निखिलदोषान् परिहर्तुकामो मुनिः कस्मादशक्त[1] इति वदन्तं प्रति वदति वदतांवरः सूरिवरः।

भी तू यदि विषयों की इच्छा करता है तो दर्शन, ज्ञान और तप-सबको निष्फल करता है। दर्शन, ज्ञान और तप का फल संवर, निर्जरा तथा मोक्ष है। विषयों की इच्छा कर तू इस फल से स्वयं को वंचित करता है क्योंकि विषयों की अभिलाषा रहते हुए तप करने वाले पुरुषों को संवर, निर्जरा और मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं होती। जैसा कि कहा है-

पठतु सकलेति-समस्त शास्त्रों को पढ़ो, मुनि संघों की सेवा करो, तप को दृढ़ करो, बहुत भारी योग-ध्यान का अभ्यास करो, विनय वृत्ति का आचरण करो और समस्त तत्त्वों को जानों, फिर भी यदि विषयों की अभिलाषा है तो यह सब कुछ नहीं है।

ऐसा जान कर विवेकी मनुष्य को, धर्म किए जाने पर किसी भी विषय की अभिलाषा नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके पास इच्छित पदार्थों को पूर्ण करने वाली धर्मरूपी निधि विद्यमान है। जैसा कि कहा है-

स्पृहेति-जब मोह के कारण उत्पन्न हुई मोक्ष की इच्छा भी मोक्ष के निषेध के लिए है, मोक्ष की प्राप्ति में बाधक है, तब उपशमभाव को प्राप्त हुए विद्वज्जन अन्य पदार्थों की इच्छा कैसे कर सकते हैं?

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जनों को शुद्ध परमात्म स्वरूप की ही अभिलाषा करना योग्य है विषयों की नहीं ॥५४॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि मुनि तो समस्त दोषों का परिहार करना चाहता है फिर वह अशक्त क्यों हो रहा है ? ऐसा कहने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं-

१. मशक्य म० प०।

इंदियविसयवियारा जाम[1] ण तुट्टंति मणगया खवओ।
ताव ण सक्कइ काउं परिहारो णिहिलदोसाणं ॥५५॥

मनोगता इन्द्रियविषयविकारा यावन्न त्रुट्यन्ति तावत् क्षपको निखिल-दोषाणां परिहारं कर्तुं न शक्नोति। तथाहि-**मणगया** मनोगताः मनः प्राप्ता इन्द्रियाणां रूपादिविषयाणां च परस्परं दूरादेव सम्बन्धे सत्यपि तेषु मनसि संकल्पः संप्रतिपद्यते तदनु मुहुर्मुहुः प्रसरणं यस्मात्तस्मात् मनोगता व्याख्यायन्त इत्यर्थः। **इंदियविसयवियारा** इन्द्रियविषयविकाराः इन्द्रियाणां विषयास्त एव विकाराः। विकार इति कोर्थः? स्वस्वभावात्प्रच्याव्यान्यथाभावे प्रेरणाशीलाः यावत्कालं **ण तुट्टंति** न त्रुट्यन्ति मनःसङ्गतिं परित्यज्य न गच्छन्ति **ताव** तावत्कालं **खवओ** क्षपकः कर्मक्षपणशीलपुरुषः **णिहिलदोसाणं** निखिलदोषाणां निखिलाः समस्ता रागद्वेषमोहादयो दोषास्तेषां **परिहारो** परिहारं मोचनं **काउं** कर्तुं ण **सक्कइ** न शक्नोति कारणं विना कार्यं न दृष्टमिति वचनात्। इन्द्रियविषयविकारपरिहारकारणाभावे निखिलदोषाभावः कार्यं न संभवति। तस्मात्तपस्विना समन्तत इन्द्रियविषयविकारान्निराकृत्य रागादिदोषाभावेन शुद्धपरमात्मा भावितव्य इत्यभिप्रायः ॥५५॥

नन्विन्द्रियमल्लैर्निहितानां क्वाश्रयोऽज्ञानिनां भवति तत्प्रतिपादयति-

---

इंदियविसयेति-गाथार्थ-(मणगया) मन में स्थित **(इंदिय विसयवियारा)** इन्द्रिय विषय सम्बन्धी विकार **(जाम)** जब तक **(ण तुट्टंति)** नहीं टूटते हैं-नष्ट नहीं होते हैं **(ताव)** तब तक **(खवओ)** क्षपक द्वारा **(णिहिल दोसाणं)** समस्त दोषों का **(परिहारो)** त्याग **(काउं ण सक्कइ)** किया नहीं जा सकता ॥५५॥

टीका-यद्यपि इन्द्रियों और रूपादि विषयों का परस्पर सम्बन्ध दूर से ही होता है तो भी मन में उनका संकल्प आता है। संकल्प के बाद बार-बार उनका प्रसार होता है इसलिए उन्हें मनोगत कहा गया है। शिष्य ने प्रश्न किया था कि मुनि समस्त दोषों का त्याग करना चाहता है पर वह त्याग कर क्यों नहीं पाता ? इसके उत्तर में आचार्य ने कहा है कि जब तक मन में इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों के विकार विद्यमान हैं तब तक समस्त दोषों का त्याग नहीं किया जा सकता। ऐसा कहा गया है कि कारण के बिना कार्य नहीं देखा जाता। जबतक इन्द्रिय विषय सम्बन्धी विकारों का अभाव रूप कारण प्राप्त नहीं होगा तब तक समस्त दोषों का त्याग रूप कार्य नहीं हो सकता इसलिए तपस्वी को सब ओर से इन्द्रिय विषय सम्बन्धी विकारों को दूर कर रागादि दोषों का अभाव करते हुए परमात्मा का ध्यान करना चाहिए ॥५५॥

आगे इन्द्रियरूपी मल्लों के द्वारा पराजित अज्ञानी जीवों को आश्रय कहाँ मिलता है? इसका प्रतिपादन करते हैं-

१. जाव ग०

इंदियमल्लेहिं जिया अमरासुरणरवराण संघाया।
सरणं विसयाण गया तत्थवि मण्णंति सुक्खाइ ॥५६॥

अमरासुरनरवराणां संघाताः संतो विषयाणां शरणं गतास्तत्रापि सौख्यानि मन्यन्ते। तथाहि– **अमरासुरणरवराण** अमरासुरनरवराणां अमरा देवाः कल्पवासिनः असुराः दैत्या भवनवासिनो वा नरवराः नराणां मध्ये वराः श्रेष्ठाः मनुष्येषु मध्ये शास्त्रेण शौर्येण वीर्येण विज्ञानेन लब्धप्रतिष्ठा ये ते नरवराः कथ्यन्ते, अमराश्च असुराश्च नरवरांश्च ते अमरासुरनरवरास्तेषां **संघाया** संघाताः समुदायाः। कथंभूताः सन्तः? **इंदियमल्लेहिं जिया** इन्द्रियमल्लैर्जिताः सन्तः इन्द्रियाण्येव मल्लानि विड्दुःखावास–संसारगर्भपातकत्वात् इन्द्रियमल्लास्तैः इन्द्रियमल्लैः। **गया** गता प्राप्ताः। किं शरणं आश्रयं केषां। **विसयाणं** विषयाणां इन्द्रियार्थानां **तत्थवि** तत्रापि च तत्र तेषु स्रक्चन्दनवनिता–वातायनादिषु विषयेषु **मण्णंति** मन्यन्ते विदन्ति। कानि? **सुक्खाइ** सौख्यानि न खल्वियं प्रवृत्तिस्तत्त्वविदां चित्तेषु चमच्चरिकरीति नैते विषयाः शरणं गतानां स्वप्नेपि त्रायकाः। यदुक्तम्–

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धा,
नद्धास्ते वारिमध्ये ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।
भृंगा गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरंगाः,
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुधियामिन्द्रियार्थेषु रागः॥

इंदियमल्लेहिं—गाथार्थ—(इंदियमल्लेहिं) इन्द्रियरूपी सुभटों के द्वारा **(जिया)** पराजित **(अमरासुरणरवराण)** देव, धरणेन्द्र और श्रेष्ठ मनुष्यों के **(संघाया)** समूह **(विसयाण)** विषयों की **(सरणं)** शरण को **(गया)** प्राप्त होते हैं तथा **(तत्थवि)** उन्हीं में **(सुक्खाइ)** सुख **(मण्णंति)** मानते हैं ॥५६॥

टीका—यहाँ इन्द्रियों में मल्लों का आरोप किया गया है क्योंकि वे इस जीव को भयंकर दुःखों के निवास भूत संसार के गर्भ में गिराने वाले हैं। अमर शब्द से वैमानिक देवों का ग्रहण होता है। असुर शब्द भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन प्रकार के देवों का उपलक्षण है तथा वर शब्द से उन मनुष्यों का ग्रहण किया गया है जो शास्त्र, शौर्य, वीर्य तथा विज्ञान के द्वारा मनुष्यों में लब्ध प्रतिष्ठ हैं। एक दो देव, असुर अथवा श्रेष्ठ मनुष्यों की बात नहीं है किन्तु इनके झुण्ड के झुण्ड इन्द्रिय रूपी सुभटों से पराजित होकर विषयों की शरण में जाते हैं और उन्हीं विषयों में सुख मानते हैं। यह अज्ञानी जीवों की प्रवृत्ति है। तत्त्वज्ञ मनुष्यों के चित्त में यह प्रवृत्ति कुछ भी चमत्कार उत्पन्न नहीं करती। तत्त्वज्ञ मनुष्य की यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि ये विषय, शरण में आए हुए जीवों के स्वप्न में भी रक्षक नहीं है। जैसा कि कहा गया है–

मीना इति—यद्यपि रसना इन्द्रिय के वशीभूत हुए मीन मृत्यु को प्राप्त हुईं, स्पर्शन इन्द्रिय के

प्रत्युत दुःखदा एव। यतः–

न तदरिरिभराजः केशरी [1]केतुरुग्रो,
नरपतिरतिरुष्टः कालकूटोतिरौद्रः।
अतिकुपितकृतांतः पन्नगेद्रोपि रुष्टः,
यदिह विषयशत्रुर्दुःखमुग्रं करोति॥

तदिन्द्रियमल्लैर्जितेनापि क्षपकेण प्रसह्य विषयाणां शरणं विहाय तत्र च सुखान्यवगणय्य परमब्रह्मपदमेव शरणं गंतव्यं तत्रैव परमसौख्यमन्वेष्टव्यमिति भावः। यतः–

[2]अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥५६॥

हृषीकजं सुखं सुखं न भवति ततस्तस्मिन् वैमुख्यं विधातव्यमिति स्तवयति–

अधीन हाथी बाड़ी के बीच बन्धन को प्राप्त हुए, नेत्र इन्द्रिय के दोष से पतंगे अग्नि में जा पड़े, गन्ध की तीव्र आशा के वशीभूत भ्रमर विनाश को प्राप्त हुए और संगीत की तृष्णा से युक्त हरिण काल रूपी सर्प के द्वारा डसे गए तो भी अल्पबुद्धि मनुष्यों का इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में राग विद्यमान है।

ये इन्द्रियों के विषय रक्षक नहीं, किन्तु दुःखदायक ही है क्योंकि कहा है–

न तदरिरिति–इस संसार में विषयरूपी शत्रु जिस भयंकर दुःख को करता है उस दुःख को शत्रु, गजराज, सिंह, उग्रकेतु, अत्यन्त कुपित राजा, अत्यन्त भयंकर विष, अत्यन्त कुपित यमराज और क्रोध को प्राप्त हुआ नागराज भी नहीं करता है।

इसलिए जो क्षपक इन्द्रियरूपी मल्लों के द्वारा पराजित हुआ है, उसे ही बलपूर्वक विषयों की शरण को छोड़कर तथा उनमें प्राप्त होने वाले सुखों की उपेक्षा कर परम ब्रह्म पद–शुद्धात्म तत्त्व की ही शरण में जाना चाहिए और वहीं पर परम सुख की खोज करना चाहिए। क्योंकि कहा है–

अवश्यमिति–जब ये विषय चिरकाल तक रहकर भी अवश्य जावेंगे तब इनके छोड़ने में भेद ही क्या है जिससे मनुष्य इन्हें स्वयं नहीं छोड़ता। यदि ये विषय स्वतन्त्रता से स्वयं जाते हैं तो मन में अतुल्य संताप के कारण होते हैं और स्वयं छोड़ दिए जाते हैं तो अनन्त शान्तिसुख उत्पन्न करते हैं ॥५६॥

आगे इन्द्रियजन्य सुख–सुख नहीं है, इसलिए उससे विमुखता करना चाहिए यह कहते हैं–

---

१. काकस्तुत्यो म० (?), २. आत्मानुशासने गुणभद्रस्य

इंदियगयं ण सुक्खं परदव्वसमागमे हवे जम्हा।
तम्हा इंदियविरई सुणाणिणो होइ कायव्वा ॥५७॥

भो क्षपक **इंदियगयं ण सुक्खं** इन्द्रियगतं न सौख्यं सौख्यं न भवति। कीदृशं? इन्द्रियगतं हृषीकसंभवं विचार्यमाणं सुखं न भवति किंतु सुखाभासमेव। कुतः सौख्यं न भवति इत्याह? परद्रव्यसमागमे सति भवेत् जायेत परद्रव्याणि अन्नपानवसनताम्बूलस्रक्‌चन्दनवनितादीनि तेषां समागमः सम्यगागमनं परद्रव्य-समागमस्तस्मिन् परद्रव्यसमागमे। यतः परद्रव्यसमागमादिन्द्रियजं सुखमुपजायते ततश्च दुःखमेव। यदुक्तम्–

[१]सुखमायाति दुःखमक्षजं भजते मन्दमतिर्न बुद्धिमान्।
मधुलिप्तमुखाममन्दधीरसिधारां खलु को लिलिक्षति॥

यदीन्द्रियजं सुखं वास्तवं न भवति तर्हि किं कर्तव्यमित्याह? **तम्हा इंदियविरई** तस्मात्कारणात् इन्द्रियविरतिः विरमणं विरतिः इन्द्रियेभ्यो विरतिः इन्द्रियविरतिः। इन्द्रियजेषु सुखेषु वैमुख्यमित्यर्थः। **कायव्वा** कर्तव्या इन्द्रियसंभवसुखविरतिः कर्तव्या **हवे** भवेत्। सा कस्य कर्तव्या भवतीत्याह? **सुणाणिणो** सुज्ञानिनः शोभनं ज्ञानं परमानंदामृतसंभृतावस्थस्य परमात्मनः परिज्ञानं शोभनं ज्ञानमुच्यते सुज्ञानमस्यास्तीति सुज्ञानी तस्य सुज्ञानिनः ततो विषयजं सुखं विनश्वरं निस्सारं ज्ञात्वा अविनश्वरे स्वात्मोत्थे सुखे रतिर्विधातव्या सुज्ञानिन इति भावार्थः ॥५७॥ **इन्द्रियजयाधिकारः।**

इंदियगयमिति–गाथार्थ–हे क्षपक! **(इंदियगयं)** इन्द्रियों से होने वाला **(सुक्खं)** सुख **(सुक्खण)** सुख नहीं है **(जम्हा)** क्योंकि वह **(परदव्वसमागमे)** परद्रव्य के संयोग से होता है। **(तम्हा)** इसलिए **(सुणाणिणो)** सम्यग्ज्ञानी जीव को **(इंदियविरई)** इन्द्रिय विषयों से विरक्ति **(कायव्वा होइ)** करने योग्य है ॥५७॥

टीका–अन्न, पान, वस्त्र, ताम्बूल, माला, चन्दन तथा स्त्री आदि पर द्रव्य हैं इनका समागम होने पर इन्द्रिय जन्य सुख होता है इसलिए परमार्थ से वह सुख नहीं है किन्तु सुखाभास ही है– दुःखरूप ही है। जैसा कि कहा गया है–

सुखमिति–भविष्यत् काल में दुःख देने वाले इन्द्रिय जन्य सुख का सेवन मन्दबुद्धि मनुष्य ही करते हैं बुद्धिमान् नहीं क्योंकि जिसका अग्रभाग मधु से लिप्त है ऐसी तलवार की धार को कौन बुद्धिमान् चाटना चाहता है ? अर्थात् कोई नहीं। अब प्रश्न होता है कि यदि इन्द्रिय जन्य सुख, सुख नहीं है तो फिर क्या करना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर गाथा के उत्तरार्ध में दिया गया है कि सम्यग्ज्ञानी जीव, विषयजन्य सुख को विनाशीक तथा निःसार जानकर अविनाशी एवं सारपूर्ण स्वात्मोत्थ सुख में प्रीति करें ॥५७॥

---

१. चन्द्रप्रभकाव्ये वीरनन्दिना

ननु मनोनृपप्रेरितायामवश्यायामिन्द्रियसेनायां प्रसरंत्यां क्षपकेण किं कर्तव्यमित्यावेदयति–

इंदियसेणा पसरइ मणणरवइपेरिया ण संदेहो।
तम्हा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं ॥५८॥

इंदियसेणा इन्द्रियाणि हृषीकाणि तान्येव सेना चमू इन्द्रियसेना **मण-णरवइपेरिया** मनोनरपतिप्रेरिता मनश्चित्तं तदेव नरपतिः राजा तेन प्रेरिता आदिष्टा सती **पसरइ** प्रसरं करोति ण **संदेहो** संदेहः संशयो न, यस्मादित्यध्याहारः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इत्यभिधानात् **तम्हा** तस्मात् कारणात् **मण-संजमणं** मनः संयमनं मनश्चित्तं तस्य संकोचनं स्पर्शादिविषयेभ्यो व्यावृत्य सहजशुद्धचिदानंदैक-स्वभावसकलविकल्प-विकलात्मपरमात्मतत्त्वैकाग्रचिन्तायां स्थापनमित्यर्थः। **खवयेण** क्षपकेन कर्मक्षपणशीलेन पुरुषेण **कायव्वं** कर्तव्यं करणीयं च भवति। तथाहि। यथा सैन्यस्य राजा नायको भवति तथा इन्द्रियाणां मनो नायकः नायकेनैवादिष्टं सैन्यं प्रसरति न हि नायकमन्तरेण क्वचित्कथंचित्तत्सामर्थ्यं विजृंभते। अत्र तत्त्व-विचारचतुरचेतसां चेतोनिकेतने कथं नाम संशयबिलेशयो विलसति न क्वापि। अतः इन्द्रियाणि निगृहीतुमना मनसि प्रथमं मनःसंयमनं तनोतु इति तात्पर्यार्थः ॥५८॥

इस प्रकार इन्द्रिय जयाधिकार पूर्ण हुआ। आगे शिष्य पूछता है कि मन रूपी राजा से प्रेरित अस्वाधीन इन्द्रिय रूपी सेना के फैलने पर क्षपक को क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

इंदियसेणा इति–गाथार्थ–(जम्हा) क्योंकि **(मणणरवइपेरिया)** मनरूपी राजा के द्वारा प्रेरित **(इंदियसेणा)** इन्द्रियरूपी सेना **(पसरइ)** फैल रही है **(ण संदेहो)** इसमें संदेह नहीं है **(तम्हा)** इसलिए **(खवएणय)** क्षपक को **(मणसंजमणं)** मन का नियन्त्रण **(कायव्वं)** करने योग्य **(हवदि)** है ॥५८॥

टीका–गाथा में 'जम्हा–यस्मात्' शब्द का अध्याहार ऊपर से किया गया है क्योंकि यत् और तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध रहता है ऐसा कहा गया है। जिस प्रकार राजा सेना का नायक है उसी प्रकार मन इन्द्रियों का नायक है। जिस प्रकार नायक की आज्ञानुसार सेना चलती है नायक की आज्ञा के बिना सेना कहीं भी नहीं चलती उसी प्रकार मन की आज्ञानुसार इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। मन की आज्ञा के बिना इस विषय को लेकर तत्त्व का विचार करने में चतुर चित्त वाले पुरुषों के चित्त रूपी घर में, किसी भी प्रकार का संशयरूपी सर्प अपनी चेष्टा नहीं करता है। इन्द्रियों की किसी भी विषय में प्रवृत्ति नहीं होती इसलिए मन को राजा की और इन्द्रियों को सेना की उपमा दी गई है। क्षपक, यदि इन्द्रिय रूपी सेना के प्रसार को रोकना चाहता है तो उसे मन रूपी राजा पर नियन्त्रण लगाना चाहिए अर्थात् स्पर्शादि विषयों से हटा कर मन को सहज शुद्ध, चिदानन्दैक स्वभाव एवं समस्त विकल्प जाल से रहित स्वकीय आत्मारूपी परमात्म तत्त्व के एकाग्रचिन्तन में लगाना चाहिए। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रियों का निग्रह करना चाहता है, वह पहले मन का निग्रह करे ॥५८॥

इन्द्रियाणि मनःप्रेरितानि प्रसरन्तीति व्याख्यायेदानीं मनोनरेंद्रस्य सामर्थ्यं यथा तथा दर्शयति–

मणणरवइ सुहुभुंजइ अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं।
णिमिसेणेक्केण जयं तस्सत्थि ण पडिभडो कोइ ॥५९॥

मणणरवइ मनोनरपतिः मनो मानसं तदेव नरपतिः राजा कर्ता **अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं** अमरासुरखगनरेन्द्रसंयुक्तं अमराः कल्पवासिनः असुरा दैत्याः खगा विद्याधरा नरेन्द्राश्चक्रवर्त्यादयः। अत्र सर्वत्र द्वंद्वसमासः अमरासुरखगनरेन्द्रैः संयुक्तं **जयं** जगत् त्रैलोक्यं **णिमिसेणेकेण** निमिषेनैकेन **सुहुभुंजइ** संभुक्ते एकक्षणमात्रेण स्वभोगयोग्यं करोतीत्यर्थः। **तस्स** तस्य मनसः **कोइ** कोपि तेषाममरासुरनरेन्द्राणां मध्ये एकतमोपि **पडिभडो** प्रतिभटः प्रतिमल्लो न विद्यते इत्यर्थः। तथा चोक्तं **ज्ञानार्णवे शुभचन्द्राचार्यैः**–

दिक्चक्रं दैत्यधिष्ण्यां त्रिदशपतिपुराण्यंबुवाहांतरालं
द्वीपांभोधिप्रकांडं खचरनरसुराहींद्रवासं समग्रम्।
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणार्धे-
नाश्रांतं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिंत्यप्रभावः॥

इति बुद्ध्वा शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनो भावनाबलेन मनोराजबलमबलीकृत्य निजात्मनि-स्थापनीय-मित्युपदेशार्थं गाथा गता ॥५९॥

आगे इन्द्रियाँ मन से प्रेरित होकर चलती हैं ऐसा व्याख्यान कर मन रूपी राजा की सामर्थ्य दिखाते हैं–

मणणरवइ इति–गाथार्थ–(मणणरवइ) मनरूपी राजा **(अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं)** देव, दैत्य, विद्याधर और राजा आदि से सहित **(जयं)** जगत् को **(णिमिसेणेक्केण)** एक निमेषमात्र में **(सुहुभुंजइ)** अपने भोग के योग्य कर लेता है। **(तस्य)** उस मन का **(पडिभडो)** प्रतिमल्ल **(कोइण अत्थि)** कोई भी नहीं है ॥५९॥

टीका–मनरूपी राजा कल्पवासी देव, भवनत्रिकदेव, विद्याधर और चक्रवर्ती आदि से सहित जगत को एक क्षणमात्र में अपने भोग के योग्य बना लेता है। इन अमर–असुर–खग और चक्रवर्ती आदि के बीच कोई भी ऐसा नहीं है जो मन का समसर कर सके। जैसा कि ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने कहा है–

दिक्चक्रमिति–प्राणियों के लिए जिसका प्रभाव बड़ी कठिनाई से चिंतन करने के योग्य है, ऐसा यह मन रूपी दैत्य बिना किसी थकावट के चपलता के कारण आधे क्षण में ही दिग्वलय, दैत्यों का भवन, इन्द्र का नगर, मेघों का मध्य, द्वीप और समुद्र, विद्याधर, मनुष्य, देव और नागेन्द्रों के निवास, अधिक क्या वातवलय से वेष्टित इस त्रिलोकरूपी घोंसले में घूमता रहता है।

ऐसा जानकर शुद्ध बुद्ध–सर्वज्ञ वीतराग रूप एक स्वभाव से युक्त परमात्मा की भावना के

इदानीं मनोनरपतेर्मरणे सम्भूते उत्तरोत्तरमिन्द्रियादीनां मरणमपि जायते ततो मोक्षसुखं यतो जायते तस्मान्मनसो मारणाय प्रयोजयति यथा तथा दर्शयति–

मणणरवइणो मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइं।
ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेसकम्माइं ॥६०॥
तेसिं मरणे मुक्खो मुक्खे पावेइ सासयं सुक्खं।
इंदियविसयविमुक्कं तम्हा मणमारणं कुणइ ॥६१॥ जुअलं॥

मणणरवइणो मरणे मनोनरपतेर्मरणे मनसो विकल्पाभावे सति ''संकल्पविकल्पस्वरूपं हि मन इति निर्वचनात्'' **मरंति सेणाइ इंदियमयाइं** इन्द्रियमयानि सैन्यानि म्रियन्ते स्वकीयस्वकीय–विषयेषु तानीन्द्रियाणि न प्रवर्तत इत्यर्थः। स्वस्वामिप्रयोगाभावात् तदभावे हि तस्यैवाभावात् ताणं **मरणेण पुणो** तेषामिन्द्रियाणां मरणेन निजविषयप्रवृत्तिराहित्येन पुनः पुनरपि **णिस्सेसकम्माइं** निःशेषकर्माणि सकलकर्माणि ज्ञानावरणादीनि **मरंति** म्रियन्ते क्षयं यान्ति तदवस्थायां बन्धाभावात्। बन्धाभावे हि नवतरकर्मणामास्रवाभावात्

बल से मन रूपी राजा के बल को निर्बल बना कर अपनी आत्मा में स्थापित करना चाहिए ऐसा उपदेश देने के लिए गाथा व्यतीत हुई ॥५९॥

अब मन रूपी राजा का मरण होने पर आगे–आगे इन्द्रियादिक का मरण भी हो जाता है और इन्द्रियादिक के मरण से मोक्ष सुख उत्पन्न होता है। इसलिए आचार्य मन को मारने के लिए प्रेरित करते हैं–

मणणरवइणो इति–गाथार्थ–(मणणरवइणो) मनरूपी राजा का **(मरणे)** मरण होने पर **(इंदियमयाइ)** इन्द्रियरूप **(सेणाइं)** सेनाएं **(मरंति)** मर जाती हैं **(ताणं)** उनके **(मरणेण)** मरण से, **(पुणो)** तत्पश्चात् **(णिस्सेसकम्माइ)** समस्त कर्म **(मरंति)** मर जाते हैं–नष्ट हो जाते हैं **(तेसिं)** उन कर्मों का **(मरणे)** मरण होने पर **(मुक्खो)** मोक्ष होता है और **(मुक्खे)** मोक्ष में **(इंदियविसयविमुक्कं)** इन्द्रियों के विषयों से रहित **(सासयं)** शाश्वत–नित्य **(सुक्खं)** सुख **(पावेइ)** प्राप्त होता है **(तम्हा)** इसलिए **(मणमारणं)** मन का मारण **(कुणइ)** करो ॥६०–६१॥

टीका–मन के विकल्पों का अभाव होना मन का मरण कहलाता है क्योंकि ''संकल्प विकल्प स्वरूप ही मन है'' ऐसा कहा गया है। अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त न होना इन्द्रियों का मरण है क्योंकि स्वामी की प्रेरणा का अभाव होने पर इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति का अभाव होना ही चाहिए। जो जिसका होता है, उसके अभाव में उसी का अभाव होता है। क्षय हो जाना कर्मों का मरण कहलाता है क्योंकि क्षय हो जाने पर बन्ध रुक जाता है और बन्ध के रुक जाने पर पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है। आस्रव का अभाव होने पर योगों का अभाव हो जाता है और योगों का अभाव होने पर योगों के अवयवों की अपनी प्रवृत्ति मिट जाती है। मन, वचन, काय योगों के

पुरातनकर्मनिर्जीर्यमाणत्वात्। आस्रवाभावो हि योगाभावात् योगाभावस्तु तदवयवस्वप्रवृत्तिनिषेधात्। तदवयवाश्च मनोवाक्कायलक्षणाः ''कायवाङ्मनःकर्मयोगः'' इति लक्षणाभिधानत्वात्। ततो योगांगत्वात् मनसो विकल्पाभावपूर्वत्वे सतीन्द्रियाणां काययोगमयानां प्रवृत्तिनिषेधे सति संवरनिर्जरासद्भावात् सर्वाणि कर्माणि क्षयं यान्ति इति सिद्धं। **तेसिं मरणे मुक्खो** तेषां कर्मणां मरणे विनाशे सति मोक्षः अनन्तज्ञानादिगुण-व्यक्तिनिष्ठानां सिद्धपरमेष्ठिनामाधारः। ''बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'' इत्यभि-हितत्वात्। मोक्षे किमस्तीत्याह? **मुक्खे** मोक्षे सर्वकर्मक्षयलक्षणे **सासयं** शाश्वतमविनश्वरं **इंदियविसय-विमुक्कं** इन्द्रियविषयविमुक्तं इन्द्रियाणां हृषीकाणां विषया गोचरास्तैर्विमुक्तं रहितं **सुक्खं** सौख्यं निराकुलता-लक्षणं **पावेइ** प्राप्नोति लभते यत एवं **तम्हा** तस्मात्। एवं ज्ञात्वा भो भव्याः **मणमारणं कुणह** मनोमारणं कुरुतः। मनोमारणमिति कोर्थः? विषयेषु गच्छतो मनसो निवारणं कुरुत कुरुध्वमित्यर्थः ॥६०-६१॥

ये तु पुरुषा मनसो निवारणं न कुर्वन्ति ते कथंभूता भवन्तीत्याह–

[१]मणकरहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं ण हु बद्धो।
ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइं भुंजंता ॥६२॥

अवयव कहलाते हैं क्योंकि ''काय, वचन और मन की क्रिया योग है'' ऐसा योग का लक्षण कहा गया है। इस प्रकार योग का अंग अवयव होने से जब मन के विकल्पों का अभाव होता है तब काम योग रूप इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निषेध हो जाता है, उनकी प्रवृत्ति का निषेध होने पर संवर और निर्जरा होने लगती है और उनके होने पर समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। समस्त कर्मों का मरण–क्षय होने पर मोक्ष होता है। मोक्ष–अनन्त ज्ञानादि गुणों की प्रकटता से युक्त सिद्ध परमेष्ठियों का आधार है। 'बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का बिल्कुल क्षय हो जाना मोक्ष है' ऐसा मोक्ष का लक्षण कहा गया है। इस प्रकार गाथागत शब्दों की व्याख्या करने के बाद गाथा का पूर्ण अर्थ लिखते हैं–

मनरूपी राजा का मरण होने पर इन्द्रियरूपी सेनाएँ मर जाती है–मन के विकल्प समाप्त होने पर इन्द्रियों की अपने–अपने विषयों में प्रवृत्ति रुक जाती है, इन्द्रियों का मरण होने पर समस्त कर्म मर जाते हैं–नवीन कर्मों के आस्रव का अभाव और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है। कर्मों का मरण होने पर इन्द्रिय विषयों से रहित स्थायी सुख की प्राप्ति होती है इसलिए मन का मरण करो और विषयों में जाते हुए मन को रोको ॥६०-६१॥

आगे जो पुरुष मन का निवारण नहीं करते हैं वे कैसे होते है? यह कहते हैं–

मणकरहो–गाथार्थ–(हु) निश्चय से **(जेहिं)** जिन पुरुषों के द्वारा **(धावंतो)** दौड़ता हुआ **(मणकरहो)** मनरूपी ऊंट **(णाणवरत्ताइ)** ज्ञानरूपी ऊँचा रस्सी के द्वारा **(ण बद्धो)** नहीं बांधा गया है **(ते पुरिसा)** वे पुरुष **(संसारे)** संसार में **(दुहाइं)** दुःख को **(भुंजंता)** भोगते हुए **(हिंडंति)** परिभ्रमण करते हैं ॥६२॥

---
१. मणकलहो

मणकरहो मनःकरभः मन एव करभ उष्ट्रः पाठान्तरेण कलभः करिशावको वा धावंतो धावन् प्रसरन् सन् जेहिं यैः पुरुषैः **णाणवरत्ताइ** ज्ञानवरत्रया बोधरज्जुरूपया **ण बद्धो** न बद्धः न संकोचितः **ते पुरिसा** ते पुरुषाः **संसारे** संसारे आजवंजवे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणे **दुहाइं** दुःखानि व्याकुलत्वोत्पादक-लक्षणानि **भुंजंता** भुजन्तः भुञ्जानाः अनुभवंतः **हिंडंति** हिंडन्ते परिभ्रमन्ति खलु निश्चयेन। तथाहि–यथा कश्चन करभरक्षायां नियुक्तो गजरक्षणे वा पुरुषः करभं गजं वा राजमन्त्रिपुरोहितादीनां नन्दनवनं प्रति विध्वंसनाय धावन्तं वरत्रांकुशादिना कृत्वा यदि न निवारयति स तदा नंदनवनविध्वंसनापराधं विलोक्य लोकाचार- विचारचतुरचातुरीचमत्कारनीति-शास्त्रानुसारविलोकितन्यायमार्गेण नरपतिना निगृह्यमाणः कारागाराद्यनेक-विधदुःखान्यानुभवति स्वाधिकारक्रियाकूटकारित्वात्। यः कश्चन स्वाधिकारक्रियाकूटं कुरुते स एवंविधो न संदेहः तथेदं विषयेषु प्रवर्तमानं मनो नियंत्रणीयमिति। उक्तं च–

अनेकांतात्मार्थप्रसवफलभारातिविनिते
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्॥

टीका—गाथा में मन को करभ-ऊँट की उपमा दी है। कहीं कलभ पाठ है उस पक्ष में कलभ हाथी के बच्चे की उपमा समझनी चाहिए। ज्ञान को वरत्ता-चमड़े से बनी हुई मजबूत रस्सी की उपमा दी गई है। संसार का अर्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परावर्तनों का समूह है। दुःख आकुलता को कहते हैं। जिस प्रकार ऊँट अथवा हाथी की रक्षा में नियुक्त पुरुष, राजा, मंत्री,या पुरोहित आदि के क्रीड़ावन को नष्ट करने के लिए दौड़ते हुए ऊँट अथवा हाथी को मजबूत रस्सी अथवा अंकुश आदि के द्वारा यदि नहीं रोकता है तो वह क्रीड़ावन के विनाशरूप अपराध को देख कर लोकाचार में चतुर चतुराई के चमत्कार से युक्त नीति शास्त्र के अनुसार न्यायमार्ग का अवलोकन करने वाले राजा के द्वारा पकड़ा जाकर कारागार में बद्ध होना आदि अनेक प्रकार के दुःख भोगता है क्योंकि उसने अपने अधिकार का कार्य करने में कपट किया है। जो भी मनुष्य अपने अधिकार का कार्य करने में कपट करते हैं वह इस प्रकार के दुःख को प्राप्त करते है इसमें सन्देह नहीं है। इसलिए जिस तरह ऊँट अथवा हाथी नियन्त्रण के योग्य है उसी प्रकार विषयों में प्रवृत्त होने वाला मन भी नियन्त्रण के योग्य है-रोकने के योग्य है। जैसा कि कहा गया है-

अनेकान्तात्मार्थेति—जो अनेकान्तात्मक-अनेक धर्मात्मक पदार्थ रूपी फूल और फलों के भार से अत्यन्त नम्रीभूत हो रहा है, जो वचनरूपी पत्तों से व्याप्त है, जो अत्यधिक नयरूपी सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, अत्यन्त ऊँचा है तथा अच्छी तरह विस्मृत मति-मतिज्ञान अथवा बुद्धि जिसकी जड़ है ऐसे श्रुतस्कन्ध-शास्त्र रूपी वृक्ष के तने पर बुद्धिमान मनुष्य प्रतिदिन इस मन रूपी वानर को क्रीड़ा करावे।

वीतरागसर्वज्ञवचनेनियुक्तो जनो यस्तु मनःकरभकं ज्ञानभावनया न निवारयति स वराकश्चतुरशीति-शतसहस्रपरिमाणेषु योनिषु संसारदुःखानि सहते न सन्देहः। एवं ज्ञात्वा स्वसंवेदनज्ञानाभ्यासबलेन मनःप्रसरं निरुध्य शुद्धपरमात्मनि स्थापनीयमिति भावार्थः ॥६२॥

मनसो निरोधफलं व्याख्याय इदानीममुमेवार्थं बहुशास्त्रप्रसिद्धदृष्टान्तेन दृढीकृत्य-पश्चादवश्यं मुनिना मनोनिरोधो विधातव्य इत्युपदिशति-

पिच्छह णरयं पत्तो मणकयदोसेहिं सालिसित्थक्खो।
इय जाणिऊण मुणिणा मणरोहो हवइ कायव्वो ॥६३॥

भो भव्यजनाः **पिच्छह** प्रेक्षध्वं पश्यत विलोकयत बहुशास्त्रेषु प्रसिद्ध-वाक्यं समाकर्णयत इत्यर्थः। किं तत्। **मणकयदोसेहिं** मनःकृतदोषैः चित्तविरचितापराधैः **सालिसित्थक्खो** शालिसिक्थाख्यः मत्स्यविशेषः **णरयं** नरकं श्वभ्रं **पत्तो** प्राप्तो गतः इति। **इय जाणिऊण** इति एवं ज्ञात्वा विज्ञाय मुनिना संयमिना **मणरोहो** मनोरोधः चित्तसंकोचः **कायव्वो** कर्तव्यः करणीयः **हवइ** भवति युज्यते इति तात्पर्यम्। तथाहि। शालिसिक्थ-नाममत्स्यविशेषः महामत्स्यकच्छाकुले जलराशौ महामत्स्यकर्णे स्थितः। तस्य महानिद्रानुभवतो व्यावृते मुखे अनेकमत्स्यादीनां [1]जलचराणां समूहाः प्रविशन्ति निःसरन्ति क्रीडन्ति स्वेच्छया तिष्ठन्ति चेति पश्यन्

वीतराग सर्वज्ञदेव के वचनों में नियुक्त-जिनवाणी के अभ्यास में लगा हुआ जो पुरुष मनरूपी ऊँट अथवा हाथी को ज्ञान की भावना से नहीं रोकता है, वह बेचारा चौरासी लाख योनियों में संसार के दुःख सहन करता है। इसमें संदेह नहीं है। ऐसा जानकर स्वसंवेदन ज्ञान के अभ्यास के बल से मन के प्रसार को रोक कर शुद्ध परमात्मा में लगाना चाहिए ॥६२॥

इस प्रकार मन के निरोध का फल बता कर अब इसी अर्थ को अनेक शास्त्रों में प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा दृढ़ करते हुए आचार्य, मुनि को मन का निरोध अवश्य करना चाहिए ऐसा उपदेश देते हैं

पिच्छह-गाथार्थ-(पिच्छह) देखो **(मणकयदोसेहिं)** मन से किए हुए दोषों के कारण **(सालिसित्थक्खो)** शालिसिक्थ नाम का मत्स्य **(णरयं पत्तो)** नरक को प्राप्त हुआ था। **(इयजाणिऊण)** ऐसा जान कर **(मुणिणा)** मुनि के द्वारा **(मण रोही)** मन का निरोध **(कायव्वो)** करने योग्य **(हवइ)** है ॥६३॥

टीका-मन के अपराध से शालिसिक्थ नाम का मत्स्य नरक को प्राप्त हुआ है। ऐसा जानकर मुनि को मन का निरोध अवश्य करना चाहिए। अनेक शास्त्रों में यह कथा प्रसिद्ध है कि बड़ी-बड़ी अवगाहना के मत्स्यों से युक्त स्वयंभूरमण समुद्र में एक हजार योजन की अवगाहना वाला राघव मच्छ था। उसके कान में शालिसिक्थ नाम का एक मच्छ रहता था। जब राघवमच्छ सोता था तब उसके खुले हुए मुख में मच्छ आदि अनेक जलचर जीवों के समूह प्रवेश करते, निकलते, क्रीड़ा करते और

१. जन्तुचराणां म० (?)

व्याकुलत्वेन चिन्तापरायणो जातः किमयं मूढात्मा मुखं न संवृणोति येन **सर्वाणीमान्यस्योदरे** तिष्ठन्ति, यद्यहमेवंभूतोऽभविष्यंतदा सकलानीमान्यकवलयिष्यामिति रौद्रध्यानपराधीनस्तेषामलाभेपि मनोरचित-दुश्चरित्रेणैव तथाविधं पापं समुपार्ज्य नरकं गत इति श्रुतिः। एवं ज्ञात्वा मुनिसमूहेन मनोरचितदोषासमर्थः अनावरणत्वादिति सन्देहं निर्मूल्य मनसो ज्ञानबलेन निरोध एव करणीय इति तात्पर्यार्थः ॥६३॥

एवं चित्तानिरोधकस्य नरकगतिरेव फलं सदृष्टान्तं प्रदर्श्य तन्निरोधं कुरुध्वमित्युपदिश्य वाधुना मनोवशीकरणमुपदिश्य तत्फलं च निदर्शयति–

सिक्खह मणवसियरणं सवसीहूएण जेण मणुआणं।
णासंति रायदोसे तेसिं णासे समो परमो ॥६४॥
उवसमवंतो जीवो मणस्स सक्केइ णिग्गहं काउं।
णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥६५॥ जुअलं॥

मणवसियरणं मनोवशीकरणं मनो अवशं वशं करणं मनसश्चित्तस्य वशीकरणं आत्मायत्तीकरणं

अपनी इच्छानुसार वहाँ ठहरते थे। यह सब देखता हुआ शालिसिक्थ मच्छ व्याकुल भाव से विचार करता कि यह मूर्ख अपना मुख बंद क्यों नहीं कर लेता जिससे कि ये सब इसके पेट में रह जावें। यदि मैं ऐसा होता तो मैं इन सब को निगल जाता। इस प्रकार के रौद्रध्यान से परवश हुआ शालिसिक्थ मच्छ उन सब जीवों की प्राप्ति न होने पर भी मनकृत दुश्चरित्र से ही महामच्छ के समान पाप का उपार्जन कर सातवें नरक गया।

ऐसा जानकर मुनि समूह को यह संदेह दूर कर देना चाहिए कि आवरण से रहित होने के कारण मन से किए हुए दोष असमर्थ रहते हैं। उक्त संदेह को दूर कर ज्ञान के बल से मन का निरोध अवश्य ही करना चाहिए ॥६३॥

इस प्रकार मन का निरोध न करने वाले पुरुष को नरक गति रूप फल की प्राप्ति होती है। यह दृष्टान्त सहित दिखा कर अब आचार्य मन के वश करने का उपदेश देकर उसका फल दिखाते हैं–

सिक्खह–गाथार्थ–अहो मुनिजन हो! **(मणवसियरणं सिक्खह)** मन को वश करना सीखो **(जेणसवसीहूएण)** उसके वशीभूत होने पर **(मणुआणं)** मनुष्यों के **(रायदोसे)** रागद्वेष **(ण संति)** नष्ट हो जाते हैं **(तेसिंणासे)** उन रागद्वेषों का नाश होने पर **(परमोसमो)** परम उपशमभाव प्राप्त होता है **(उपसमवंतो जीवो)** उपशम भाव से युक्त जीव **(मणस्स)** मन का **(णिग्गहं काउं)** निग्रह करने के लिए **(सक्केइ)** समर्थ होता है और **(मण पसरे णिग्गहिए)** मन का प्रसार रुक जाने पर **(अप्पा)** आत्मा **(परमप्पओ)** परमात्मा **(हवइ)** हो जाता है ॥६४-६५॥

टीका–चार घातिया कर्मों के क्षय से प्रकट होने वाले केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों से

मनोवशीकरणं भो जनाः **सिक्खह** शिक्षध्वं अभ्यस्यतः **जेण** येन मनसा **सवसीहूएण** स्ववशीभूतेन स्वाधीनतां गतेन **मणुआणं** मनुजानां मनुष्याणां **रागदोसे** रागद्वेषौ इष्टानिष्टयोः प्रीत्यप्रीतिरूपौ **णासंति** नश्यतः दूरीभवतः **तेसिं** तयो रागद्वेषयोः **णासे** नाशे विनाशे **परमो** परम उत्कृष्टः **समः** उपशमः वीतरागत्वाधारः भवतीति क्रियाध्याहारः **उवसमवंतो** उपशमवान् रागद्वेषोपशमलक्षणवान् **जीवो** जीवः आत्मा **मणस्स** मनसश्चित्तस्य **णिग्गहं** निग्रहं विनाशं **काउं** कर्तुं **सक्केइ** शक्नोति समर्थो भवति मनःप्रसरे चित्तविस्तारे णिग्गहिए निग्रहीते संकोचिते साकांक्षचित्ते क्षयावस्थां नीते सति **अप्पा** आत्मा जीवः घातिकर्मचतुष्टयसद्भावात् **परमप्पउ** परमात्मा घातिकर्मचतुष्टयाभावप्रादुर्भावकेवलज्ञानाद्यनंत-गुणव्यक्तिविराजमानो **हवइ** भवतीति गाथार्थः ॥६४-६५॥

ननु केन प्रकारेणास्य मनःप्रसरस्य निवारणं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह–

जहं जहं विसएसु रई पसमइ पुरिसस्स णाणमासिज्ज।
तहं तहं मणस्स पसरो मज्जइ आलंबणारहिओ ॥६६॥

जह जह यथा यथा **विसएसु** विषयेषु इन्द्रियार्थेषु **पुरिसस्स** पुरुषस्य जीवस्य **रई** रतिःरागः **पसमइ** प्रशमति उपशमति उपशमतां गच्छति। किंकृत्वा? **णाणमासिज्ज** ज्ञानमाश्रित्य पूर्वं तावदस्य जीवस्य

शोभायमान आत्मा परमात्मा कहलाता है। यह परमात्मा अवस्था किस प्रकार प्राप्त हो सकती है। इसके कारण कलाप पर आचार्य ने दो गाथाओं में विचार किया है। उन्होंने सब से पहले मन को वश करने की बात कही है क्योंकि मन के वशीभूत हो जाने पर मनुष्यों के रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं, रागद्वेष के नष्ट होने पर उत्कृष्ट समभाव–माध्यस्थ्य भाव प्राप्त होता है, माध्यस्थ्यभाव से सहित जीव मन का निग्रह होने पर उसकी जो विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती थी वह अपने आप रुक जाती है और उसके रुकने पर आत्मा परमात्मा बन जाता है। इस प्रकार परमात्मा बनने का मूल कारण मन का वशीकरण है ॥६४–६५॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि मन के प्रसार का निरोध किस प्रकार होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

जहं जहं–गाथार्थ–(णाणमासिज्ज) ज्ञान को प्राप्त कर **(पुरिसस्स)** पुरुष की **(रई)** रति **(जहं जहं)** जिस जिस प्रकार **(विसएसु)** विषयों में **(पसमइ)** शान्त हो जाती है **(तहं तहं)** उसी उसी प्रकार **(आलंबणा रहिओ)** आलंबन रहित **(मणस्स पसरो)** मन का प्रसार **(मज्जइ)** भग्न होता जाता है ॥६६॥

टीका–इस पुरुष की प्रीति अनादिकाल से परपदार्थ रूप विषयों का आधार पाकर प्रवृत्त हो रही है परन्तु अब कालादि लब्धियों को पाकर स्वसंवेदन ज्ञान से आकृष्ट हुई एक ज्ञान का ही

रतिरनादिकालसम्बन्धवशात् परविषयाधारा इदानीं तु कालादिलब्धिं समवाप्य। स्वसंवेदन-ज्ञानेनाकृष्टा सती ज्ञानमाश्रयतीति तात्पर्येण पूर्वार्धगाथार्थः। **तह तह** तथा तथा **मणस्स** मनसः चित्तस्य **पसरो** प्रसरो विस्तारः **आलंबना-रहिओ** आलंबनारहितः सन् रत्याश्रयमुक्तः सन् **भज्जइ** भज्यते विनश्यति अस्य मनःप्रसरस्य रतिरेवाश्रयः रतिस्तु विषयाश्रयं परित्यज्य ज्ञानाश्रयणी जाता "**यत्रैव** रतिस्तत्रैव मनःप्रसर" इति श्रुतिः। अतः मनःप्रसरोपि ज्ञानाश्रयी भवतीत्यायातं मनोप्यात्मानं ज्ञानलीनं करोतीति तात्पर्यार्थः ॥६६॥

अमुमेवार्थं पुनरपि दृढीकरोति–

विसयालंबणरहिओ णाणसहावेण भाविओ संतो।
कीलइ अप्पसहावे तक्काले मोक्खसुक्खे सो ॥६७॥

अत्र प्राकृतलक्षणे पुन्नपुंसकलिंगयोः कुत्रचिद्रूपभेदो नास्ति तथा च द्विवचनबहुवचनभेदो नास्तीत्यादि सर्वत्र यथासंभवं विचारणीयं। **विसयालंबणरहिओ** विषयालम्बनरहितं अनादिकाल-संसेव्यमान-विषयाधारवर्जितं तत् मनः **णाणसहावेण** ज्ञानस्वभावेन ज्ञानवासनया **भाविओ संतो** भावितं वासितं सत्

आश्रय लेती है। जैसे जैसे वह ज्ञान का आश्रय लेती है वैसे वैसे ही विषयों से उसकी प्रवृत्ति हटती है, जैसे जैसे विषयों में प्रवृत्ति हटती जाती है वैसे वैसे मन के बाह्य आलम्बन टूटते जाते हैं और जब मन के बाह्य आलम्बन टूट जाते हैं तब उसका प्रसार स्वयं रुक जाता है। इस तरह सिद्ध हुआ कि मन का प्रसार रोकने के लिए उसके बाह्य आलम्बन छोड़ना चाहिए, बाह्य आलम्बन छोड़ने के लिए विषयों की प्रीति छोड़ना चाहिए और विषयों की प्रीति छोड़ने के लिए आत्मा के ज्ञान स्वभाव का आश्रय लेना चाहिए। क्षपक को विचार करना चाहिए कि मैं तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा हूँ, विषयों का उपभोग करना मेरा स्वभाव नहीं है अनादिकाल से मैं विषयरूप पर पदार्थों का भोक्ता बनकर व्याकुल हो रहा हूँ, इनसे निवृत्ति ही श्रेयस्कर है इस प्रकार का विचार करने से विषयों की प्रीति दूर हो जावेगी और विषयों की प्रीति दूर होने से मन स्थिर हो जावेगा ॥६६॥

आगे इसी अर्थ को फिर भी दृढ़ करते हैं–

विसयालंबण इति–गाथार्थ–जब वह मन **(विषयालंबणरहिओ)** विषयों के आलम्बन से रहित होता हुआ **(णाणसहावेण)** ज्ञानस्वभाव से **(भाविओ संतो)** भावित होता है–ज्ञान स्वभाव में लीन होता है **(तक्काले)** तब **(अप्पसहावे)** आत्मा के स्वभावभूत **(मोक्खसुक्खे)** मोक्ष के सुख में **(कीलइ)** क्रीड़ा करता है ॥६७॥

टीका–प्राकृत व्याकरण में पुल्लिंग और नपुंसकलिंग में कहीं रूप भेद होता है और कहीं नहीं होता। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन का भी भेद नहीं रहता। यही कारण है कि गाथा में नपुंसक लिंग मनस् शब्द का '**विषयालंबणरहिओ मणि संतो**' इस प्रकार पुल्लिंग रूप में प्रयोग हुआ है। जब मन ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेता है अर्थात् ऐसा विचार करता है कि आत्मा का स्वभाव मात्र

तक्काले तत्काले तदानीं **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे शुद्धपरमात्मस्वरूपे **मोक्ख सुक्खे** मोक्षसुखे भावमोक्षलक्षणसमुद्भूतसुखे **कीलइ** क्रीडति क्रीडमानस्तिष्ठतीति गाथार्थः ॥६७॥

मनःप्रसरणनिवारणफलं दर्शयित्वा संप्रति तद्रूपवृक्षखण्डनाय शिष्योपदेशं ददति–

णिल्लूरह मणवच्छो खण्डह साहाउ रायदोसा जे।
अहलो करेह पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण ॥६८॥

मणवच्छो मनोवृक्षं मनोरूपतरुं निर्लूयत छिन्नविस्तारं **कुरुत** रागद्वेषद्वितया शाखे शाखाशब्दे द्विवचनं **खण्डह** खण्डयत् **अहलं** अफलं **करेह** कुरुध्वं। यथा स मनोवृक्षो न फलति। पुनरपि रागद्वेषवशात् संकल्पविकल्पेषु न प्रवर्तते तथा कुरुत। **पच्छा** पश्चात् पुनः मोहसलिलेन ममेदमस्याहमिति विभ्रमो मोहः मोहरूपजलेन **मा सिंचह** मा सिञ्चतु मनोवृक्षमूले मा मोहरूपं जलं ददत इत्यर्थः ॥६८॥

जानना देखना है, विषयों को ग्रहण करना नहीं, तब वह विषयों के आलम्बन से रहित हो जाता है और जब विषयों के आलम्बन से रहित हो जाता है तब आत्मस्वभावरूप मोक्ष सुख में क्रीड़ा करने लगता है ॥६७॥

मन का प्रसार कैसे रोका जाता है तथा उसका क्या फल है यह दिखाकर अब आचार्य शिष्य को मनरूप वृक्ष के खण्डित करने का उपदेश देते हैं–

णिल्लूरह–गाथार्थ–(मणवच्छो) मनरूपी वृक्ष को **(णिल्लूरह)** छेद डालो **(जे रायदोसा साहाउ खंडह)** उसकी जो राग–द्वेषरूपी दो शाखाएँ हैं उन्हें खण्डित कर दो, **(अहलो करेह)** फल रहित कर दो और **(मोहसलिलेण)** मोहरूपी जल से उसे **(पच्छा)** फिर **(मा सिंचह)** मत सींचो ॥६८॥

टीका–यहाँ मन को वृक्ष की उपमा दी है, जिस प्रकार वृक्ष में दो बड़ी शाखाएँ होती हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाएँ हैं, जिस प्रकार वृक्ष की बड़ी शाखाओं से उपशाखाएँ निकल कर वृक्ष को विस्तृत करती हैं उसी प्रकार रागद्वेषरूपी बड़ी शाखाओं से विषयेच्छारूप अनेक उपशाखाएँ निकल कर मनरूपी वृक्ष को विस्तृत करती हैं, जिस प्रकार वृक्ष में फल लगते हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में भी संकल्प–विकल्परूप अनेक फल लगते हैं और जिस प्रकार वृक्ष को जल से सींचकर हरा भरा रखा जाता है उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष को भी मोहरूपी जल से सींचकर हरा भरा रखा जाता है। आचार्य क्षपक को उपदेश देते हैं अहो क्षपक! तू इस मनरूपी वृक्ष को निर्मूल कर दे। इसकी उपशाखाएँ काटकर इसे विस्तार से रहित कर दे, यही नहीं इसकी रागद्वेष रूपी शाखाओं को काट डाल, ऐसा प्रयत्न कर कि जिससे अब इसमें संकल्प–विकल्प रूप फल न लगे तथा इसे अब मोहरूपी जल से सींचना बन्द कर दे, ऐसा करने से यह मनरूपी वृक्ष स्वयं उखड़ जावेगा। यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ। ऐसा भ्रम मोह कहलाता है, आचार्य ने इस मोह को जल की उपमा दी है जिस प्रकार जल वृक्ष को हरा भरा रखता है उसी प्रकार मोह भी मनरूपी वृक्ष को हराभरा रखता है ॥६८॥

एवं मनोवृक्षमुत्पाटनाय शिष्यमुपदेश्याधुना मनोव्यापारे विनष्टे इन्द्रियाणि विषयेषु न यान्तीति दर्शयन्नाह–

णट्ठे मणवावारे विसएसु ण जंति इंदिया सव्वे।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥६९॥

मणवावारे मनोव्यापारे चित्तस्य संकल्पविकल्पस्वरूपे व्यापारे **नष्टे** विनष्टे सति **सव्वे** सर्वाणि समस्तानि **इंदिया** इन्द्रियाणि हृषीकानि **विसएसु** विषयेषु गोचरेषु ण **जंति** न यान्ति न गच्छन्ति। अत्रैवार्थे अर्थान्तरन्यासमाह। **तरुस्स मूले** तरोर्मूले वृक्षस्य जटाकंदादिविशेषे **छिण्णे** छिन्ने निःसंतानीकृते **कत्तो पुणु** कुतः पुनः **पल्लवा हुंति** पल्लवा भवन्ति कुतः पुनरपि पल्लवाः प्ररोहन्ति। यथा मूलाभावे अंकुर-पल्लवादीनामभावः तथा मनोव्यापाराभावे इन्द्रियाणां विषयगमनाभाव इत्यर्थः ॥६९॥

मनोव्यापारविनाशफलमुपदर्श्य तन्मात्रव्यापारे विनष्टे उत्पन्ने च विशेषमुपदर्शयन्नाह–

मणमित्ते वावारे णट्ठुप्पण्णे य बे गुणा हुंति।
णट्ठे आसवरोहो उप्पण्णे कम्मबन्धो य ॥७०॥

इस प्रकार मनरूपी वृक्ष को उखाड़ने के लिए शिष्य को उपदेश देकर अब मन का व्यापार नष्ट होने पर इन्द्रियाँ विषयों में नहीं जाती यह दिखाते हुए कहते हैं–

णट्ठे इति–गाथार्थ–(मणवावारे) मन का व्यापार **(णट्ठे)** नष्ट हो जाने पर **(सव्वेइंदिया)** समस्त इन्द्रियाँ **(विसएसु)** विषयों में **(ण जंति)** नहीं जाती हैं क्योंकि **(तरुस्स)** वृक्ष की **(मूले)** जड़ **(छिण्णे)** कट जाने पर **(पुण)** फिर **(पल्लवा)** पत्ते **(कत्तो)** कहाँ से **(हुँति)** हो सकते हैं ? ॥६९॥

टीका–पर पदार्थों में अहं बुद्धि होना–मैं परपदार्थ रूप हूँ इस प्रकार के भाव को संकल्प कहते हैं तथा पर पदार्थों में ममताभाव होना–मैं इनका स्वामी हूँ अथवा उनमें इष्ट अनिष्ट की कल्पना होना विकल्प कहलाता है। ये संकल्प और विकल्प मन के व्यापार हैं। जब मन का यह व्यापार नष्ट हो जाता है तब स्पर्शनादि समस्त इन्द्रियाँ अपने स्पर्शादि विषयों से विरक्त हो जाती हैं। इसी बात को अर्थान्तर न्यास–अलंकार से स्पष्ट करते हैं। वृक्ष की जड़ कट जाने पर फिर पत्ते कहाँ से हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। जिस प्रकार जड़ के अभाव में, वृक्ष के अंकुर तथा पल्लव आदि का अभाव हो जाता है। उसी प्रकार मनोव्यापार का अभाव होने पर, विषयों में इन्द्रियों के गमन का अभाव हो जाता है ॥६९॥

इस तरह मनोव्यापार के विनाश का फल दिखला कर अब मनोमात्र व्यापार के नष्ट होने पर क्या विशेषता होती है। यह दिखाते हैं–

मणमित्ते–गाथार्थ–(मणमित्ते) मनोमात्र **(वावारे)** व्यापार के **(णट्ठुप्पण्णे य)** नष्ट तथा उत्पन्न होने पर **(बे गुणा हुंति)** दो गुण–दो कार्य होते हैं। **(णट्ठे)** नष्ट होने पर **(आसवरोहो)** आस्रव का निरोध–संवर **(य)** और **(उप्पण्णे)** उत्पन्न होने पर **(कम्मबंधो)** कर्म बन्ध होता है ॥७०॥

मणमित्ते मनोमात्रे चित्तमात्रे संकल्पविकल्पलक्षणमात्रे **वावारे** व्यापारे **णट्ठे** नष्टे विनष्टे **उप्पण्णे य** उत्पन्ने च जातमात्रे च **बे गुणा** द्वौ गुणौ संवरकर्मबन्धलक्षणौ **हुंति** भवतः। कस्मिन् सति को गुणो भवतीत्याह। **णट्ठे** नष्टे सति **आसवरोहो** आस्रवनिरोधः कर्मास्रवरोधो भवति **उप्पण्णे** उत्पन्ने सति उत्पन्नमात्रस्य संकल्पस्यानिषेधे सति **कम्मबन्धो** य कर्मबन्धश्च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणात्मको भवति ॥७०॥

यावत्कालं विषयव्यापारपरिणतमंतःकरणं तावत्कालं कर्माणि हंतु न शक्तोस्तीत्यावेदयति–

परिहरिय रायदोसे सुण्णं काऊण णियमणं सहसा।
अत्थइ [1]जाव ण कालं ताव ण णिहणेइ कम्माइ ॥७१॥

टीका—ऊपर की गाथा में संकल्प-विकल्परूप जो मन का व्यापार बतलाया है, उसके नष्ट होने तथा उत्पन्न होने का फल इस गाथा में कहा है। मन का व्यापार यदि नष्ट हो जाता है–मन यदि बाह्य पदार्थों में संकल्प-विकल्प की परिणति से मुक्त हो जाता है तो नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाता है। इसके विपरीत यदि मन का व्यापार उत्पन्न होता है तो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध के भेद से चार प्रकार का कर्मबन्ध होता है। आगम में कर्मबन्ध का प्रमुख कारण मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले विकारी भाव को बतलाया है। मोहनीयकर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इस प्रकार दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय के उदय से इस जीव के शरीरादि पर पदार्थों में अहं बुद्धि होती है अर्थात् यह शरीरादिरूप अपने आप को मानता है। इस अहं बुद्धि को आगम की भाषा में मिथ्यादर्शन और अध्यात्म की भाषा में संकल्प कहते हैं। चारित्रमोह के उदय से यह जीव पर पदार्थों का स्वामी बनता है, उनमें ममत्त्व बुद्धि करता है तथा उनकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में रागद्वेष करता है। इन रागद्वेष को आगम की भाषा में अविरति, प्रमाद और कषाय कहते हैं तथा अध्यात्म की भाषा में विकल्प कहते हैं। संकल्प और विकल्प इन दोनों परिणतियों का विकास मन के माध्यम से होता है, इसीलिए ये मन का व्यापार कहलाती हैं। जब मन का यह व्यापार नष्ट हो जाता है तो कर्मों का आस्रव रुक कर संवर हो जाता है और जब उत्पन्न होता है तब कर्मों का बन्ध होता है, इसलिए ये मन का व्यापार कहलाती है ॥७०॥

आगे कहते हैं कि मन जब तक विषयरूप व्यापार में संलग्न रहता है, तब तक यह जीव कर्मों को नष्ट करने के लिए समर्थ नहीं रहता है–

परिहरिय इति—गाथार्थ—(जाव कालं) जब तक यह जीव **(रायदोसे)** राग-द्वेष को **(परिहरिय)** छोड़कर **(सहसा)** शीघ्र ही **(णियमणं)** अपने मन को **(सुण्णं)** शून्य **(काऊण)** करके **(ण अत्थइ)** स्थित नहीं होता **(ताव)** तब तक **(कम्माइं)** कर्मों को **(ण णिहणेइ)** नष्ट नहीं करता ॥७१॥

---

१. जाम ग०

अत्थइ जाव ण कालं यावत्कालं न तिष्ठति यावन्तं कालं स्वात्माभिमुखपरिणामत्वेन न वर्तते। कोसौ? क्षपकः। किंकृत्वा न तिष्ठति? **परिहरिय रायदोसे** परिहृत्य रागद्वेषौ इष्टेषु स्रक्चन्दनवनितादिषु प्रीतिः रागः अनिष्टेषु अप्रीतिर्द्वेषः रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ परितः सर्वप्रकारेण त्यक्त्वा। न केवलं रागद्वैषौ परिहृत्य। **सुण्णं काऊण णियमणं सहसा** शीघ्रं निजमनः शून्यं च कृत्वा। अत्र मनसः शून्यत्वमेतत् यत् निःशेषविषयविमुखत्वं यच्च चिच्चमत्कारमात्रनिजशुद्धात्मपरिणतत्वं रागद्वेषौ परिहृत्य शून्यं च मनः कृत्वा यावत् क्षपको न तिष्ठति। तावत् किं न स्यादित्याह। **ताव ण णिहणेइ कम्माइ** तावन्न निहन्ति कर्माणि तावन्तं कालं कर्माणि ज्ञानावरणादीनि न निहन्यात्। इति ज्ञात्वा शुद्धात्मस्वरूपं जिज्ञासुना अलोलं मनः कार्यम्। यदुक्तम्–

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं सतत्त्वं नेतरो जनः॥
[१]**अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रांतिरात्मनः।**
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥

ततश्च चेतनाचेतनेषु परद्रव्येषु रागद्वेषौ हित्वा शुभाशुभमनोवचन-कायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहार-परिणताभेदरत्नत्रयलक्षणज्ञानबलेन शून्यं विषयविमुखं च मनः कृत्वा यो वीतरागचारित्राविनाभूतशुद्धात्माभि-मुखपरिणामस्तिष्ठति स सकलकर्माणि जयतीति भावार्थः ॥७१॥

टीका–माला, चन्दन तथा स्त्री आदिक इष्ट पदार्थों में प्रीति होना राग कहलाता है और सर्प, पंक तथा शत्रु आदि अनिष्ट पदार्थों में अप्रीति होना द्वेष कहा जाता है। मन का समस्त विषयों से विमुख होना अथवा चैतन्य चमत्कार मात्र निज शुद्ध आत्मा में परिणत होना मन को शून्य करना कहलाता है। जब तक यह क्षपक, राग, द्वेष को सब प्रकार से छोड़ कर अपने मन को शून्य नहीं कर लेता तब तक वह ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता। यह जानकर शुद्धात्म स्वरूप के जिज्ञासु पुरुष को अपना मन स्थिर करना चाहिए। जैसा कि कहा है–

रागद्वेषादीति–जिस पुरुष का मनरूपी जल, रागद्वेषादि रूप तरंगों के द्वारा चञ्चल नहीं होता है, वही आत्मा के तत्त्व को देख सकता है, अन्य पुरुष उसे नहीं देख सकता।

अविक्षिप्तं–मन का अविक्षिप्त रहना आत्मा का तत्त्व है और विक्षिप्त होना आत्मा की भ्रान्ति है इसलिए मन को अविक्षिप्त रखना चाहिए, विक्षिप्त मन का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

भावार्थ यह है कि जो पुरुष चेतनाचेतनात्मक पर द्रव्यों में रागद्वेष को छोड़कर तथा शुभ अशुभ मन वचन काय के व्यापार रूप तीनों योगों के त्याग रूप अभेद रत्नत्रय ही जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञान के बल से, मन को शून्य तथा विषयों से विमुख करके वीतरागचारित्र से अविनाभूत शुद्धात्मा के सन्मुख परिणामों को करता हुआ स्थित होता है, वही समस्त कर्मों को जीतता है ॥७१॥

१. समाधिशतके पूज्यपादस्य।

यावच्चिदानंदात्मकपरमब्रह्मोपासनवासनाबलेन मनो निश्चलं न विधीयते तावत् कर्मास्रवा वारयितुं न शक्यन्ते इत्याह–

तणुवयणरोहणेहिं रुज्झंति ण आसवा सकम्माणं।
जाव ण णिप्फंदकओ समणो मुणिणा सणाणेण ॥७२॥

रुज्झंति ण न निरुध्यं न निवार्यन्ते ते **आसवा** आस्रवा **सकम्माणं** स्वकर्मणां स्वेन आत्मीयेन

भावार्थ–जब तक रागद्वेष की एक कणिका भी विद्यमान रहती है तब तक इस जीव के उस पर्याय में कर्मों का सर्वथा क्षय होगा यह नियम पूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु जब रागद्वेष का सर्वथा क्षय हो जाता है तब यह नियम पूर्वक कहा जा सकता है इस जीव के इसी पर्याय में समस्त कर्मों का क्षय होगा। भले ही वह क्षय अंतर्मुहूर्त में हो जावे अथवा देशोन कोटि वर्ष पूर्व के बाद हो, परन्तु होगा अवश्य। रागद्वेष का सर्वथा अभाव हो जाने पर त्रेशठ कर्म प्रकृतियों का क्षय तो अंतर्मुहूर्त के भीतर हो जाता है, परन्तु योगत्रय का सद्भाव, अभी पचासी प्रकृतियों की सत्ता को सुरक्षित रखता है। उन्हें नष्ट करने के लिए योगत्रय को भी नष्ट करना आवश्यक होता है। तीन योगों में सबसे पहले मनोयोग नष्ट होता है। उसके नष्ट करने के लिए मन के संकल्पविकल्प दूर करना होते हैं। यहाँ उन्हीं संकल्पविकल्पों को दूर करने के लिए मन को शून्य करने की बात कही गई है। मनोयोग के नष्ट होने के बाद वचनयोग नष्ट होता है और उसके बाद काय योग नष्ट होता है। इन्हीं दोनों योगों को नष्ट करने के लिए स्थित होने की बात लिखी है अर्थात् योगनिरोध कर एक स्थान में स्थित होने की बात कही गई है। योगनिरोध होने पर दिव्यध्वनि का कारण स्थूल वचनयोग तथा विहार का कारण स्थूल काय योग नष्ट हो जाता है। अन्त में सूक्ष्मदशा को प्राप्त होकर दोनों योग नष्ट हो जाते हैं और योगों के नष्ट होते ही चौदहवें गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के प्रभाव से समस्त कर्मों का सदा के लिए क्षय हो जाता है। इसलिए जो पुरुष समस्त कर्मों का क्षय करना चाहता है वह रागद्वेष का सर्वथा क्षयकर योगत्रय का भी निरोध करे ॥७१॥

अब आगे चिदानन्दात्मक परम ब्रह्म की उपासना सम्बन्धी वासना के बल से मन को निश्चल नहीं किया जाता तब तक कर्मों के आस्रव नहीं रोके जा सकते, यह कहते हैं–

तणु वयणेति–गाथार्थ–(जाव) जब तक **(समणो)** अपना मन **(मुणिणा)** मुनि के द्वारा **(सणाणेण)** स्वसंवेदन ज्ञान से **(ण णिप्फदं कओ)** निश्चल नहीं कर लिया जाता **(ताव)** तब तक **(तणुवयण रोहणेहिं)** काय और वचन योग के रोकने मात्र से **(सकम्माणं)** आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त हुए ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अथवा अपने अपने निमित्त से बंधने वाले कर्मों के **(आसवा)** आस्रव **(ण रुज्झंति)** नहीं रुकते हैं ॥७२॥

टीका–''दुव्वयणे बहुवयणे'' इस नियम से प्राकृत द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का

जीवेन सहैकीभावं गतानां ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्मणां। काभ्यां न निवार्यंते? **तणुवयणुरोहणेहिं** तनुवचनरोधनाभ्यां तनु:काय: वचनं वच: तयोर्निरोधने ताभ्यां तनुवचनरोधनाभ्यां 'दुब्वयणे बहुवयणमिति' प्राकृते। अथवा स्वकर्मणामित्यस्य पदस्यायमर्थ:। कायेनोपार्जितानि कर्माणि स्वकर्माणि कायकर्माणि वचनेनोपार्जितानि कर्माणि स्वकर्माणि वचनकर्माणि उच्यन्ते। मनोनिरोधेन विना कायनिरोधेन कायकृतानां कर्मणामास्त्रवा न निषिध्यन्ते, वचननिरोधेन वचनकृतानामपि **कर्मणामास्त्रवा** न निषिध्यन्ते किंतु सर्व-कर्मणामास्त्रवा एकेनैव मनोनिरोधेन निषिध्यन्ते तस्मादाह **जाव ण णिप्फंदकओ** यावन्न निष्पंदीकृतं निश्चलीकृतं। किं तत्? **समणो** स्वमन: स्वचित्तं द्रव्यभावरूपं। केन? **मुणिणा** मुनिना महात्मना क्षपकेन। केन निश्चलीकृतं? **सणाणेण** स्वज्ञानेन स्वसंवेदनज्ञानगुणेन ततो निर्मलचैतन्यस्वभावस्वात्माभि-मुखपरिणाममाहात्म्येन दुर्जयमनोजयं कृत्वा कर्मास्त्रवा निवारयितव्या इति हेतोर्मनोजय एव श्रेयान् ॥७२॥

प्रयोग होता है इसलिए '**तणुवयणरोहणेहिं**' यहाँ पर द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग जानना चाहिए, जीव के साथ एकीभाव-एकक्षेत्रावगाहित्व को प्राप्त हुए ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म स्वकर्म कहलाते हैं। अथवा स्वकर्म शब्द का एक अर्थ यह भी है कि काययोग के द्वारा उपार्जित कर्म काययोग के स्वकर्म हैं और वचनयोग के द्वारा उपार्जित कर्म वचनयोग के स्वकर्म हैं, कितने ही लोग बुद्धि पूर्वक काययोग और वचनयोग का निरोध कर मुनि बन जाते हैं पर मनोयोग का निरोध नहीं करते, ऐसे लोगों को सावधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि मुनि जब तक स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा अपने मन को निश्चल नहीं कर लेता तब तक उसके मात्र काय और वचनयोग के निरोध से आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त हुए ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अथवा काययोग तथा वचनयोग की प्रधानता से बंधने वाले कर्मों के आस्त्रव नहीं रुकते हैं। इन सबके आस्त्रव रोकने के लिए मन का निश्चल होना सर्व प्रथम आवश्यक है। मन को निश्चल बनाने का कारण स्वज्ञान-स्वसंवेदन ज्ञान है। यहाँ स्वसंवेदन ज्ञान से, तात्पर्य ज्ञान की उस अवस्था से है, जब उसका ज्ञेय मात्र स्वआत्मा रह जाता है। रागद्वेष की प्रबलता से ही जीव का ज्ञानोपयोग स्व-स्वकीय शुद्धात्म तत्त्व को छोड़कर अन्य ज्ञेयों में विचरता है उन्हें अपना विषय बनाता है। जब रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं तब ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् वह स्व को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं उलझता। जब ज्ञान का ज्ञेयान्तर में संचार रुक जाता है, तब मन की निष्पन्दता-निश्चलता स्वयं हो जाती है और मन की निश्चलता होने पर कर्मों के आस्त्रव स्वयमेव रुक जाते हैं। मन की पूर्ण निश्चलता दशवें गुणस्थान के बाद होती है अत: वहाँ मात्र योग के निमित्त से आने वाली सातावेदनीय का ही आस्त्रव रह जाता है शेष समस्त कर्म प्रकृति का आस्त्रव नहीं रहता और चौदहवें गुणस्थान में वचन योग तथा काययोग भी नष्ट हो जाते हैं इसलिए वहाँ किसी भी कर्म प्रकृति का आस्त्रव नहीं रहता, पूर्ण संवर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि निर्मूल चैतन्य स्वभाव स्वात्मा के सन्मुख परिणाम की महिमा से दुर्जन मन को जीत कर कर्मों के आस्त्रव रोकना चाहिए। इस हेतु से मन को जीतना ही श्रेष्ठ है ॥७२॥

मनःप्रसरे निवारिते सति यत्फलं भवति तदावेदयति–

खीणे मणसंचारे तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे।
गलइ पुराणं कम्मं केवलणाणं पयासेइ ॥७३॥

गलइ गलति विलीयते क्षयं याति। किं तत्? **कम्मं** कर्म। कीदृशं? **पुराणं** पुरातनं अनेक-भवांतरोपार्जितं। न केवलमनेकभेदभिन्नं कर्म विगलति किन्तु **केवलणाणं पयासेइ** केवलज्ञानं केवलं च तत् ज्ञानं च केवलज्ञानं प्रकाशयति आविर्भवति प्रकटीभवति। कस्मिन् सति? **खीणे मण-संचारे** प्रक्षीणे मनःसञ्चारे सञ्चरणं संचारः मनसः सञ्चारो मनःसञ्चारस्तस्मिन् मनःसंचारे क्षयं विनाशं गते सति। न केवलं मनःसंचारे क्षीणे सति। **तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे** तथा तेनैव प्रकारेण आस्रवे कर्मास्रवे त्रुटिते सति विलयं गते सति। कीदृशे आस्रवे? द्विविकल्पे **द्वौ** विकल्पौ भेदौ यस्य स द्विविकल्पः तस्मिन् द्विविकल्पे शुभाशुभे द्रव्यभावरूपे वा। मनःप्रसरे क्षीणे सति कर्मास्रवे च निवर्तिते सति भवभवार्जितं कर्म विगलति केवलज्ञानं चाविर्भवतीति समुच्चयार्थः। तथाहि–यो ध्याता अनन्तज्ञानादिचतुष्टय–लक्षण–कार्य-समयसारस्योत्पादकेन विशुद्धतरसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारेणान्तः करणमंतं नयति स कर्मास्रवशत्रून् हत्वा केवलज्ञानविभूतिभाग्भवति निःसंशयमिति ॥७३॥

आगे मन का प्रसार रुक जाने पर जो फल होता है उसको दिखाते हैं–

खीणे इति–गाथार्थ–(मणसंचारे) मन का संचार **(खीणे)** क्षीण होने **(तह)** तथा **(दुवियप्पे)** शुभ अशुभ अथवा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का **(आसवे)** आस्रव **(तुट्टे)** टूट जाने पर **(पुराणं कम्मं)** पूर्व बद्ध कर्म **(गलइ)** नष्ट हो जाता है और **(केवलणाणं)** केवलज्ञान **(पयासेइ)** प्रकट हो जाता है ॥७३॥

टीका–मन का प्रसार क्षीण होने तथा शुभ–अशुभ और द्रव्य–भाव के भेद से दो प्रकार का आस्रव रुक जाने पर, भव भव में संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों में मन का जाना, मन का संचार या मन का प्रसार कहलाता है। इस मनःसंचार या मनःप्रसार का कारण ऊपर की गाथाओं में रागद्वेष को बताया है। जब रागद्वेष क्षीण हो जाते हैं तो मन का संचार क्षीण हो जाता है और जब मन का संचार क्षीण हो जाता है तब दोनों प्रकार का आस्रव रुक जाता है ऐसी स्थिति बारहवें गुणस्थान में आती है। वहाँ ज्ञानावरणदि शेष घातिया कर्मों और नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय हो जाता है और उसके होते ही लोकावभासी केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इस तरह केवलज्ञान के प्रकट होने में मनःसंचार का रुकना कारण पड़ता है इसलिए क्षपक को मनःसंचार को रोकने की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो ध्याता अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप कार्य समयसार का उत्पादक अत्यन्त विशुद्ध समाधि परिणामस्वरूप परिणत कारण समयसार के द्वारा अन्तःकरण अर्थात् मन का अन्त करता है, वह कर्मास्रवरूप शत्रुओं को विनष्ट कर निःसन्देह रूप से केवलज्ञानरूप विभूति को प्राप्त होता है ॥७३॥

यदि कर्मक्षयस्तवाभिप्रेतस्तदा मनः शून्यं विधेहीति शिक्षां प्रयच्छन्नाह–

जइ इच्छहि कम्मखयं सुण्णं धारेहि णियमणो[1] झत्ति।
सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पयासेइ ॥७४॥

भो क्षपक! **जइ इच्छहि** यदि चेत् इच्छसि वांछसि अभिलषसि। किं तत्? **कम्मक्खयं** कर्मणां द्रव्यभावरूपाणां क्षयो विनाशः कर्मक्षयस्तं कर्मक्षयं तदा **सुण्णं धारेहि** शून्यं लाभपूजाभोग–कांक्षाविरहितं धारय। किं तत्। **णियमणो** निजमनः संकल्पविकल्परूपं स्वकीयचित्तं। कथं? **झत्ति** झटिति त्वरितं। ततश्च **सुण्णीकयम्मि चित्ते** शून्यीकृते विषयविमुखीकृते चित्ते मनसि। किं स्यादित्याह। **अप्पा पयासेहि** आत्मा प्रकाशयति जलधरपटलविघटनाद्रविरिव प्रकटीभवति। कथं? **णूणं** नूनं निश्चितं। तथाहि–अयमात्मा सकलविमलकेवलज्ञानमयमूर्तिः रागद्वेषादिदोषोज्झिते मनसि सर्वभावविलये वावभासते। यदुक्तम्–

सर्वभावविलये विभाति यत्सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः।
चित्स्वरूपमभितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुतं महः॥

आगे यदि कर्मों का क्षय तुझे इष्ट है तो मन को शून्य कर ऐसी शिक्षा देते हैं–

जइ इच्छहि–गाथार्थ–हे क्षपक! **(जइ)** यदि तू **(कम्मखयं)** कर्मों का क्षय **(इच्छहि)** चाहता है तो **(णियमणो)** अपने मन को **(झत्ति)** शीघ्र ही **(सुण्णं)** शून्य **(धारेहि)** धारण कर **(चित्ते सुण्णीकयम्मि)** मन के शून्य कर लेने पर **(णूणं)** निश्चित ही **(अप्पा)** आत्मा **(पयासेइ)** प्रकट हो जाता है ॥७४॥

टीका–द्रव्य–भाव रूप कर्मों का विनाश करना कर्म क्षय है। मन को लाभ, पूजा तथा भोगों की अभिलाषा से रहित करना अथवा विषयों से विमुख करना मन का शून्य करना है। आचार्य क्षपक को संबोधते हुए कहते हैं कि यदि तू कर्मों का क्षय करना चाहता है तो शीघ्र ही अपने आप को शून्य बना अर्थात् उसे विषयाभिलाषा से विमुख कर। मन के शून्य कर लेने पर निश्चित ही आत्मा प्रकट हो जाता है अनुभव में आने लगता है। जिस प्रकार मेघ पटल के विघटित होने पर सूर्य प्रकट हो जाता है उसी प्रकार मन के संकल्प विकल्प विघटित होने पर आत्मा प्रकट हो जाता है। यह आत्मा समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करने वाले निर्मल केवलज्ञान से तन्मय है तथा मन के रागद्वेषादि दोषों से रहित होने पर अथवा समस्त विकारी भावों का विलय होने पर प्रकट होता है। जैसा कि कहा है–

सर्वभावेति–जो समीचीन समाधि से परिपूर्ण आत्मा वाले पुरुष के समस्त विकारी भावों का विलय होने पर प्रकट होता है, चैतन्य स्वरूप है, सब ओर से पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है, सुख का धाम है तथा अद्भुत है–आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है उस आत्म तेज को नमस्कार करो ॥७४॥

---

१. णियमणं ग०।

यदि चित्तमुद्वासयसि तदा स्वात्मानं पश्यसीत्यावेदयति–

उव्वासहि[1] णियचित्तं वसहि[2] सहावे सुणिम्मले गंतुं।
जइ तो पिच्छसि अप्पा सण्णाणो केवलो सुद्धो ॥७५॥

भो क्षपक! **उव्वासहि णियचित्तं** यदि निजचित्तं स्वकीयान्तरङ्गं उद्वासयसि पञ्चेन्द्रियविषयेषु विमुखतां नयसि उद्वसति कश्चित्तमुद्वसं अन्यः प्रयुंक्ते 'धातोश्च हेताविनीति' इन्नंतो वस् धातुरिहावगंतव्यः। तथा भो क्षपक सद्भावे शोभने भावे विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमये परमात्मनि **वसहि**वससि स्थितिं करोषि यदि। किंविशिष्टे सद्भावे। **सुणिम्मले** सुनिर्मले शुद्धनिश्चयनयापेक्षया रागद्वेषमोहः मदादिदोषोज्झिते। किं कर्तुं सद्भावे वसति। गंतुं तमेव परमात्मानं सम्यक् परिछेत्तुं। सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था इति। यद्येवं करोषि **तो पिच्छसि-अप्पा** तदा आत्मानं चिदात्मकं स्वस्वरूपं पश्यसि अवलोकयसि स्वसंवेदनेन स्वात्मानं संवेदयसीत्यर्थः। कथंभूतमात्मानं? **सण्णाणो** सज्ज्ञानं सत् शोभमानं संशयविमोहविभ्रमवर्जितं ज्ञानं यस्य स तं सज्ज्ञानं। पुनः किं विशिष्टमात्मानं? **केवलो** केवलमसहायं। पुनः कीदृशं। **सुद्धो** शुद्धं सर्वोपाधिरहितं।

आगे यदि तू चित्त को विषयों से विमुख करता हैं तो स्वकीय आत्मा को देख सकता है यह कहते हैं–

उव्वासहि–गाथार्थ–हे क्षपक! **(जइ)** यदि तू **(णिय चित्तं)** अपने मन को **(उव्वासहि)** विषयों से विमुखता को प्राप्त कराता है और **(गंतुं)** परमात्मा को जानने के लिए **(सुणिम्मले)** अत्यन्त निर्मल **(सहावे)** समीचीन भाव से युक्त परमात्मा में **(वसहि)** निवास करता है **(तो)** तो **(सण्णाणो)** सम्यग्ज्ञान से तन्मय **(केवलो)** पर पदार्थों से असंपृक्त तथा **(सुद्धो)** समस्त उपाधियों से रहित **(अप्पा)** आत्मा को **(पिच्छसि)** देख सकता है–स्वसंवेदन ज्ञान से उसका अनुभव कर सकता है ॥७५॥

टीका–उव्वासहि–उद्वासयति यह इन्नन्त (णिजन्त) प्रयोग है कोई उद्वास करता है तथा अन्य उसे प्रेरणा करता है। इस अर्थ में **'घातोश्च हेताविनि'** इन सूत्र से 'इन' प्रत्यय हुआ है। इस तरह यहाँ 'इनि' प्रत्ययान्त 'वस' धातु जानना चाहिए। उदास का अर्थ पंचेन्द्रियों के विषयों से विमुखता प्राप्त कराना है। क्षपक को संबोधते हुये आचार्य कहते हैं–हे क्षपक! यदि तू अपने चित्त को पञ्चेन्द्रियों के विषयों से विमुख करता है तथा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा रागद्वेष मोह मद आदि दोषों से रहित एवं विशुद्धज्ञान दर्शनोपयोग से तन्मय परमात्मा में, उसी परमात्मा का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त करने के लिए निवास करता है तो तू सम्यग्ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान से युक्त, केवल असहाय परपदार्थ के संपर्क से शून्य तथा शुद्ध–सब प्रकार की उपाधि से रहित स्वकीय

---

१. उव्वासह ग०, २. वसह ग०।

यदिचेत् निजचित्तमुद्वासयसि सद्भावे च वससि तदा स्वात्मानं पश्यसीति समुच्चयार्थः। तथाहि भो क्षपक! यदि त्वं संसारशरीरभोगादिषु पराङ्मुखत्वं गतोसि तर्हि परमब्रह्मोपासनवासनानिष्ठो भव। यदुक्तम्–

यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः।
यदि युवतिकरंके निर्ममत्वं प्रपन्नो
झगिति तनु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम्॥

क्षपकस्य परमात्मसद्भावशून्यत्वे दूषणमाह–

तणुमणवयणे सुण्णो ण य सुण्णो अप्पसुद्धसब्भावे।
ससहावे जो सुण्णो हवइ यसो गयणकुसुमणिहो ॥७६॥

क्षपको ध्याता **सुण्णो** शून्यो भवतु। कस्मिन् शून्यो भवतु? **तणुमणवयणे** तनुः शरीरं मनश्चित्तं वचनं प्रतीतं तनुश्च मनश्च वचनं च तनुमनोवचनं तस्मिन् तनुमनोवचने। इदं शरीरादिकं मदीयमिति न परिछिनत्ति। अथवा तनुक्रिया शुभरूपा देवार्चनादिका अशुभरूपा प्राणिहननादिका, मनःक्रिया शुभरूपा देवगुरुगुणस्मरणादिका अशुभरूपा वधबन्धन-चिन्तनादिकाः, वचनक्रियाः शुभरूपा देवगुरुस्तुत्यादिकाः

आत्मा का अवलोकन कर सकता है। तात्पर्य यह है कि क्षपक! यदि तू संसार शरीर और भोगादिक में पराङ्‌मुखता को प्राप्त हुआ है तो परम ब्रह्म की उपासना सम्बन्धी वासना में स्थित हो।

जैसा कि कहा है–

यदीति–यदि विषय रूपी पिशाची तेरे शरीर रूपी घर से निकल गई है, यदि तेरी मोहरूपी निद्रा का आधिक्य शीघ्र ही नष्ट हो गया है, और यदि युवतियों के शरीर में तू निर्ममता को प्राप्त हुआ है तो शीघ्र ही ब्रह्मवीथी–शुद्धात्म स्वरूप में विहार कर ॥७५॥

आगे क्षपक यदि परमात्म स्वभाव में शून्य रहता है तो उसमें दूषण है यह कहते हैं–

तणुमणवयणे इति–गाथार्थ–क्षपक **(तणुमणवयणे)** शरीर, मन और वचन के विषय में तो **(सुण्णो)** शून्य होता है परन्तु **(अप्पसुद्धसब्भावे)** आत्मा के शुद्ध अस्तित्व में **(ण य सुण्णो)** शून्य नहीं होता। **(जो)** जो **(ससहावे)** स्वकीय आत्मा के सद्भाव में **(सुण्णो)** शून्य **(हवइ)** होता है **(सो य)** वह **(गयण कुसुमविहो)** आकाश के फूल के समान **(हवइ)** होता है ॥७६॥

टीका–क्षपक अर्थात् ध्यान करने वाला पुरुष शरीर, मन और वचन के विषय में शून्य रहता है अर्थात् ये शरीरादिक मेरे हैं ऐसा विचार नहीं रखता। अथवा शरीर, मन और वचन इन तीनों की क्रियाएँ शुभ–अशुभ के भेद से दो प्रकार की है। देवपूजा आदिक शरीर की शुभ क्रिया है और प्राणिघात आदिक अशुभ क्रिया है। देव तथा गुरु के गुणों का स्मरण आदि करना मन की शुभ क्रिया है तथा वध बन्धन आदि का विचार करना मन की अशुभ क्रिया है। देव गुरु की स्तुति आदि करना वचन की शुभ

अशुभरूपा मिथ्याभाषणादिका इत्येतासु शून्यः। यदुक्तम्–

आस्तां बहिरुपधि च यस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम्।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किंचित्॥
कर्मणो यथास्वरूपं न तथा तत्कर्म कल्पनाजालम्।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति॥

तथा **ण य सुण्णो अप्पसुद्धसब्भावे** न च शून्य आत्मशुद्धसद्भावे आत्मनश्चिदात्मकस्य शुद्धो रागादिमलरहितः सद्भावोस्तिस्वभावः तस्मिन् आत्मशुद्धसद्भावे न च शून्यो ध्याता। नित्यानंदैकस्वभावं परमात्मतत्त्वं तत्र ननु जाग्रदवस्थः इत्यर्थः। यदुक्तम्–

अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमभ्रमोपेतः ।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः॥

स्वसद्भावे यः शून्यः स कीदृश इत्याह। **ससहावे जो सुण्णो** स्वसद्भावे टंकोत्कीर्ण–परमानंदैकस्वभावे यो ध्याता शून्यऽविकल्पः स **गयणकुसुमणिहो** गगनकुसुमनिभो भवति च, गगनस्य आकाशस्य कुसुमं

क्रिया है और मिथ्या भाषण आदि करना वचन की अशुभ क्रिया है। क्षपक इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में शून्य रहता है। जैसा कि कहा है–

आस्तामिति—बाह्य परिग्रह का समूह तो दूर शरीर, वचन और विकल्प जाल रूप मन भी कर्म कृत होने के कारण मुझ से भिन्न हैं। मैं तो सर्वथा शुद्ध हूँ कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा कैसे हो सकता है?

कर्मणो इति—कर्म का जैसा स्वरूप है वैसा उनका कार्य नहीं है वह तो मात्र कल्पना जाल है। जो मोक्षाभिलाषी जीव उन कर्म तथा कर्म कार्यों में आत्मबुद्धि से रहित होता है वही सुखी रहता है।

क्षपक जिस प्रकार शरीर, मन और वचन के विषय में शून्य रहता है उस प्रकार चित्स्वरूप आत्मा की शुद्ध परिणति के सद्भाव में शून्य नहीं होता। उसके विषय में तो निश्चय से सदा जागरूक रहता है। जैसा कि कहा है–

अस्पष्ट—जो पुरुष विभ्रम से रहित होता हुआ अस्पृष्ट–परपदार्थों के स्पर्श से रहित, अबद्धकर्म, नो कर्म के बन्ध से रहित, अनन्य अपने गुण पर्यायों से अभिन्न, अयुत अन्य पदार्थों की संगति से रहित तथा अविशेष–सामान्य रूप नरनारकादि के विकल्प से रहित आत्मा को देखता है वह पुरुष निश्चय से शुद्धनय में स्थित है।

जो मनुष्य टंकोत्कीर्ण परमानन्दैक स्वभाव आत्मा के विषय में शून्य है अर्थात् उसकी श्रद्धा से रहित है वह आकाश के पुष्प के समान मिथ्यारूप है। इसलिए अत्यधिक चिदानन्द से उत्पन्न अनुपम

गगनकुसुमं तन्निभः गगन–कुसुमनिभः आकाशकुसुमतुल्यः स मिथ्यारूपो भवतीत्यर्थः। ततोऽमन्दचिदानन्दोत्थ-निरुपमसुखामृतरसं पिपासुना विशुद्धे स्वात्मनि सावधानीभूय स्थातव्यं इति मनःसंयमनम् ॥७६॥

शून्यध्यानप्रविष्टः क्षपकः कीदृगवस्थो भवतीत्याह–

सुण्णज्झाणपइट्ठो जोई ससहावसुक्खसंपण्णो।
परमाणंदे थक्को भरियावत्थो फुडं हवइ ॥७७॥

जोई योगी क्षपको भृतावस्थो भवति। कीदृशो योगी। **सुण्णज्झाणपइट्ठो** शून्यध्यानप्रविष्टः शून्यं च ध्यानं च **शून्यध्यानं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं** तत्र प्रविष्टः स्थितः शून्यध्यानप्रविष्टः निर्विकल्प-समाध्याविष्टः। यत्र च–

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठी कथाकौतुकं,
शीर्यंते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेपि च।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मनः स्वात्मन
श्चिंतायामपि यातुमिच्छति मनो दोषैः समं पञ्चताम्॥

तच्छून्यध्यानमिह गृह्यते। पुनः कीदृशो योगी? **ससहावसुक्खसंपण्णो** स्वसद्भावसौख्यसम्पन्नः स्वस्य परमात्मनो यः सद्भावोऽनंतज्ञानपरमानन्दादिलक्षणः स्वसद्भावस्तदुत्थं यत्सौख्यं स्वसद्भावसौख्यं तेन सम्पन्नः

सुखरूपी अमृत के रस को जो पीना चाहता है, उसे विशुद्ध स्वात्मा के विषय में सावधान होकर रहना चाहिए। इस प्रकार मन को नियन्त्रित करने का उपदेश देने वाला अधिकार पूर्ण हुआ ॥७६॥

आगे शून्यध्यान में प्रविष्ट क्षपक की अवस्था कैसी होती है। यह कहते हैं–

सुण्णज्झाण इति–गाथार्थ–(सुण्णज्झाणपइट्ठो) शून्य–निर्विकल्पध्यान में प्रविष्ट, **(ससहाव सुक्ख संपण्णो)** आत्म सद्भाव के सुख से संपन्न और **(परमाणंदे)** उत्कृष्ट आनन्द में **(थक्को)** स्थित **(जोई)** जोगी **(फुडं)** स्पष्ट हो **(भरियावत्थो)** पूर्णकलश के समान अविनाशीक आत्मानन्दरूपी सुधा से संभृत **(हवइ)** होता है ॥७७॥

टीका–उस निर्विकल्प समाधि को शून्यध्यान कहते हैं जिसमें–

जायन्त इति–निरन्तर आनन्द स्वरूप स्वात्मा की चिन्तामात्र से रस विरस हो जाते हैं, विषय रस फीके पड़ जाते हैं, गोष्ठियों में होने वाली कथाओं का कौतुक नष्ट हो जाता हैं, विषय जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, शरीर से भी प्रीति हट जाती है, वचन भी मौन धारण कर लेते हैं और समस्त दोषों के साथ मन भी नष्ट हो जाता है।

जो योगी–मुनि इस प्रकार के निर्विकल्प ध्यान में प्रविष्ट होता है, जो अनन्तज्ञानादि लक्षण स्वकीय शुद्ध आत्मा के सद्भाव से उत्पन्न सुख से संयुक्त होता है और परमानन्द में स्थित है–अत्यन्त

संयुक्तः स्वसद्भावसौख्यसंपन्नः। कीदृशो योगी? **परमाणंदे थक्को** परमानन्दे स्थितः परमश्चासावानन्दश्च परमानन्दस्तस्मिन् परमानन्दे स्थितः विशुद्धतरपरब्रह्माराधनोद्भूतस्फीतानन्दा–मृतरसतृप्त इत्यर्थः। अत एव क्षपकः। **भरियावत्थो फुडं हवइ** पूर्णकलशवत् भृतावस्थः अविनश्वरनिरुपमानंदसुधारससंभृतः स्फुटं निश्चितं भवतीत्यर्थः। एवं ज्ञात्वा विषयशून्यं ध्यानमवलंब्य स्वात्माराधनीयोऽनंतसौख्यं प्रेप्सुनेति ॥७७॥

अधुना शून्यध्यानलक्षणमाह–

जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंपि।
ण य धारणा वियप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज ॥७८॥

भो क्षपक! **तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज** तत् शून्यं सुष्ठु अतिशयेन भावयेस्त्वं जानीया इति भावार्थः। तत् किं? यत्र आर्तरौद्रधर्मशुक्लभेदाच्चतुर्विकल्पं ध्यानं नास्ति जिनसुगतहरब्रह्मभेदाद्यनेक–विकल्पं ध्येयं च नास्ति **तथा झायारो**।

शुचिः प्रसन्नो गुरुदेवभक्तः सत्यव्रतः शीलदयासमेतः।
दक्षः पटुर्बीजपदावधारी ध्याता भवेदीदृश एव लोके॥

विशुद्ध परमब्रह्म की आराधना से उत्पन्न अत्यधिक आनन्दरूप अमृत रस से तृप्त है वह पूर्ण कलश के समान अविनाशी तथा अनुपम आनन्दरूपी सुधा रस से भरा हुआ होता है। ऐसा जान कर अनन्त सुख के अभिलाषी मुनि को निर्विकल्प ध्यान का अवलम्बन लेकर स्वकीय शुद्ध आत्मा की आराधना करना चाहिए ॥७७॥

अब शून्य ध्यान का लक्षण कहते हैं–

जत्थ ण इति–गाथार्थ–(जत्थ) जिसमें **(ण झाणं झेयं झायारो)** न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है अर्थात् जो इन तीनों के विकल्प से रहित है, जिसमें **(किंपि चिंतणं णेव)** किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है। **(य)** और **(ण धारणावियप्पो)** न जिसमें पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और वारुणी धारणाओं का विकल्प है अथवा जिसमें धारणा–कालान्तर में किसी तत्त्व को विस्मृत न होना तथा विकल्प–असंख्यात लोक प्रमाण विकल्प नहीं है। **(तं)** उसे **(सुट्ठु)** अच्छी तरह **(सुण्णं)** शून्य ध्यान **(भाविज्ज)** समझो ॥७८॥

टीका–आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लध्यान के भेद से ध्यान चार प्रकार का होता है, जिन, सुगत शिव, तथा ब्रह्म आदि के भेद से ध्येय अनेक प्रकार का है, ध्याता का लक्षण इस प्रकार है–

शुचि–जो पवित्र है, प्रसन्न है, गुरुदेव का भक्त है, सत्यव्रती है, शील और दया से सहित है, समर्थ है, चतुर है और आगम के बीज पदों को धारण करने वाला है ऐसा पुरुष ही लोक में ध्याता हो सकता है।

इत्यादिगुणोपेतो ध्यातापि नास्ति तथा यत्र **णेव चिंतणं किंपि**, नैव। किं तत्। चिन्तनं शुक्लकृष्णरक्त-पीतादिकमन्यदपि शत्रुवधादिकं स्त्रीराजवश्यादिकं वा चिन्तनं नास्ति। तथा **ण य धारणा** यत्र धारणापि नास्ति कालांतरादविस्मरणं धारणं तन्नास्तीत्यर्थः तथा **वियप्पो** असंख्येयलोकप्रमाणो विकल्पोपि नास्ति तच्छून्यं ध्यानं अर्थान्निर्विकल्पसमाधिलक्षणं ध्यानं निःसन्देहं भावयेरिति। ईदृग्विधशून्यतापरिणतो ध्याता नयपक्षपातोज्झितः स्वरूपगुप्तो भवति। यश्च स्वरूपगुप्तः स परमानंदामृतमेवास्वादयति। यदुक्तम्–

[1]य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिवन्ति॥

अनुच–

[2]अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महःपरममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायतम् ॥

शून्य ध्यान का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस ध्यान में ध्यान, ध्येय तथा ध्याता का विकल्प नहीं रह गया है, जिसमें सफेद, काला, लाल, पीला आदि का तथा शत्रु वधादिक का अथवा स्त्री, राज्य और वशीकरण आदि का चिन्तन नहीं है जिसमें पार्थिवी आदि चार धारणाओं का विकल्प नहीं है अथवा कालान्तर में किसी वस्तु के स्मरण का भाव नहीं है और जिसमें असंख्यात लोक प्रमाण विकल्प नहीं है उसे शून्य ध्यान जानना चाहिए। यह शून्य ध्यान ही निर्विकल्प समाधि है। जो ध्याता इस प्रकार की शून्यता से युक्त होता है वह नय के पक्षपात से रहित तथा स्वरूप में गुप्त सुरक्षित होता है और जो स्वरूप गुप्त होता है। वह परमानन्दरूप अमृत का ही आस्वाद करता है। जैसा कि कहा है–

य एवेति–जो मनुष्य नयों का पक्षपात छोड़कर निरन्तर स्वरूप में गुप्त रहते हैं तथा विकल्प जाल से च्युत होकर शान्तचित्त होते हैं वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

और भी कहा है–

अखण्डितमिति–वह उत्कृष्ट तेज हमारे प्रकट हो, जो अखण्डित है। ज्ञेयों के आकार से कभी ''खण्डित नहीं होता'' आकुलता रहित है, अन्त रहित है, भीतर और बाहर प्रकाशमान है, सहजानन्द के विलास से सहित है अथवा सहज है–किसी के द्वारा रचा नहीं गया है, उदयरूप विलास से सहित है, चैतन्य की छलक से भरा हुआ है, सदा एकरस–एक चैतन्यरूप रहता है, सदा उल्लसित होता है और नमक की डली की लीला को प्राप्त है अर्थात् जिस प्रकार नमक की डली सब ओर से खारी होती है उसी तरह जो सब ओर से चैतन्य गुण से परिपूर्ण है ॥७८॥

१. समयसारकलशेऽमृतचन्द्रसूरेः श्लोक ६९, २. समयसारकलशेऽमृतचन्द्रसूरेः श्लोक १४।

प्रागुक्तलक्षणशून्यतापरिणतः आत्मा शुद्ध एव भावो भवति स शुद्धाभावः किमाख्यो भवतीत्यावेदयति–

जो [1]खलु सुद्धो भावो सो जीवो चेयणावि सा उत्ता।
तं चेव हवदि णाणं [2]दंसणचारित्तयं चेव ॥७९॥

जो खलु सुद्धो भावो यः खलु निश्चयेन शुद्धो रागद्वेषमोहादिदोषोज्झितः भावो भवति स एव भावो जीवः चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैः पूर्वमजीवत् सम्प्रति जीवति अग्रे च जीविष्यति इति जीवः ज्ञानदर्शनोपयोगमयः तथा **चेयणावि सा उत्ता** स एव भावः सा जगत्प्रसिद्धा चेतना उक्ता प्रतिपादिता। स एव भावः **तं चेव हवदि** इत्यादि तत् **विशुद्धं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं** भवति। यदुक्तम्–

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचिदर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात्तदेकं निर्मलं तपः॥
नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम्।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्॥

जिसका लक्षण ऊपर कहा गया है ऐसी शून्यतारूप परिणत आत्मा शुद्धभाव रूप ही है। अब वह शुद्धभाव क्या है यह कहते हैं–

जो खलु इति–गाथार्थ–(खलु) निश्चय से **(जो सुद्धो भावो)** जो शुद्धभाव है **(सो जीवो)** वही जीव है, **(सा चेयणावि उत्ता)** वही चेतना कही गई है **(तं चेव णाणं हवदि)** वही ज्ञान है और वही **(दंसण चारित्तयं चेव)** दर्शन तथा चारित्र है ॥७९॥

टीका–यहाँ गुण और गुणी में अभेद नय से कहा गया है कि रागद्वेष, मोह आदि दोषों से रहित जो भाव है वही जीव हैं, वही चेतना है, वही ज्ञान है और वही दर्शन तथा चारित्र जीव का निरुक्त–प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध होने वाला अर्थ यह है कि जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार द्रव्य प्राणों से पहले जीवित था, वर्तमान में जीवित है और आगे जीवित होगा वह जीव है तथा वाच्यार्थ है कि जो ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग से तन्मय है वह जीव है। यहाँ जीव गुणी है तथा शुद्धभाव, चेतना ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये गुण हैं क्योंकि गुण और गुणी में प्रदेश भेद नहीं होता इसलिए अभेदनय से दोनों को एक कहा जाता है परन्तु भेदनय से संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि में भेद होने से अनेक कहा जाता है। जैसा कि कहा है–

तदेकमिति–वह जीव ही एक उत्कृष्ट ज्ञान है, वह जीव ही एक निर्मल दर्शन है, वह जीव ही एक चारित्र है, वह जीव ही एक निर्मल तप है।

---

१. जो सो सुद्धो भः वो ग०, २. सो दंसण तह चारित्तं ग०।

अनुच–

[1]**आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयाभ्यां विना,**
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोप्ययम्॥

नमस्यं चेति—वह जीव ही एक नमस्कार करने के योग्य है, वह जीव ही एक मंगल है, वह जीव ही एक उत्तम है और वह जीव सत्पुरुषों का एक शरण है।

आक्रामन्निति—नयों के पक्ष के बिना अविनाशी अविकल्प भाव को प्राप्त करने वाला तथा निश्चल चित्त मनुष्यों के द्वारा स्वयं अनुभव में आने वाला जो यह समय (आगम अथवा आत्मा) का सार सुभोभित हो रहा है, विज्ञान एक रूप रस से युक्त वह समयसार ही भगवान्–अनन्त ऐश्वर्य से युक्त, पुण्य–पवित्र और पुराण–सनातन–अनाद्यनन्त पुरुष है, वह समयसार ही ज्ञान तथा दर्शन अथवा अन्य जो कुछ भी है उस रूप वह एक ही है।

भावार्थ—यहाँ आत्मा के शुद्ध भाव को समयसार कहा है उस शुद्धभाव का जब नाना नयों की अपेक्षा वर्णन किया जाता है तब वह नाना विकल्परूप अनुभव में आता है परन्तु जब नयों का अवलम्बन छोड़कर उसका वर्णन होता है तो वह एक अविकल्परूप अनुभव में आता है। नयों का पक्ष छूट जाने से शुद्धभाव की अविकल्पता यद्यपि शब्दों द्वारा नहीं कही जाती, फिर भी निश्चलचित्त मनुष्य जब उसका विचार करते हैं तब वह अनुभव में अवश्य आती हैं। आत्मा विज्ञानरूप एकरस से तन्मय होता है इसलिए उसका शुद्ध भाव भी विज्ञानरूप रस से तन्मय होता है। जब इस समयसार रूप शुद्धभाव का गुण–गुणी के भेदनय को गौण कर कथन करते हैं तब कहा जाता है कि समयसार रूप शुद्धभाव ही पुरुष–आत्मा है। आचार्य ने पुरुष के लिए तीन विशेषण दिये हैं भगवन्, पुण्य और पुराण। यह आत्मा स्वभाव से अनन्तज्ञानादिगुणों के ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण भगवान् है। यद्यपि संसारी दशा में इसके वे ज्ञानादिगुण कर्मों से आवृत हो रहे हैं परन्तु स्वभाव दृष्टि से वे कभी नष्ट नहीं होते, यह आत्मा पुण्य है–अतिशय पवित्र है। यद्यपि संसारी अवस्था में कर्ममल के साथ संपर्क होने से अपुण्य रूप दिखता है तो भी स्वभाव दृष्टि से कथन करने पर जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ स्वर्ण कभी अपवित्र नहीं माना जाता उसी प्रकार आत्मा कर्ममल के साथ संपर्क होने पर भी कभी अपुण्य–अपवित्र नहीं माना जाता। यह आत्मा पुराण है–अनाद्यनन्त काल से इसी रूप में चला आ रहा है। यद्यपि पर्यायदृष्टि की अपेक्षा सादि सान्त है तो भी द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा यह अनाद्यनन्त है। शुद्धभाव की विशिष्ट परिणतिरूप जो ज्ञान, दर्शन अथवा चारित्र आदि गुण हैं, वे भी इसी एक आत्मा रूप हैं ॥७९॥

१. नयाभ्यां प० म०।

यः खलु शुद्धो भावः स एव रत्नत्रयमित्याचष्टे–

दंसणणाणचरित्ता णिच्छयवाएण हुंति ण हु भिण्णा।
जो खलु सुद्धो भावो तमेव रयणत्तयं जाण ॥८०॥

भो क्षपक! **दंसणणाणचरित्ता** दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्राणि **णिच्छयवाएण** निश्चयवादेन निश्चयनयापेक्षया **हुंति ण हु भिण्णा** हु स्फुटं भिन्नानि परमात्मनः स्वरूपात् पृथग्भूतानि न भवन्ति। यदुक्तम्–

आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये।
भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम्॥
[1]**कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया**
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंत्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥

किं तु **जो खलु सुद्धो भावो** यः खलु निश्चयेन शुद्धः कर्ममलविनिर्मुक्तः भावः तमेव भावं रत्नत्रयं

आगे जो यह शुद्धभाव है वही रत्नत्रय है ऐसा कहते हैं–

दंसणाणेति–गाथार्थ–(णिच्छयवाएण) निश्चय की अपेक्षा **(हु)** वास्तव में **(दंसणणाण-चरित्ता)** दर्शन, ज्ञान और चारित्र **(भिण्णा ण हुंति)** भिन्न नहीं है। **(खलु)** निश्चय से **(जो सुद्धोभावो)** जो शुद्धभाव है **(तमेव)** उसे ही **(रयणत्तयं)** रत्नत्रय **(जाण)** जानो ॥८०॥

टीका–हे क्षपक! जब निश्चयनय से कथन होता है तब दर्शन, ज्ञान और चारित्र परमात्म स्वरूप से भिन्न नहीं हैं क्योंकि कहा है–

आत्मनीति–आत्मा का निश्चय, आत्मा का ज्ञान और आत्मस्वरूप में स्थिति ही रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहलाती है। यह रत्नत्रय संसार को नष्ट करने का कारण है। भूतार्थपथ–निश्चयनय के मार्ग में जिसकी बुद्धि लग रही है ऐसे पुरुष के लिए पूर्वोक्त रत्नत्रय आत्मा रूप ही हैं अर्थात् निश्चनय से आत्मा और रत्नत्रय में भेद नहीं है।

कथमपि–जो किसी तरह (व्यवहार नय से) त्रिरूपता को प्राप्त होकर भी एकता से च्युत नहीं है, जो निरन्तर उदयरूप है, निर्मल है तथा अनन्त चैतन्य का चिह्न है, ऐसी आत्म ज्योति का हम सदा अनुभव करते हैं क्योंकि अन्य प्रकार से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अभेद सिद्ध कर अब कहते हैं कि आत्मा का जो शुद्धभाव है उसे ही रत्नत्रय जानो अर्थात् शुद्धभाव के अतिरिक्त रत्नत्रय पृथक् वस्तु नहीं है। तात्पर्य यह है कि

---

१. समयसार कलशेऽमृतचन्द्रस्य श्लोक २०

जाण जानीहि। तथाहि **एकमेव परमात्मानमात्मनि** वर्तमानममन्दानन्दभेदुरमात्मनैव यो ध्यायति तेन रत्नत्रयमेवाराधितं भवेदिति भावार्थः ॥८०॥

अशेषकामक्रोधलोभमदमात्सर्यादिभिर्विभावपरिणामैर्मुक्तत्वादयमात्मा शून्य इत्याद्याह–

तत्तियमओ हु अप्पा अवसेसालंबणेहिं परिमुक्को।
उत्तो स तेण सुण्णो णाणीहि ण सव्वदा सुण्णो ॥८१॥

अप्पा आत्मा अतति गच्छति स्वकीयान् द्रव्यपर्यायानित्यात्मा। किं विशिष्टः। **तत्तियमइओ** तत्त्रितयमयः दर्शनज्ञानचारित्रमयः। ज्ञानिभिरात्मा दर्शनज्ञानमयो निर्दिष्ट इति। यदुक्तम्–

[1]अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञाप्तिरूपं त्यजेत्,
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-,
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित्॥

जो क्षपक, अपने आप में वर्तमान तथा अमन्द–आनन्द से परिपूर्ण एक परमात्मा का अपने आपके द्वारा ध्यान करता है वह रत्नत्रय की ही आराधना करता है ॥८०॥

आगे काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि समस्त विभाव परिणामों से मुक्त होने के कारण यह आत्मा शून्य कहलाता है। सर्वथा शून्य नहीं है, यह कहते हैं–

तत्तियमओ इति–गाथार्थ–(हु) निश्चय से **(तत्तियमओ)** रत्नत्रय से तन्मय **(अप्पा)** आत्मा **(अवसेसा लंबणेहिं)** रागद्वेषादि समस्त आलम्बनों से **(परिमुक्को)** रहित है **(तेण)** उस कारण **(णाणीहि)** ज्ञानी जनों के द्वारा **(स)** वह **(सुण्णो)** शून्य **(उत्तो)** कहा गया है **(सव्वहा)** सब प्रकार से **(सुण्णो ण)** शून्य नहीं है ॥८१॥

टीका–''अतति गच्छति स्वकीयान् द्रव्य पर्यायानित्यात्मा'' जो अपने द्रव्य और पर्यायों को प्राप्त हो वह आत्मा है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा शब्द का निरुक्त अर्थ द्रव्य तथा पर्यायों को प्राप्त करने वाला द्रव्य विशेष है। यहाँ ''अत सातत्यगमने'' इस गमनार्थक धातु का ज्ञानार्थ में प्रयोग है। इसलिए अपनी द्रव्य तथा पर्यायों को जो जाने वह आत्मा है। यह आत्मा दर्शन, ज्ञान और चारित्र से तन्मय है। ज्ञानीजनों ने आत्मा को दर्शन और ज्ञानमय कहा है। जैसा कि उल्लेख है–

अद्वैतापीति–यद्यपि चेतना अद्वैतरूप है तो भी वह यदि जगत् में दर्शन और ज्ञानरूपता को छोड़ देवे तो सामान्य और विशेष का अभाव होने से वह अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी। चेतना का अस्तित्व छूट जाने पर चैतन्य रूप आत्मा में भी जड़ता आ जावेगी और व्याप्य–आत्मा, व्यापक–चेतना के बिना अन्त को प्राप्त हो जावेगा, इसलिए चेतना निश्चित ही दर्शन, ज्ञान रूप है।

---

१. समयसार कलशेऽमृतचन्द्रस्य श्लोक १८३

अतः आत्मा दर्शनज्ञानोपयोगमयोऽवगन्तव्यः तस्यैव शुद्धबुद्धस्वभावस्यात्मनः स्वात्मनि या स्थितिस्तच्चारित्रमिति। अथवा–

[1]ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥

अनुच–

सम्यक् सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनो रूपम्।
तत्त्रितयतत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः॥

संसारव्यवहारव्यापारोत्पादकैः रागद्वेषमोहश्रृंगारादिभिरवलम्बनैः **सालंबो** भविष्यति आत्मेत्याशंक्याह **अवसेसालंबणेहिं परिमुक्को** अवशेषाणि समस्तानि यान्यालम्बनानि अपध्यानादीति तैः सर्वप्रकारेण मुक्तो रहितः **उत्तो स तेण सुण्णो** स आत्मा तेनैव हेतुना शून्यः उक्तः प्रतिपादितः। ततश्च समस्तेन्द्रिय–विषयकषाय–विषये शून्यः चिदानन्दैकसद्भावे स्वरूपे योऽशून्यः स सर्वप्रकारेणोपादेय इति भावार्थः ॥८१॥

चित्स्वभावः खल्वयमात्मा मोक्षमार्गो मोक्षो वेत्यावेदयति–

इस कलश में यद्यपि आत्मा को दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोगमय कहा है तो भी शुद्धबुद्ध सर्वज्ञ वीतराग स्वभाव वाली आत्मा की जो अपने स्वरूप में स्थिति है वह चारित्र कहलाता है इससे आत्मा दर्शन–ज्ञान और चारित्र–तीनों से तन्मय है यह सिद्ध होता है अथवा आगम में यह भी कहा है–

ववहारेणवदिस्सइ—व्यवहारनय से ज्ञानी जीव के दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहे जाते हैं, निश्चय नय से न ज्ञान है, न चारित्र है, और न दर्शन है, निश्चय से तो वह शुद्ध ज्ञाता है, और भी कहा है–

सम्यगिति—सम्यक् सुख, सम्यग्ज्ञान और सम्यदर्शन का जो त्रिक है वह परमात्मा का अखण्ड रूप है। इस त्रिक की आराधना में जो तत्पर रहता है वही उसकी प्राप्ति से कृतकृत्य होता है।

इस तरह आत्मा का मूल स्वरूप बता कर उसकी शून्य दशा का सापेक्ष वर्णन करते हैं। रत्नत्रय से तन्मय आत्मा जब संसार व्यवहार को उत्पन्न करने वाले रागद्वेष, मोह, श्रृंगार आदि आलम्बनों अथवा अपध्यान आदि खोटे ध्यानों से सर्वथा मुक्त होता है तब शून्य कहलाता है और जब अपने चिदानन्द स्वभाव में निमग्न रहता है तब अशून्य कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा समस्त इन्द्रियों के विषय तथा कषाय से शून्य है और चिदानन्द स्वभाव से अशून्य है वही सब प्रकार से उपादेय है ॥८१॥

आगे चैतन्य स्वभाव वाला यह आत्मा ही मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष है यह कहते हैं–

---

१. समयसार कुन्दकुन्दस्य गाथा

एवं गुणो हु अप्पा जो सो भणिओ हु मोक्खमग्गोत्ति।
अहवा स एव मोक्खो असेसकम्मक्खए हवइ ॥८२॥

एवं गुणो हु अप्पा आत्मा य एवंभूता अनन्तज्ञानादयो गुणा यस्य स एवंगुणः य एवंगुण आत्मा स एव मोक्षमार्ग इति भणितः कथितः सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तस्य मार्गो दर्शनज्ञानचारित्राणि एवंगुणविशिष्टः खल्वात्मा साक्षान्मोक्षमार्ग इत्यवगंतव्यः **अहवा** अथवा मोक्षमार्गेण किं स एव **मुक्खो** स एवात्मा मोक्षः निरतिशयानन्दसुखरूपः। कदा स आत्मा मोक्षो भवतीत्याह। **असेसकम्मक्खये हवइ** अशेषाणि समस्तानि मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि यानि कर्माणि ज्ञानावरणदर्शनावरणादीनि तेषां क्षयः सामस्त्येन विनाशः अशेषकर्मक्षयस्तस्मिन्नशेषकर्मक्षये सति स एव आत्मा मोक्षो भवतीत्यर्थः ॥८२॥

यावत्साकल्याभिनिवेशो योगिनस्तावच्छून्यं ध्यानं नास्तीत्यावेदयति–

[1]जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स झाणजुत्तस्स।
[2]ताम ण सुण्णं झाणं चिंता वा भावणा अहवा ॥८३॥

जोइस्स योगिनः संवृतेन्द्रियस्य क्षपकस्य **जाम वियप्पो कोई जायइ** यावत्कालं कोपि कश्चिदपि

एवं गुणो इति–गाथार्थ–(हु) निश्चय से **(एवं गुणो)** इस प्रकार से युक्त **(जो अप्पा)** जो आत्मा है **(सो हु)** वही **(मोक्खमग्गोत्ति)** मोक्ष मार्ग शब्द से **(भणिओ)** कहा गया है। **(अहवा)** अथवा **(असेसकम्मक्खए)** समस्त कर्मों का क्षय होने पर **(स एव)** वही आत्मा **(मोक्खो)** मोक्ष **(हवइ)** होता है ॥८२॥

टीका–अनन्त ज्ञान आदिक जो आत्मा के गुण ऊपर बताए गए हैं उनसे सहित आत्मा ही मोक्षमार्ग है ऐसा कहा गया है। शास्त्रों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। यहाँ उक्त तीनों गुणों से अभिन्न जो आत्मा है उसे ही मोक्षमार्ग कहा है, अथवा मोक्षमार्ग से क्या, ज्ञानावरणादि समस्त मूलोत्तर कर्म प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर आत्मा स्वयं मोक्ष हो जाता है। यह अभेद नय से कथन है ॥८२॥

आगे समस्त कार्यों में जब तक कर्त्तृत्व भाव रहता है तब तक योगी शून्य ध्यान नहीं हो सकता यह कहते हैं–

जाम इति–गाथार्थ–(झाणजुत्तस्स) ध्यान से युक्त **(जोइस्स)** मुनि के **(जाम)** जब तक **(कोई वियप्पो)** कोई विकल्प **(जायइ)** उत्पन्न होता है **(ताम)** तब तक **(सुण्णं)** शून्य–निर्विकल्प **(झाणं)** ध्यान **(ण)** नहीं होता ? किन्तु **(चिन्ता वा)** चिन्ता **(अहवा)** अथवा **(भावणा)** भावना होती है ॥८३॥

टीका–इन्द्रियों को वशीभूत करने वाले क्षपक के ''मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ'' इत्यादि रूप

१.जाव ग०, २. ताव।

विकल्पः अहं सुखी अहं दुःखीत्यादि-रूपः जायते उत्पद्यते। कथंभूतस्य योगिनः? **झाणजुत्तस्स** ध्यानयुक्तस्य निर्विकल्पसमाधिनिष्ठस्य। कथं विकल्पाविर्भावः? पूर्वविभ्रमसंस्कारादिति। यदुक्तम्–

[१]जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्तिं भूयोपि गच्छति॥

विकल्पावतारश्चेद्योगिनस्तर्हि किं दूषणमित्याशंकयाह। **ताव ण सुण्णं झाणं** तावत्कालं शून्यं संकल्पातीतं ध्यानं नास्ति। तत्किमस्तीत्याशंकयाह। **चिंता वा भावणा अहवा** तस्य परमात्मनश्चिन्ता अनन्तज्ञानादिगुणस्मरणलक्षणा अथवा तस्मिन्नेव टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावे भावना। न पुनः शून्यं ध्यानं॥ तथाहि। आत्मस्वभावलंबिनो योगिनः संकल्पविकल्पं विदलयन् शुद्धनय एवोदेति। यदुक्तम्–

[२]आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥

तस्माच्छून्यध्यानमभिलषता मुमुक्षुणा शुद्धनय एवेष्टव्य इति ॥८३॥

विशदानन्दमयात्मनि स्वात्मनि यस्य मनो विलीयते तस्यात्मा कर्मनिर्मूलनक्षमः प्राकट्यमुपढौकते इत्याह–

कोई विकल्प जब तक उत्पन्न होता रहता है तब तक उसके शून्य ध्यान नहीं होता। ध्यान में बैठे हुए क्षपक के नाना विकल्पों की उत्पत्ति पूर्व विभ्रमों के संस्कार से होती है। जैसा कि कहा है–

जानन्नप्यात्मन इति–यद्यपि यह जीव आत्मा के स्वरूप को जानता है और परपदार्थ से भिन्न आत्मा की भावना भी करता है तो भी पूर्व विभ्रमों–अनादिकालीन मोहजन्य विकारों के संस्कार से फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है। शून्यध्यान नहीं होता किन्तु चिन्ता या भावना होती है। परमात्मा के अनन्त ज्ञानादि गुणों का स्मरण करना चिन्ता है और परमात्मा के टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव का बार बार विचार करना भावना है। आत्मस्वभाव का अवलम्बन करने वाले मुनि के संकल्प-विकल्प को दूर करने वाले शुद्धनय का ही उदय रहता है। जैसा कि कहा है–

आत्मस्वभावमिति–परभावों–कर्मजनित रागादि विकारीभावों से भिन्न, सब ओर से पूर्ण आदि अन्त से रहित, एक, तथा संकल्प विकल्पों के समूह से दूर आत्म स्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदित होता है।

इसलिए जो मुमुक्षु शून्य निर्विकल्पध्यान की अभिलाषा रखता है, उसे शुद्धनय की ही इच्छा करना चाहिए ॥८३॥

आगे निर्मल आनन्द से तन्मय स्वात्मा में जिसका मन विलीन रहता है उसकी आत्मा कर्मों को निर्मूल करने में समर्थ होती है। यह कहते हैं–

---

१. समाधिशतके, २. समयसारकलशेऽमृतचन्द्रस्य श्लोक १०

लवणव्व सलिलजोए झाणे चित्तं विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पाअणलो पयासेइ ॥८४॥

पयासेइ प्रकाशयति प्रकटी भवति। प्रद्योतते इति यावत्। कोसौ। **अप्पाअणलो** आत्मैव अनलो वह्निः आत्मानलः आत्महुताशनः। कस्यात्मानलः प्रकटीभवति इत्याह। **झाणे चित्तं विलीयए जस्स** यस्य योगिनो नियमितपञ्चेन्द्रियस्य शुद्धात्मस्वरूपनिष्ठस्य मनश्चित्तं ध्याने धर्मशुक्लरूपे निर्विकल्प-समाधिलक्षणे वा विलीयते विलयं विनाशं याति यतश्चिद्रूपे स्थितं लग्नं मनोऽवश्यमेव विलीयते। अतएव परात्मनि स्थितिं न करोति। यदुक्तम्–

नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वांतमंतमुपयाति तद्बहिः।
तं विहाय सततं भ्रमत्यदः को बिभेति मरणान्न भूतले॥

किमिव ध्याने चित्तं विलीयत इति पृष्टे प्राह। **लवणव्व सलिलजोए** लवणमिव सलिलयोगे सलिलेन योगः सलिलयोगस्तस्मिन् सलिलयोगे। यथा लवणं पयोयोगमासाद्य सद्यो विलीयते तथा यस्य चित्तं शुद्धात्मयोगे विलयमुपढौकते तस्य चिदानंदोवश्यं प्राकट्यमुपगच्छति। अस्मिंश्चात्मनि अनुभवमुपयाते द्वैतं न प्रतिभाति। यदुक्तम्–

लवणव्व इति–गाथार्थ–(सलिल जोए) पानी के योग से **(लवणव्व)** नमक के समान **(जस्स)** जिसका **(चित्तं)** चित्त **(झाणे)** ध्यान में **(विलीयए)** विलीन हो जाता है **(तस्स)** उस मुनि के **(सुहासुहडहणो)** शुभ-अशुभ कर्मों को जलाने वाली **(अप्पा अणलो)** आत्मारूपी अग्नि **(पयासेइ)** प्रकट होती है ॥८४॥

टीका–जिस प्रकार पानी का संयोग पाकर नमक विलीन हो जाता है उसी प्रकार जिस जितेन्द्रिय एवं शुद्धात्म स्वरूप में स्थित मुनि का चित्त शुद्धात्मा का योग पाकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप अथवा निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में विलीन हो जाता है उसके नरेन्द्र, सुरेन्द्र तथा फिर फणीन्द्र के साम्राज्य की प्राप्ति में कारण शुभ कर्म और नरक आदि के दुःखों की प्राप्ति में कारण अशुभ कर्मों को जलाने वाली आत्मा रूप अग्नि प्रकट होती है अर्थात् उसे चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव अच्छी तरह होने लगता है। ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि चित्त आत्मा के चैतन्य स्वरूप में संलग्न है वह उसमें अवश्य ही विलीन हो जाता है। इसलिए वह पर पदार्थों में स्थिति नहीं करता। जैसा कि कहा है–

नूनमत्रेति–निश्चित ही जो चित्त परमात्मा में स्थित है वह अन्त को प्राप्त होता है अर्थात् उसी में विलीन हो जाता है तथा जो चित्त परमात्मा को छोड़ता है अर्थात् उसके ध्यान से च्युत होता है वह निरन्तर बाहर ही भ्रमण करता है। सो ठीक ही है क्योंकि पृथ्वी तल पर मरण से कौन नहीं डरता? जब चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव होने लगता है तब द्वैत का प्रतिभास नहीं होता। जैसा कि कहा गया है–

[1]उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥

किंविशिष्टः आत्मानलः। **सुहासुहडहणो** नरेन्द्रसुरेन्द्रफणीन्द्रसाम्राज्योदयहेतुः शुभकर्म नारकादि-दुःखकारणमशुभकर्म शुभं च अशुभं च शुभाशुभे तयोर्दहनः शुभाशुभकर्मेंधनसंघातप्लोषकारक इत्यर्थः ॥८४॥

स्वात्मोत्थपरमानन्दसुधासिन्धौ निमग्ने मनसि आत्मैव परमात्मा भवतीत्यावेदयति-

उव्वसिए मणगेहे णट्ठे णीसेसकरणवावारे।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥८५॥

अप्पा परमप्पओ हवइ भवति संजायते। कोसौ। आत्मा शरीराधिष्ठानो जीवः। कथंभूतो भवति। परमात्मा भवति। यदुक्तम्-

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः॥

कस्मिन् सति आत्मा परमात्मा भवतीत्याह। **उव्वसिए मणगेहे** मनोंतरंगं तदेव गेहं तस्मिन् मनोगेहे

उदयति इति—समस्त विकल्पों को नष्ट करने वाले इस शुद्धात्मा का अनुभव होने पर नय लक्ष्मी का उदय नहीं रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है। यह हम नहीं जानते। अधिक क्या कहें द्वैत का पता ही नहीं चलता ॥८४॥

आगे जब मन स्वात्मा से उत्पन्न परमानन्दरूपी अमृत के समुद्र में निमग्न हो जाता है तब आत्मा ही परमात्मा हो जाता है। यह कहते हैं-

उव्वसिये इति—गाथार्थ—(मणगेहे) मनरूपी घर के **(उव्वसिए)** ऊजाड़ होने पर **(णीसेसकरणवावारे)** समस्त इन्द्रियों का व्यापार **(णट्ठे)** नष्ट हो जाने पर और **(ससहावे)** स्वकीय स्वभाव को **(विप्फुरिए)** प्रकट होने पर **(अप्पा)** आत्मा **(परमप्पओ)** परमात्मा **(हवइ)** होता है ॥८५॥

टीका—जैनधर्म में आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। यह सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है। जैसा कि कहा है-

उपास्यात्मानमिति—आत्मा की ही उपासना करके आत्मा परमात्मा हो जाता है अथवा आत्मा को मथकर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। जैसे कि वृक्ष अपने आपको मथकर-परस्पर रगड़ कर अग्नि बन जाता है।

आत्मा परमात्मा कब बनता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य ने तीन बातें कहीं

---

१. समयसार कलशेऽमृतचन्द्रस्य श्लोक ९, २. समाधितन्त्र-पूज्यपादस्य श्लोक ९८

उद्वसिते सति विनष्टे सति सर्वविषयव्यापारेभ्यः पराङ्मुखतामागते सति। मनसो विनाशकरणं परमात्मध्यानमेव। न केवलं उद्वसिते मनोगेहे। **णट्ठे णीसेसकरणवावारे** नष्टे निःशेषकरणव्यापारे करणानामिन्द्रियाणां व्यापारः स्वस्वविषयेषु प्रवर्तनं करणव्यापारः निःशेषश्चासौ करणव्यापारश्च निःशेषकरणव्यापारस्तस्मिन् निःशेषकरण-व्यापारे नष्टे सति, परं करणव्यापारं बहिरात्मा वारयितुं न शक्नोति किन्तु तत्रैव रमते। यदुक्तम्–

[१]न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥

ततश्च हृषीकेषु विजितेष्ववश्यं परात्मतत्त्वमाविर्भवति। यदुक्तम्–

संहृतेषु स्वमनोगजेषु यद्भाति तत्त्वममलात्मनः परम्।
तद्गतं परमनिस्तरंगतामग्निरुग्र इह जन्मकानने॥

ततश्च मनसि विनष्टे हृषीकगणे प्रहतप्रसरे स्वस्वभावे विस्फुरिते आत्मैव परमात्मा भवतीति समुदायार्थः ॥८५॥

हैं। प्रथम तो मनरूपी घर का ऊजाड़ होना अर्थात् मन में जो नाना प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं, उनका मिट जाना। द्वितीय समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाना। इन्द्रियां अपने अपने स्पर्शादि विषयों में जब तक प्रवृत्ति करती रहती हैं तब तक उनकी इष्टानिष्ट परिणति के कारण मन में संकल्प विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए मन के संकल्प विकल्प मिटाने के लिए इन्द्रिय व्यापार का विनष्ट होना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रिय विषयों को, पर समझ कर उनसे इन्द्रियों को रोकने में समर्थ होता है परन्तु बहिरात्मा–मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें रोकने के लिए समर्थ नहीं होता। रोकने की अपेक्षा वह उन्हीं में रमने लगता है। जैसा कि कहा है–

नतदस्तीति–यद्यपि इन्द्रियों के विषयों में वह एक भी वस्तु नहीं है जो आत्मा का कल्याण करने वाली हो तो भी अज्ञानी जीव अज्ञानभावना के कारण उन्हीं इन्द्रिय विषयों में क्रीड़ा करता है–आनन्द मानता है।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियों के जीत लेने पर अवश्य ही परमात्म तत्त्व प्रकट होता है। जैसा कि कहा है–

संहृतेष्विति–अपने मन रूपी हाथियों को जीत लेने पर आत्मा का जो निर्मल तत्त्व प्रकट होता है वह अत्यन्त निश्चलता को प्राप्त हो जाता है तथा वही परम तत्त्व इस संसाररूपी वन को भस्म करने के लिए तीव्र अग्नि स्वरूप होता है।

तृतीय स्वभाव का प्रकट होना। आत्मा का स्व स्वभाव शुद्धबुद्धता–वीतराग सर्वज्ञता है। जब उपर्युक्त दो कारण आ मिलते हैं अर्थात् मन संकल्प विकल्प से रहित हो जाता है तथा इंद्रियों का समस्त व्यापार नष्ट हो जाता है तब आत्मा का स्वस्वभाव प्रकट होता है। उसके प्रकट होने पर आत्मा ही परमात्मा हो जाता है ॥८५॥

---
२. समाधितन्त्र–पूज्यपादस्य श्लोक ५५

शून्यं ध्यानं विदधानस्य धातुः सकलकर्मविप्रमोक्षो भवतीत्याह–

इयएरिसम्मि सुण्णे झाणे झाणिस्स वट्टमाणस्स।
चिरबद्धाण विणासो हवइ सकम्माण सव्वाणं ॥८६॥

हवइ भवति जायते। कोसौ? **विणासो** विनाशो विलयः। केषां। **सव्वाणं सकम्माणं** सर्वेषां मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानां स्वकर्मणां ज्ञानावरणादीनां। कस्य कर्मणां विनाशो भवतीत्याह? **झाणिस्स** ध्यानिनो योगिनः। कथम्भूतस्य योगिनः। **इयएरिसम्मि सुण्णे झाणे वट्टमाणस्स** इति प्रागुक्तप्रकारेण एतादृशे शून्ये ध्याने निर्विकल्पसमाधिलक्षणे प्रवर्तमानस्य। एतादृशे ध्याने प्रतिष्ठितस्य योगिनः कर्मक्षयो भवतीति निःसंशयः। तथाहि–योगिनोऽयं योगकल्पतरुर्वांछितं फलं तदा फलति यदा मनोगजेन नोत्पाटितो भवेत्। यदुक्तम्–

चित्तमत्तकरिणा नचेद्धतो दुष्टबोधवनवह्निनाऽथवा।
योगकल्पतरुरेष निश्चितं वांछितं फलति मोक्षसत्फलम्॥

ततोवश्यं योगिना मनोगजाद्योगकल्पतरुर्यत्नेन रक्षणीय इति भावार्थः ॥८६॥

निःशेषकर्मविनाशे सति कीदृशं फलं भवतीत्यावेदयति–

णीसेसकम्मणासे पयडेइ अणंतणाणचउखंधं।
अण्णेवि गुणा य तहा झाणस्स ण दुल्लहं किंपि ॥८७॥

आगे शून्यध्यान करने वाले ध्याता के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। यह कहते हैं–

इयएरिसम्मीति–गाथार्थ–(इयएरिसम्मि) इस प्रकार के **(सुण्णे)** शून्य **(झाणे)** ध्यान में **(वट्टमाणस्स)** स्थित **(झाणिस्स)** ध्याता के **(चिरबद्धाण)** चिरकाल से बंधे हुए **(सव्वाणं सकम्माण)** समस्त अपने कर्मों का **(विणासो)** विनाश **(हवइ)** होता है ॥८६॥

टीका–शून्य ध्यान का अर्थ निर्विकल्प समाधि है। जब यह मुनि निर्विकल्प समाधि में स्थित होता है तब इसके चिरकाल से बंधे हुए समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। यह योग निर्विकल्प समाधि योगी के लिए कल्पवृक्ष के समान है। यह योगरूपी कल्पवृक्ष वाञ्छित फल को तभी फलता है जब कि मनरूपी हाथी के द्वारा उखाड़ा नहीं जाता। जैसा कि कहा है–

चित्तमत्तेति–यह योगरूपी कल्पवृक्ष यदि मनरूपी हाथी के द्वारा नष्ट नहीं किया जाता अथवा मिथ्याज्ञानरूपी दावानल के द्वारा भस्म नहीं होता तो निश्चित ही मोक्षरूपी समीचीन फल को फलता है।

तात्पर्य यह है कि योगी को मनरूपी हाथी से इस योग रूपी कल्पवृक्ष की यत्न से रक्षा करना चाहिए ॥८६॥

आगे समस्त कर्मों का नाश होने पर कैसा फल प्राप्त होता है? यह कहते हैं–

पयडेइ प्रकटीभवति। किं तत्? **अणंतणाणचउखंधं** अनन्तज्ञानादीनां चतुःस्कंधं अनन्तज्ञान-चतुःस्कंधं अनन्तविज्ञानानंतवीर्यतानंतसौख्यत्वानंतदर्शनलक्षणं। कदा तदेतच्चतुष्टयं प्रकटीभवति? **णीसेस-कम्मणासे** निःशेषाणि यानि कर्माणि निःशेषकर्माणि तेषां नाशः निःशेषकर्मनाशस्तस्मिन् निशेषकर्मनाशे सति। न केवलमनन्तज्ञानचतुःस्कंधं प्रकटीभवति। **अण्णेवि गुणा य तहा** तथा तेनैव प्रकारेण अन्येपि अपरे गुणाः सूक्ष्मत्वाव्याबाधादयोऽनन्तगुणाः प्रकटीभवन्ति तत्तत्कर्मक्षयात्ते ते गुणाः प्रकृष्टाः खलु जायन्ते। तद्यथा-

दृग्बोधौ परमौ तदावृतिहतेः सौख्यं च मोहक्षयात्,
वीर्यं विघ्नविघाततोऽप्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः।
आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रेण गोत्रं विना,
सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद्दुःखं सुखं चाक्षयम्॥
यैर्दुःखानि समाप्नुवन्ति विधिवज्जानन्ति पश्यन्ति नो,
वीर्यं नैव निजं भजन्त्यसुभृतो नित्यं स्थिताः संसृतौ।

णीसेस इति—गाथार्थ—(णीसेस कम्मणासे) समस्त कर्मों का नाश होने पर **(अणंत-णाणचउखंधं)** अनन्तज्ञानादि चतुष्टय **(पयडेइ)** प्रकट होता है **(तहा अण्णेवि गुणा)** तथा अन्य गुण भी प्रकट होते हैं सो ठीक ही है क्योंकि उसके **(झाणस्स)** ध्यान के लिए **(किंपि)** कुछ भी **(दुल्लहं)** दुर्लभ **(ण)** नहीं है ॥८७॥

टीका—समस्त कर्मों का नाश होने पर क्या फल प्रकट होता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य श्री ने कहा है कि समस्त कर्मों का नाश होने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य यह अनन्त चतुष्टय प्रकट होता है तथा इसके सिवाय अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व नामक अन्यगुण भी प्रकट होते हैं। वास्तव में ध्यान के लिए कोई गुण दुर्लभ नहीं है अर्थात् उससे सभी गुणों की प्राप्ति होती है। अब किस कर्म के अभाव में कौन गुण प्रकट होता है, यह कहते हैं-

दृग्बोधौ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय से उत्कृष्ट ज्ञान और उत्कृष्ट दर्शन, मोह के क्षय से सुख, अन्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य, नाम के क्षय से मूर्तिक शरीर का अभाव, आयु के नाश से जन्म-मरण का अभाव, गोत्र के विनाश से गोत्र का अभाव तथा वेदनीय के क्षय से अविनाशी अव्याबाधत्व-दुःख सुख दोनों का अभाव सिद्ध भगवान् के प्रकट होता है।

यै दुःखानि—जिनके कारण जीव दुःख प्राप्त करते हैं, जिनके कारण पदार्थों को विधि पूर्वक जानते देखते नहीं हैं, जिनके द्वारा अपने वीर्य को प्राप्त नहीं हो पाते, और जिनके कारण जीव निरन्तर संसार में स्थित रहते हैं वे कर्म, जिन्होंने उत्कृष्ट ध्यान के द्वारा सदा के लिए नष्ट कर दिए, वे सिद्ध भगवान् अनन्त चतुष्टय रूप अमृत के सागर क्यों न हों अर्थात् अवश्य ही हों।

कर्माणि प्रहतानि तानि महता योगेन यैस्ते सदा,
सिद्धानन्तचतुष्टयामृतसरिन्नाथा भवेयुर्न किम्॥

एवं समस्तकर्मक्षये सति ध्यानमाहात्म्यादेवाप्रसिद्धत्वस्य जीवस्य अनन्त-गुणाः प्रकटीभवन्ति ततः प्राह-**झाणस्स ण दुल्लहं किंपि** ध्यानस्य दुर्लभं न किञ्चिदिति किन्तु ध्यानमाहात्म्यात्सर्वं सुलभमिति। अथवा एवं व्याख्या। अनुक्तमपि ध्यानपदमस्यां गाथायामत्यूह्यं। ध्यानं कर्तृ ध्यानिनो योगिनः अनन्तज्ञान-चतुःस्कंधं **पयडेइ** प्रकटयेत् अनन्तज्ञान-चतुःस्कंधमिति कर्मपदं **अण्णेवि गुणा य तहा** तथा अन्यानपि गुणान् प्रकटयेत् अत एव ध्यानस्य दुर्लभं किंचिन्नास्ति ॥८७॥

कर्मकलंकमुक्तः खल्वयमात्मा निरवशेषं लोकालोकं परिछिनत्तीत्यावेदयति-

जाणइ पस्सइ सव्वं लोयालोयं च दव्वगुणजुत्तं[१]।
एयसमयस्स मज्झे सिद्धो सुद्धो सहावत्थो ॥८८॥

जाणइ जानाति परिच्छिनत्ति वेत्ति तथा **पस्सइ** पश्यति विलोकयति। कोऽसौ? सिद्धः व्यक्तिरूपः परमात्मा। किं जानाति पश्यतीत्याह? **लोयालोयं** च लोक्यन्ते विलोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यस्मिन् स लोकस्तद्विपरीतोऽलोकः लोकश्च अलोकश्च लोकालोकस्तं सर्वं निरवशेषं। कथंभूतं लोकालोकं? **दव्वगुणजुत्तं** द्रव्यगुणयुक्तं द्रव्यपर्यायसंयुक्तं द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालाः, द्रव्यगुणाः ज्ञानवर्णादि-गति-

---

अथवा इस गाथा में कर्तृवाचक 'ध्यान' पद की योजना ऊपर करनी चाहिए जिससे गाथा का अर्थ यह होगा कि ध्यान समस्त कर्मों का नाश होने पर अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय को प्रकट करता है, अनन्त चतुष्टय ही नहीं अन्य गुणों को भी प्रकट करता है क्योंकि ध्यान को कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥८७॥

आगे कर्ममल से मुक्त आत्मा निश्चय से समस्त लोकालोक को जानता है, यह कहते हैं-

जाणइ इति-गाथार्थ-(सुद्धो) शुद्ध और **(सहावत्थो)** स्वभाव में स्थित **(सिद्धो)** सिद्ध भगवान् **(एयसमयस्स मज्झे)** एक समय के बीच **(दव्वगुणजुत्तं)** द्रव्य और गुण से युक्त **(सव्वं लोयालोयं च)** समस्त लोक और अलोक को **(जाणइ पस्सइ)** जानते देखते हैं ॥८८॥

टीका-जिसमें जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं, इससे विपरीत अलोक कहलाता है। लोक और अलोक का जो समूह है, उसे लोकालोक कहते हैं। यह लोकालोक, द्रव्य और गुणों से युक्त है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। ज्ञान, वर्णादि, गति हेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व और वर्तना ये जीवादि द्रव्यों के गुण हैं, द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। यह पर्याय शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की है। जीव और पुद्गल की शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों प्रकार की पर्याय होती हैं। जब जीव कर्म और नोकर्म से रहित

---

१. सजुत्तं ग०।

स्थित्यवगाहवर्तनालक्षणाः, द्रव्यपर्यायाः नृत्वदेवत्वादिद्व्यणुकद्वित्रिगुणादि धर्माधर्मयोर्लोकाकाशस्य शुद्धपर्याय एवाकाशस्य घटाकाशपटाकाशादिः कालस्य समयादिलक्षणा तैर्द्रव्यगुणपर्यायैर्युक्तमित्यर्थः। कथं जानाति? **एयसमयस्स मज्झे** एकस्य समयस्य मध्ये एकसमयमध्ये सूर्यस्य प्रतापप्रकाशवत्। यथा किल सूर्यस्य प्रतापप्रकाशावेकस्मिन्नेव समये उत्पद्येते तथा वास्य शुद्धात्मनः सर्वस्यापि सावयवद्रव्यस्य ज्ञातृत्वं दर्शनित्वं चैकस्मिन्नेव समये संभवः छद्मस्थानां तु यथाक्रमेण। किं विशिष्टः **सिद्धो-सिद्धः सुद्धो-शुद्ध** द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मादिपरित्यक्तः। पुनः किं विशिष्टः। सहावत्थो स्वभावस्थः स्वभावे चिदानंदात्मके तिष्ठतीति स्वभावस्थः। जानाति पश्यतीत्युक्त्वा ज्ञानदर्शन-गुणद्वयं सिद्धात्मनः प्रकाशितं। यदुक्तम्-

विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते स्वोत्पन्नमात्यंतिकं
नाशोत्पत्तियुतं तथाप्यचलकं मुक्त्यार्थिनां मानसे।
एकीभूतमिदं वसत्यविरतिं संसारभारोज्झितं
शान्तं जीवघनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः॥

होकर मुक्त होता है तब उसकी शुद्ध पर्याय होती है और मनुष्यत्व तथा देवत्व आदि अशुद्ध पर्याय है। जीव के संयोग से पुद्‌गल में जो कर्म रूप परिणति होती है वह उसकी अशुद्ध पर्याय है तथा जीव के संयोग से रहित पुद्‌गल की जो द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्धरूप तथा स्निग्धता रूक्षता आदि के दो तीन आदि अविभाग प्रतिच्छेदों से युक्त रूप जो अवस्था है वह उसकी अशुद्ध पर्याय है। अथवा पुद्‌गल का जो परमाणु रूप परिणमन है वह उसकी शुद्ध पर्याय है और द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्ध रूप जो पर्याय है वह अशुद्ध पर्याय है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों की सदा शुद्ध पर्याय ही होती है। लोकाकाश तथा उसके अन्तर्गत घटाकाश, पटाकाश आदि आकाश द्रव्य की पर्याय है, और समय घड़ी आदि काल द्रव्य की पर्याय हैं। इन द्रव्य गुण तथा पर्यायों से युक्त संपूर्ण लोकालोक को सिद्ध भगवान् एक ही समय में जानते देखते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक ही समय में उत्पन्न होते हैं, उनमें काल भेद नहीं रहता, उसी प्रकार सिद्ध भगवान् की जानने-देखने रूप प्रवृत्ति एक ही समय में होती है। छद्मस्थ जीवों के '**दंसणपुव्वं णाणं**' इस वाक्य के अनुसार पहले दर्शन होता है, पीछे ज्ञान होता है परन्तु सर्वज्ञ-अरहन्त सिद्ध परमेष्ठी के दर्शन और ज्ञान युगपत् होते हैं। ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, रागादिक भाव कर्म और औदारिकादि शरीररूप नोकर्म से रहित होने के कारण सिद्ध भगवान् शुद्ध कहलाते हैं तथा चिदानन्द स्वरूप स्वभाव में स्थित होने के कारण स्वभावस्थ कहलाते हैं। यहाँ सिद्ध भगवान् के ज्ञान और दर्शन इन दो गुणों को प्रधान रूप से प्रकट किया गया है। जैसा कि कहा है-

विश्वं पश्यतीति-जो समस्त लोकालोक को देखता है, जानता है तथा अपने आप में उत्पन्न अविनाशी सुख को प्राप्त होता है, यद्यपि उत्पाद-व्यय से सहित है तो भी ध्रौव्यरूप है, सामान्य से एक रूप है, संसार के भार से रहित है, शान्त है, चैतन्यरूप है और अद्वितीय-अनुपम है। ऐसा

तथा ज्ञानादिगुणकथनेन ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मेति सांख्यमतं बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान् इति यौगमतं च प्रत्युक्तम् ॥८८॥

सिद्धात्मानन्तकालं यावदनन्तसुखमनुभवतीत्याह–

कालमणंतं जीवो अणुहवइ सहावसुक्खसम्भूइं।
इंदियविसयातीदं अणोवमं देहपरिमुक्को ॥८९॥

अणुहवइ अनुभवति। कोसौ? ज्ञानकमलाघनाश्लेषलालसः **सिद्धजीवः**। कां कर्मतामापन्नामनु–भवति। **सहायसुक्खसम्भूइं** स्वभावसुखसम्भूतिं स्वभावात् आत्मस्वभावात् यत् सम्भूतं सुखं अनन्तसुखं तस्य सम्भूतिर्विभूतिर्लक्ष्मीः स्वभावसुखसम्भूतिः तां स्वभावसुखसम्भूतिं। अथवा स्वभावतो निसर्गतो या सुखसम्भूतिः स्वभावसुखसम्भूतिस्तां। किं विशिष्टां? स्वभावसुखसम्भूतिं। **इन्दियविसयातीदं** इन्द्रियविषयातीतं इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि तेषां विषयाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदतीतं इन्द्रियविषयातीतं विषयविरहितामित्यर्थः। पुनः कथंभूतां? अनुपमां उपमारहितां। **कथं** यावदनुभवति। **कालमणंतं**

मुक्तात्मा रूप तेज मोक्षाभिलाषी जीवों के मन में निरन्तर निवास करता है अर्थात् मोक्षाभिलाषी जीव सदा उसका ध्यान करते हैं।

यहाँ सिद्ध भगवान् के ज्ञानादिगुणों के कथन से मोक्ष में आत्मा ज्ञानशून्य चैतन्यमात्र रह जाती है, इस सांख्यमत का तथा मोक्ष में आत्मा के बुद्धि आदि गुणों का उच्छेद हो जाता है, इस योग मत का निराकरण किया गया है ॥८८॥

आगे सिद्ध भगवान् की आत्मा अनन्त काल तक अनन्त सुख का अनुभव करती है यह कहते हैं–

कालमणंतं इति–गाथार्थ–(देहपरिमुक्को) शरीर से रहित **(जीवो)** सिद्धात्मा **(अणंतं कालं)** अनन्त काल तक **(इंदिय विसयातीदं)** इन्द्रिय के विषयों से रहित और **(अणोवमं)** अनुपम **(सहाव सुक्खसंभूइं)** स्वभाविक सुख की विभूति का **(अणुहवइ)** अनुभव करते हैं ॥८९॥

टीका–औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण इन पाँच प्रकार के शरीरों से रहित सिद्ध भगवान् अनन्तकाल तक उस स्वाभाविक सुखरूप समीचीन भूति–लक्ष्मी का उपभोग करते रहते हैं जो इन्द्रियों के विषयों से अतीत है तथा अनुपम है। संसारी जीव इन्द्रिय विषयों से उत्पन्न सुखाभास का अनुभव करते हैं इसलिए उनकी दृष्टि में सिद्धों के स्वाभाविक सुख का अनुभव नहीं होता। संसारी जीव विषय सामग्री जुटा कर विषयेच्छा से उत्पन्न होने वाली आकुलता को कुछ देर के लिए शान्त कर क्षणिक आनन्द का अनुभव करते हैं परन्तु सिद्ध भगवान् को कभी विषयेच्छा से उत्पन्न होने वाली आकुलता नहीं होती। इसलिए उस आकुलता को दूर करने के लिए उन्हें विषय सामग्री की आवश्यकता नहीं रहती। उनका वह सुख स्वभाव जन्य है तथा उपमा से रहित है। ऐसे सुख का उपभोग

अनन्तकालपर्यंतमित्यर्थः। कीदृशः सिद्धः? **देहपरिमुक्को** देहपरिमुक्ता देहा औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजसकार्मणानि शरीराणि तैः परिमुक्त रहितः देहपरिमुक्तः आत्मोत्थसुखाम्बुधिगताः सिद्धाः सदैव तृप्ता लोकाग्रनिवासिनस्तिष्ठन्ति। यदुक्तम्-

येषां कर्मनिदानजन्मविविधक्षुत्तृणमुखा व्याधय,
स्तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छांतये युज्यते।
सिद्धानां तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभि,
र्नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम्॥

इति सिद्धगतिसाधिकामाराधनां विज्ञाय क्षपकस्त्रिगुप्तिगुप्तो भूत्वा आराधयतु सावधानतयेति निदर्शयति-

इय एवं णाऊणं आराहउ पवयणस्स जं सारं।
आराहणचउखंधं खवओ संसारमोक्खट्ठं ॥९०॥

आराहउ आराधयतु। कोऽसौ? **खवओ** क्षपकः। किमाराधयतु? **आराहणचउखंधं** चतुर्णां स्कंधानां समाहारश्चतुःस्कन्धं दर्शनज्ञानचारित्रतपो-लक्षणं आराधनायाश्चतुःस्कंधं आराधनाचतुःस्कंधं। किंकृत्वा आराध्नोतु? **इय एवं णाऊणं** इत्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण आराधनाधीनान्तःकरणः प्राणी आराधनाप्रवहणेन

वे अनन्तानन्त काल तक करते रहते हैं तथा आत्माजन्य सुख रूपी सागर में निमग्न रहने वाले सिद्ध भगवान् सदा सन्तुष्ट रहते हुए लोकाग्र भाग पर निवास करते हैं। जैसा कि कहा गया है-

येषामिति—जिन जीवों के कर्म निमित्त से होने वाले नाना प्रकार के भूख प्यास आदि रोग हैं, उन जीवों का उन रोगों की शान्ति के लिए अन्न जल आदिक औषधसमूह का एकत्रित करना ठीक है परन्तु सिद्ध भगवान् के न कर्म हैं और न उनके द्वारा किए हुए रोग हैं, अतः उन्हें अन्न आदि से क्या प्रयोजन है ? वे तो नित्य तथा आत्मा से उत्पन्न होने वाले सुखरूपी अमृत के सागर में निमग्न हो सदा तृप्त ही रहते हैं ॥८९॥

आगे आराधना से सिद्ध गति की प्राप्ति होती है ऐसा जानकर क्षपक तीन गुप्तियों से सुरक्षित होता हुआ सावधानी पूर्वक आराधना करे यह कहते हैं-

इय एवं—गाथार्थ—(इय एवं णाऊण) इसे इस तरह जान कर **(खवओ)** क्षपक **(संसार-मोक्खट्ठं)** संसार से मोक्ष प्राप्त करने के लिए **(जं पवयणस्स सारं)** जो आगम का सार है **(तं)** उस **(आराहणचउखंधं)** आराधना चतुष्टय की **(आराहऊ)** आराधना करे ॥९०॥

टीका—यह संसार एक समुद्र के समान है क्योंकि यह समुद्र के समान ही नाना प्रकार के दुःख समूहरूपी जल के पूर से भरा हुआ है। दुःख दायक दुर्गतिरूपी बड़वानल की चंचल ज्वालाओं के समूह से भयंकर है, नाना प्रकार के कठिन रोगरूपी मगरों के समूह से इसका मध्य भाग व्याप्त है, इसका विशालतल क्रोधरूपी बड़े-बड़े वृक्षों से व्याप्त है, यह अत्यन्त क्रूर अहंकाररूपी नाकों के

विविधतरदु:खभरवारिपूरपूर्णं दुरंतदुर्गति-वडवानलवातुलज्वाला-जालकरालं विविधदु:साध्यव्याधि-मकराकीर्णमध्यं विकटक्रोधविटपिव्याप्त-विपुलपुलिनं निष्ठुरतराहंकारनक्रचक्रोच्छलभीषणं मायामीनादि-कुलाकुलं समुल्लसल्लोभशैवालसमन्वितं संसारसमुद्रमलब्धमध्यमुत्तीर्य मोक्षपुराविनश्वर-सुखमाराधना-फलभूतमवाप्नोतीति। विज्ञाय कथंभूतं यत् आराधनाचतु:स्कन्धं-**पवयणस्स जं सारं** प्रवचनस्य आगमस्य सिद्धांतस्य द्वादशांगभेदभिन्नस्य **श्रुतस्य** यत् सारं रहस्यभूतं। किमर्थमाराधयतु? **संसारमोक्खट्ठं** पञ्च-प्रकारसंसारमोक्षार्थं भवविनाशार्थमिति ॥९०॥

यैर्मोक्षलक्षणोऽर्थः स्वसात्कृतस्तत्प्रशंसामाह-

धण्णा ते भयवंता अवसाणे सव्वसङ्गपरिचाए[1]।
काऊण उत्तमट्ठं सुसाहियं णाणवंतेहिं ॥९१॥

णाणवंतेहिं यैः ज्ञानवद्भिः ज्ञानं विद्यते येषां ते ज्ञानवंतः तैः ज्ञानवद्भिः विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभा-वपरमात्मज्ञानसंपन्नैः परात्मज्ञानिनश्च संसारे त्रिचतुराः सन्ति। यदुक्तम्-

---

समूह की उछलकूद से भयंकर है, मायारूपी मच्छ आदि जलचर जीवों के समूह से भरा हुआ है, ऊपर को उभरती हुई लोभरूपी शैवाल से सहित है तथा इसका किनारा प्राप्त नहीं हो रहा है ऐसे इस संसाररूपी समुद्र को, आराधनारूपी श्रेष्ठ नाव के द्वारा पार कर क्षपक प्राणी आराधना के फल स्वरूप मोक्ष नगर के अविनाशी सुख को प्राप्त होता है ऐसा जान कर पंच परावर्तनरूप संसार से छुटकारा प्राप्त करने के लिए क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं की अच्छी तरह आराधना करे क्योंकि यह आराधनाएँ द्वादशांग भेदों में विभक्त आगम की सारभूत हैं ॥९०॥

आगे जिन्होंने मोक्षरूपी प्रयोजन को अपने आधीन कर लिया है उनकी प्रशंसा करते हुए आचार्य कहते हैं-

धण्णा ते इति—गाथार्थ—(जेहि) जिन **(णाणवंतेहिं)** ज्ञानवान जीवों ने **(अवसाणे)** जीवन के अन्त में **(सव्वसंगपरिचाए)** समस्त परिग्रह का त्याग **(काऊण)** कर **(उत्तमट्ठं)** मोक्ष अथवा समाधिमरण को **(सुसाहियं)** अच्छी तरह सिद्ध कर लिया है **(ते)** वे **(धण्णा)** धन्य और **(भयवंता)** भगवान् जगत्पूज्य हैं ॥९१॥

टीका—ज्ञानवान् का अर्थ विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव से सम्पन्न परमात्मा के ज्ञान से युक्त होता है। उत्कृष्ट आत्मज्ञानी मनुष्य संसार में तीन चार ही हैं अर्थात् अत्यन्त अल्प हैं। जैसा कि कहा गया है-

---

१. चायं ग०।

[1]विद्यन्ते कति नात्मबोधविमुखाः सन्देहिनो देहिनः,
प्राप्यन्ते कतिचित्कदाचन पुनर्जिज्ञासमानाः क्वचित्।
आत्मज्ञाः परमात्ममोदसुखिनः प्रोन्मीलदन्तर्दृशो,
द्वित्राः स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पञ्चषड् दुर्लभाः॥

इति यैर्ज्ञानवद्भिः। किं कृतं? **सुसाहियं** सुसाधितं स्वात्मसात्कृतं। किं तत्? **उत्तमट्ठं** उत्तमार्थं मोक्षलक्षणपदार्थः। किंकृत्वा? **काऊण** कृत्वा। किं? **सव्वसङ्गपरिचाए** सर्वसङ्गपरित्यागं सर्वः स चासौ सङ्गश्च सर्वसङ्गः बाह्याभ्यंतरपरिग्रहलक्षणस्तस्य परित्यागस्तं सर्वसङ्गपरित्यागं विधाय। कदा। **अवसाणे** अवसाने आयुःप्रान्ते अथवा अवसानमित्युपलक्षणं तेन बालकावस्थायां तरुणावस्थायां वृद्धावस्थायामपि सर्वसङ्गपरित्यागं विधाय उत्तमार्थः साधितः। सर्वसङ्ग-परित्यागश्चानया रीत्या कृतः पुरातनैराधुनिकैश्च कर्तव्य इति तद्रीतिमाह। उक्तं च-

स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षांत्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥

विद्यन्ते कतीति—आत्मज्ञान से विमुख तथा संदेह से युक्त प्राणी संसार में कितने नहीं है अर्थात् बहुत हैं। कभी कभी जानने की इच्छा रखने वाले भी कुछ पुरुष कहीं पर पाये जाते हैं। परन्तु परमात्म सुख से सुखी तथा जिनकी अन्तर्दृष्टि खुली हुई है ऐसे आत्मज्ञ मनुष्य दो तीन ही हैं, अधिक यदि हों तो तीन चार हो सकते हैं, पाँच छह तो दुर्लभ ही हैं।

अवसान का अर्थ आयु का अन्त भाग है अथवा अवसान शब्द उपलक्षण है इसलिए बालक अवस्था, तरुण अवस्था और वृद्धावस्था में भी सर्व संग का त्याग कर उत्तमार्थ-मोक्ष अथवा संन्यास को सिद्ध किया जाता है। सर्व संग का अर्थ बाह्य और अभ्यन्तर-दोनों प्रकार का परिग्रह है। सर्व संग का त्याग पूर्व पुरुषों के द्वारा किस प्रकार किया गया तथा आधुनिक पुरुषों के द्वारा किस प्रकार किया जाता है उसकी रीति कहते हैं। जैसा कि कहा है-

स्नेहमिति—सल्लेखना को धारण करने वाला मनुष्य शुद्ध चित्त होता हुआ स्नेह, वैर, संघ और परिग्रह को छोड़कर स्वजन तथा परिजन को भी क्षमा करे और प्रिय वचनों द्वारा उनसे क्षमा करावे।

आलोच्य—कृत, कारित तथा अनुमत-सभी पापों की निश्चल भाव से आलोचना कर मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले सम्पूर्ण महाव्रतों को धारण करे।

---

१. ज्ञानार्णवे शुभचन्द्रस्य, रत्नकरण्डक श्रावकाचार आचार्यसमन्तभद्रस्य श्लोक १२४-१२५

आलोचनाविधिश्चायं–

[1] **कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।**
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलंबे॥
मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥
मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्मसकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्मसमस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥

उपजाति छन्दः

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे॥

आर्या छन्दः

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्॥

आलोचना की विधि यह है **कृतकारितेति**—कृत, कारित, अनुमोदना तथा मन वचन काय के द्वारा किए हुए त्रिकाल विषयक समस्त कर्मों का परित्याग कर मैं परम निष्कर्मावस्था का आश्रय लेता हूँ।

मोहादिति—मोहवश भूतकाल में मैंने जो कर्म किया था उस सब का प्रतिकमण कर मैं कर्म रहित तथा चैतन्य स्वरूप आत्मा में निरन्तर स्थिर रहता हूँ।

मोहविलासेति—मोह की चेष्टा से वृद्धि को प्राप्त होते हुए तथा वर्तमान में उदय आने वाले समस्त कर्मों की आलोचना कर मैं कर्म रहित तथा चैतन्य स्वरूप आत्मा में निरन्तर स्थिर रहता हूँ।

प्रत्याख्यायेति—संमोह को दूर कर मैं आगे होने वाले समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान कर कर्म रहित तथा चैतन्य स्वरूप आत्मा में निरन्तर स्थित रहता हूँ।

समस्तमिति—इस प्रकार प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान के द्वारा तीन काल सम्बन्धी समस्त कर्मों को दूर हटा कर शुद्धनय का अवलम्बन लेता हुआ मैं मोह रहित हो रागादि विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन लेता हूँ।

विगलन्त्विति—मेरे कर्मरूपी विष वृक्ष के फल भोग के बिना ही विगलित हो जावें झड़ जावें। मैं तो अविनाशी तथा चैतन्यस्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ।

---

[1] नाटक समयसार कलशेऽमृतचन्द्रस्य श्लोक २२४-२२९

इति। तदनु–

[1]शोकं भयमवसादं क्लेशं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन॥

एवमुत्तमा गतिः साधिता ते कीदृशा इत्याह? **धण्णा ते भयवंता** धन्यास्ते भगवंतः ते पुरुषाः क्षपकाः धन्याः कृतपुण्याः तथा भगवन्तः जगत्पूज्या इत्यर्थः ॥९१॥

तीव्रवेदनाभिभूतः क्षपकः खल्वनयोक्त्या प्रोत्साह्यत इति शिक्षां प्रयच्छन्नाह–

धण्णोसि तुमं सुज्जस लहिऊणं माणुसं भवं सारं।
कयसंजमेण लद्धं सण्णासे उत्तमं मरणं ॥९२॥

इस प्रकार आलोचना के अनन्तर क्षपक को क्या करना चाहिए यह बताते हैं–

शोकंभयमिति–शोक, भय, खेद, क्लेश, कालुष्य और अरति को भी छोड़कर धैर्य तथा उत्साह को प्रकट कर शास्त्र रूपी अमृत के द्वारा चित्त प्रसन्न करना चाहिए।

आहारं–फिर क्रम से आहार छोड़कर दूध आदि स्निग्ध पेय पदार्थों को बढ़ाना चाहिए। उसके बाद स्निग्ध पदार्थों को भी छोड़कर क्रम से गर्म पानी लेना चाहिए।

खरपान–फिर गर्म पानी को भी छोड़कर शक्ति के अनुसार उपवास ग्रहण कर पञ्चनमस्कार मन्त्र में मन लगाता हुआ पूर्ण सावधानी से शरीर का परित्याग करना चाहिए। धन्य का अर्थ पुण्यशाली और भगवंत का अर्थ जगत्पूज्य है। इस प्रकार गाथा का समुदायार्थ यह है कि जिन ज्ञानवंत जीवों ने आयु के अन्त में सर्व परिग्रह का त्याग कर उत्तमार्थ–संन्यास को अच्छी तरह सिद्ध किया है, वे पुरुष पुण्यशाली तथा जगत्पूज्य हैं ॥९१॥

आगे तीव्र वेदना से पीड़ित क्षपक को इस उक्ति से उत्साहित करना चाहिए यह शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं–

धण्णोसीति–गाथार्थ–(सुज्जस) हे निर्मल यश के धारक! **(सारं)** श्रेष्ठ **(माणुसं भवं)** मनुष्य भव को **(लहिऊणं)** प्राप्त कर **(कयसंजमेण)** संयम धारण करते हुए तुमने **(सण्णासे)** संन्यास में **(उत्तमं मरणं)** उत्तम मरण **(लद्धं)** प्राप्त किया है इसलिए **(तुमं)** तुम **(धण्णोसि)** धन्य हो पुण्यशाली हो ॥९२॥

---

१. रत्नकरण्डक श्रावकाचार समन्तभद्रस्य श्लोक १२६–१२८

भो **सुज्जस** शोभनं राकाशशांकधवलं यशो यस्य स सद्यशाः तस्य सम्बोधनं क्रियते भो सद्यशः भो क्षपक भो पुरुषोत्तम! त्वं धन्योसि कृतपुण्योसि कृतकृत्योसि येन त्वया संन्यासे संन्यसनं संन्यासस्तस्मिन् संन्यासे संन्यासमाश्रित्य उत्तमं मरणं उत्तमानां पञ्चविधमरणानामन्यतमं यत्त्वया लब्धं प्राप्तं। किं कृत्वा पूर्वं? **लहिऊणं माणुसं भवं सारं** मानुष्यं भवं नृभवांतरं सारं समस्तभवान्तरेषु सारभूतं लब्ध्वा संप्राप्य यो नृत्वं दु:प्राप्यं प्राप्य गृहिधर्ममाचरति स धन्यः।

यः पुनः स्वात्माराधनपूर्वकं तपस्तपति तस्य पुनः किं वाच्यम्। यदुक्तम्–

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो,
वैराग्यं च करोति यः शुचितपो लोके स एकः कृती।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानं समाधीयते,
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयोहैमेतदारोपितः॥

कथंभूतेन त्वया। **कयसंजमेण** संयमनं संयमः कृतः संयम इन्द्रियमनःसंयमनं येन स कृत-संयमनस्तेन कृतसंयमनेन संयमं प्रतिपाल्य यत्त्वमेतादृशं संन्यासोत्तममरणमाप्तवानसि तत्त्वं धन्यतमोसि ॥९२॥

टीका—वेदना की तीव्रता से यदि कभी क्षपक का मन अनुत्साहित होता हो तो उसे इस रीति से समझाकर उत्साहित करना चाहिए।

हे क्षपक! तुम पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश के धारक हो, तुमने कभी भी ऐसा कार्य नहीं किया जिससे तुम्हारे यश में कलंक लगा हो। मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य भव में ही होती है। इसलिए यह मनुष्य भव सब भवों में सार पूर्ण है। इसे प्राप्त कर तुमने संयम धारण किया तथा संन्यास धारण कर तुमने उत्तम मरण प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त किया है इसलिए तुम धन्य हो, मनुष्य भव का कार्य कर तुम कृतकृत्य हो रहे हो, बड़े पुण्यशाली हो, पुण्योदय के बिना ऐसा अवसर प्राप्त नहीं होगा। मरण के तो वैसे सत्रह भेद हैं पर उनमें पाँच प्रकार के संन्यास मरण उत्तम मरण कहलाते हैं।

पाँच प्रकार के संन्यास मरण ये हैं–१. बाल-बालमरण, २. बालमरण, ३. बालपण्डितमरण, ४. पण्डितमरण, ५. पण्डित-पण्डितमरण। पण्डितमरण के ३ भेद हैं–१. भक्त प्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण ३. प्रायोपगमन मरण; ये तीन मरण मुनियों के होते हैं। पण्डित-पण्डितमरण केवली भगवान का होता है। इन मरणों में से तुमने योग्यतानुसार उत्तममरण को स्वीकृत किया है। दुर्लभ मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर जो गृहस्थ धर्म का आचरण करता है वह धन्य है, फिर जो स्वकीय शुद्ध आत्मा की आराधना पूर्वक तपश्चरण करता है उसका तो कहना ही क्या है? जैसा कि कहा गया है–

लब्ध्वेति—निर्मल कुल में जन्म तथा संयम धारण करने के योग्य उत्तम शरीर प्राप्त कर, शास्त्र को जानता हुआ जो पुण्योदय से वैराग्य धारण करता है एवं निर्दोष तपश्चरण करता है, संसार में वही एक कृतकृत्य अथवा पुण्यशाली है। यदि वह पुरुष सब प्रकार के गारवों-अहंकारों का त्याग कर ध्यान धारण करता है तो समझना चाहिए कि उसने सुवर्णमय महल पर मणिमय कलश चढ़ाया है ॥९२॥

मनःकायोद्भवं दुःखं क्षपकस्यावश्यं जायत इति विवृणोति–

किसिए तणुसंघाए चिट्ठारहियस्स विगयधामस्स।
खवयस्स हवइ दुक्खं तक्काले कायमणुहूयं ॥९३॥

हवइ भवति। किं तत्? **दुक्खं** दुःखं। कस्य भवति? **खवयस्स** क्षपकस्य स्वकृतसंन्यासस्य। कीदृशं दुःखं? **कायमणुहूयं** कायः शरीरं मनश्चित्तं कायश्च मनश्च कायमनसी ताभ्यां सकाशादुद्भूतं तत् कायमनउद्भूतं। तत्र कायजं दुःखं शिरःकर्णनेत्रतीव्रतरवेदनाज्वरावेश–दाहाद्यनेक–प्रकारं, मनःसंभवं दुःखं च एतद्गृहमिमे दारा एते बांधवा इयं कमला मम पुनःक्वेत्यादि संकल्पविकल्परूपं। कदा भवति दुःखं? **किसिए तणुसंघाए** कृषिते तनुसंघाते तनोः शरीरस्य संघातः परमाणुसंचयरूपो हस्तपादाद्यंगुल्यवयवरूपो वा तनुसंघातस्तस्मिन् तनुसंघाते लंघनवशादथवा तीव्रवेदनावशात् कृशतां क्षीणतां गते सति। कीदृशस्य क्षपकस्य? **विगयधामस्स** विगतबलस्य अत एव **चिट्ठारहियस्स** चेष्टारहितस्य चलनबलनादिका चेष्टा तया रहितस्य चेष्टाविवर्जितस्य। कदा। तक्काले तत्काले संन्यास समये ततः क्षपकेण संविशुद्ध–परमात्मभावनाबलेन वाग्मनःकायादिकं कर्म च स्वात्मस्वरूपात् पृथक् दृष्टव्यं तेन च दुःखोपशांतिर्भवति। यदुक्तम्–

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोखिलं पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।
तत्कृतापि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥९३॥

आगे क्षपक को मन और शरीर सम्बन्धी दुःख अवश्य होता है। यह कहते हैं–

किसिए इति—गाथार्थ—(तक्काले) संन्यास के समय **(तणुसंघाए)** शरीर का संघटन **(किसिए)** कृश होने पर **(विगय धामस्स)** निर्बल एवं **(चिट्ठा रहियस्स)** चेष्टा रहित **(खवयस्स)** क्षपक को **(कायमणु हूयं)** काय और वचन से उत्पन्न होने वाला **(दुक्खं)** दुःख **(हवइ)** होता है ॥९३॥

टीका—संन्यास के समय उपवास आदि के कारण क्षपक के शरीर सम्बन्धी परमाणुओं का संचय अथवा हाथ पाँव आदि अवयवों का समूह जब कृश हो जाता है तब उसका शारीरिक बल कम हो जाता है तथा उठने, बैठने, चलने या करवट बदलने आदि की चेष्टाएँ नष्ट हो जाती हैं उस समय उसे शिर, कान और नेत्रों में तीव्र वेदना तथा ज्वर की अधिकता से दाह आदि अनेक प्रकार का शारीरिक दुःख होता है। इसी प्रकार यह घर, ये स्त्रियाँ, ये भाई और यह लक्ष्मी मुझे फिर कहाँ रखी इस प्रकार के संकल्प रूप मानसिक दुःख होता है इसलिए क्षपक को अत्यन्त शुद्ध परमात्मा की भावना के बल से वचन, मन तथा काय आदि को तथा उनकी क्रियाओं को स्वात्म स्वरूप से भिन्न देखना चाहिए। ऐसा करने से उसके दुःख की शान्ति होती है। जैसा कि कहा है–

कर्मभिन्नमिति—यद्यपि सुख दुःख की कल्पना कर्मकृत है–कर्म द्वारा की गई है फिर भी जो निर्मल ज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा कर्म को निरन्तर अपने आप से भिन्न देखता है ऐसे परमार्थ के ज्ञाता योगी के वह कल्पना नहीं होती ॥९३॥

कठिनतरसंस्तरशयनदोषेण यदि दुःखमुपजायते तदा समभावेन सहस्वेति शिक्षां ददन्नाह–

जइ उप्पज्जइ दुक्खं कक्कससंथारगहणदोसेण।
खीणसरीरस्स तुमं सहतं समभावसंजुत्तो ॥९४॥

जइ उपज्जइ यदि उत्पद्यते संजायते। किं तत्? **दुक्खं** दुःखं कस्य? तव। केन। **कक्कससंथार-गहणदोसेण** कर्कशसंस्तरस्य ग्रहणं स्वीकरणं कर्कशसंस्तरग्रहणं तदेव दोषस्तेन वा दोषः कर्कश-संस्तरग्रहणदोषः तेन कर्कशसंस्तरग्रहणदोषेण। कथंभूतस्य तव। क्षुत्तृड्जनिततीव्रतरपीडा–वशात् क्षीणं सामर्थ्यविरहितशरीरं यस्य स क्षीणशरीरस्तस्य क्षीणशरीरस्य दुर्बलीभूतकायस्य। **तुमं सहतं** त्वं तद्दुःखं सहस्व। कीदृशस्त्वं? **समभावसंजुत्तो** समभावसंयुक्तः समः अहौ हारे मित्रे शत्रौ तृणे स्त्रैणे समाना यो भावः परिणामः समभावस्तेन युक्तः समभावसंयुक्तः यतो मणौ लोष्टे समभावपरिणतो सूरिरात्मानमेव पश्यति। यदुक्तम्–

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्संसृतेः कारणं
का बाह्यार्थकथा प्रथीयसि तपस्याराध्यमानेपि च।
तद्वास्यां हरिचंदनेऽपि च समः संश्लिष्टतोऽप्यंगतो
भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्त्रं मुनिः॥

आगे अत्यन्त कठोर सांथरे पर शयन करने से यदि दुःख उत्पन्न होता है तो उसे समभाव से सहन करो ऐसी शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं–

जइ उप्पज्जइ इति–गाथार्थ–हे क्षपक! **(खीण सरीरस्स)** क्षीण शरीर को धारण करने वाले तुम्हें **(जइ)** यदि **(कक्कस संथार गहण दोसेण)** कठोर सांथरे के ग्रहणरूप दोष से **(दुक्खं)** दुःख **(उप्पज्जइ)** उत्पन्न होता है तो **(तुमं)** तुम उसे **(समभाव संजुत्तो)** समभाव से युक्त होकर **(सहतं)** सहन करो ॥९४॥

टीका–हे क्षपक! क्षुधातृषा से उत्पन्न अत्यन्त तीव्र वेदना के कारण तेरा शरीर क्षीण हो गया है। अत्यन्त दुर्बल हो गया है। इस दशा में कठोर सांथरे पर शयन करने से तुझे यदि कुछ दुःख होता है तो उसे समभाव से युक्त होकर सहन करो। साँप–हार, मित्र–शत्रु, तृण तथा स्त्री समूह में जो मध्यस्थ भाव है उसे समभाव कहते हैं जो मुनि, मणि और मिट्टी के ढेले में साम्यभाव से युक्त होते हैं वे सदा आत्मा को ही देखते हैं। जैसा कि कहा है–

एकस्यापीति–बहुत भारी तप की आराधना होने पर भी एक अपने शरीर के साथ जो ममत्व भाव है वह भी संसार का कारण होता है फिर बाह्य पदार्थों की तो कथा ही क्या है? इसलिए वसूला और चन्दन में समभाव को धारण करने वाला मुनि, अपने आप में स्थित तथा निरन्तर सम्बन्ध को प्राप्त शरीर से भिन्न एक आत्मा का ही निरन्तर स्वयं अवलोकन करते हैं।

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथवा,
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमहो सौधमथवा।
स्तुतिर्वा निंदा वा मरणमथवा जीवितमथ
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम्॥

यावत्परीषहान् सहमानः संस्तरे वससि तावदात्मज्ञानपरिणतस्त्वं कर्माणि क्षपयसीति क्षपक-मुत्साहयन्नाह–

तं सुगहियसण्णासे जावक्कालं तु वससि संथारे।
तण्हाइदुक्खतत्तो णियकम्मं ताव णिज्जरसि॥९५॥

भो क्षपक! **जावक्कालं तु वससि तं** त्वं यावत्कालं यावन्तं कालं वससि निवासं करोषि। क्व? **संथारे** संस्तरे। तावत् किं करोषीत्याह? **तावणिज्जरसि** तावन्निर्जरयसि। किं तत्? **णियकम्मं** निजकर्म बहुभवान्तरोपार्जितकर्मसन्तानं अवश्यमयमात्मा परात्मध्यानज्वलनज्वालाजाले-निर्दहन्-मनाः क्षणादेव विविधानां कर्मणां निर्जरामारचयति न पुनरात्मज्ञानविहीनः। यदुक्तम्–

भावार्थ–यद्यपि शरीर आत्मा के साथ संश्लिष्ट है–दूध पानी के समान एकीभाव को प्राप्त हो रहा है तो भी योगी उससे अपने आत्मा को भिन्न ही अनुभव करते हैं।

तृणंवेति–तृण हो चाहे रत्न, शत्रु हो चाहे मित्र, सुख हो चाहे दुःख, श्मशान हो चाहे महल, स्तुति हो चाहे निन्दा और मरण हो चाहे जीवन, दोनों ही शान्तचित्त के धारक मुनियों के समान हैं॥९४॥

आगे जब तक परीषहों को सहन करते हुए तुम सांथरे पर वास करते तब तक आत्म ज्ञान में लीन हो कर्मों का क्षय करते हो इस तरह क्षपक को उत्साहित करते हुए कहते हैं–

तं सुगहिय इति–गाथार्थ–हे क्षपक **(तं)** तुम **(सुगहिय सण्णासे)** संन्यास ग्रहण कर **(जावक्कालं)** जब तक **(संथारे वससि)** सांथरे पर निवास करते हो **(ताव)** तब तक **(तण्हाइदुक्ख तत्तो)** तृषा आदि के दुःख से संतप्त होते हुए **(णिय कम्मं)** अपने कर्म की **(णिज्जरसि)** निर्जरा करते हो॥९५॥

टीका–कठोर सांथरे पर शयन करने से जब क्षपक दुःखी दिखाई देता हो, तब उसे ऐसा उपदेश देना चाहिए कि हे क्षपक! संन्यास का नियम लेकर भूख-प्यास की बाधा से संतप्त होता हुआ तू जब तक सांथरे पर निवास कर रहा है तब तक तू अपने भव-भव के संचित कर्मों की निर्जरा कर रहा है। वास्तव में यह आत्मा ज्ञान से सहित होता है। तब किसी भी बाह्य कष्ट से सहित होने पर भी उत्कृष्ट आत्मध्यानरूपी अग्नि की ज्वालाओं के समूह से अनेक भवान्तरों में उपार्जित कर्मों को भस्म करता हुआ क्षण भर में अनेक कर्मों की निर्जरा कर लेता है किन्तु जो आत्मज्ञान से रहित है उसकी ऐसी सामर्थ्य नहीं रहती। जैसा कि कहा है–

अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति स्वं कर्म तस्माद्बहु,
स्वीकुर्वन् कृतसंवरः स्थिरमना ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात्।
तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोपि हि पदं नेष्टं तपःस्यन्दनः,
[१]नेयं तन्नयतिप्रभुं स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः॥

कीदृशः सन् कर्मनिर्जरां करोषि त्वमित्याह। **तण्हाइदुक्खतत्तो** तृष्णाक्षुद्दंशमशकादिभिर्यद्दुःखं दुस्सहतरयातना तृष्णादिदुःखं तेन तप्तः कदर्थितः तृष्णादिदुःखतप्तः। किमिति सर्वपरीषहान् सहमानः क्षपकः संस्तरमास्थितः। यस्मात् सुगृहीतसंन्यासः सु अतिशयेन गृहीतः संन्यासो-ऽन्नपानादिनिवृत्तिलक्षणो येन स सुगृहीतसंन्यासः गृहीतसंन्यासः स्वात्मभावनापरः तृष्णादिदुःखमनुभवन्नपि कर्मनिर्जरालक्षणं फलमवाप्नोतीत्य-सन्देहमिति ॥९५॥

यथा यथा तृष्णादिबाधा जायते क्षपकस्य तथा तां समभावनया सहमानस्य कर्मनिर्जरेव फलं भवतीत्याचष्टे-

जहं जहं पीडा जायइ भुक्खाइपरीसहेहिं देहस्स।
तहं तहं गलंति णूणं चिरभवबद्धाइं कम्माइं॥९६॥

अज्ञ इति—अज्ञानी जीव अपने जिन कर्मों को करोड़ों भवों में खिपाता है, संवर को स्वीकृत करने वाला अर्थात् तीन गुप्तियों से युक्त, स्थिर चित्त वाला ज्ञानी जीव उससे बहुत अधिक कर्मों को क्षण भर में खपा देता है सो ठीक ही है क्योंकि जो तपरूपी रथ तीक्ष्ण क्लेशरूपी घोड़ों से युक्त भी है किन्तु अत्यन्त स्पष्ट ज्ञानरूपी एक सारथी से रहित है तो वह इस संसार में ले जाने योग्य प्रभु को इष्ट स्थान तक नहीं ले जाता है।

हे क्षपक! तुमने संन्यास अच्छी तरह ग्रहण किया है इसलिए तृषा आदि परीषहों से संतप्त होने पर भी तुम दुःख का अनुभव न करो, अपना उपयोग अपने शुद्ध-बुद्ध स्वभाव के चिन्तन में लगाओ। ऐसा करने से तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के बंधे कर्म क्षण भर में खिर जावेंगे ॥९५॥

आगे क्षपक को जैसे जैसे तृषा आदि बाधा होती है वैसे वैसे उसे समभाव से सहन करते हुए उसके कर्म निर्जरारूप फल की प्राप्ति होती है। यह कहते हैं-

जहं जहं पीड़ा इति—गाथार्थ—(जहं जहं) जिस जिस प्रकार **(भुक्खाइपरीसहेहिं)** क्षुधा आदि परीषहों के द्वारा **(देहस्स)** शरीर को **(पीडा)** तीव्रतर वेदना **(जायइ)** उत्पन्न होती है **(तहं तहं)** उसी उसी प्रकार क्षपक के **(चिरभवबद्धा)** चिरकाल से अनेक भवों में बंधे हुए **(कम्माइं)** कर्म **(णूणं)** निश्चित ही **(गलंति)** गल जाते हैं नष्ट हो जाते हैं ॥९६॥

---

१. नीयंत नयत्तिप्रभुः (?) म०।

जहं जहं पीडा जायइ यथा यथा येन येन प्रकारेण पीडा तीव्रतरवेदना जायते। कस्य? देहस्य जीवाविष्टस्य शरीरस्य। कैः कृत्वा व्यथा जायते? **भुक्खाइपरीसहेहिं** क्षुत् आदिर्येषां शीतोष्ण-दंशमशकादीनां ते क्षुदादयः क्षुदादयश्च ते परीषहास्तैः क्षुदादिपरीषहैः तथा तथा कर्माणि विलीयन्ते इत्याह। **तहं तहं गलंति णूणं** तथा तथा गलन्ति तेन तेन प्रकारेण विलयं प्रपद्यंते नूनं। कानि? **कम्माइं** कर्माणि। कथंभूतानि कर्माणि। **चिरभवबद्धाइं** चिरभवबद्धानि अनेकभवान्तरोपार्जितानि। यद्यपि सिद्धान्ते तपसा **निर्जरेत्युक्तं** तथापि भेदविज्ञानमन्तरेण न कर्मनिर्जरा। ततः क्षपकेन तदेवाश्रयणीयं। यदुक्तम्-

''कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतोप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्।
भेदबोधदहने हृदि स्थिते योगिनो झटिति भस्मसाद्भवेत्॥''

अग्निसंसर्गाज्जलमिवाहं दुःखैस्तप्तोस्मीति क्षपकश्चिन्तयेदित्याह-

तत्तोहं तणुजोए दुक्खेहिं अणोवमेहिं तिव्वेहिं।
णरसुरणारयतिरिए जहा जलं अग्गिजोएण ॥९७॥

तत्तोहं तप्तोऽहं यद्यप्यहं शुद्धनिश्चयनयापेक्षया अनन्तज्ञानामृतवापीमध्यासीनः सदैवानंत-सुखस्वभावः

टीका—क्षपक को भूख-प्यास आदि परीषहों की वेदना होने पर उसे समझाया जाता है कि हे क्षपक, प्रथम तो यह भूख-प्यास आदि की बाधा तुझे है ही नहीं, यदि है भी तो तेरे शरीर को है। तेरा शरीर तुझसे भिन्न है, तू ज्ञानघन है और यह शरीर ज्ञान से अत्यन्त शून्य है, द्वितीय इस शरीर की बाधा भी निरर्थक नहीं है। ज्यों-ज्यों शरीर को बाधा होती है त्यों त्यों तेरे अनेक भवों में बंधे कर्म खिरते हैं इसलिए कर्म खिरने से तुझे प्रसन्नता होनी चाहिए न कि खेद। यद्यपि आगम में तपसे निर्जरा होती है ऐसा कहा है तो भी भेदज्ञान के बिना कर्मनिर्जरा नहीं होती। इसलिए उसी भेदज्ञान का आश्रय लेना चाहिए। जैसा कि कहा है-

कर्म शुष्केति—यदि निर्दोष समाधिरूपी वायु से उत्पन्न, भेदज्ञानरूपी अग्नि, योगी के हृदय में विद्यमान है तो उससे योगी की कर्मरूपी सूखे तृणों की राशि बहुत बड़ी होने पर भी शीघ्र ही भस्म हो जाती है ॥९६॥

आगे अग्नि के संसर्ग से जैसे जल संतप्त होता है उसी प्रकार मैं भी दुःखों से संतप्त हो रहा हूँ, ऐसा क्षपक को विचार करना चाहिए, यह कहते हैं-

तत्तोहं—इति—गाथार्थ—(अग्गि जोएण) अग्नि के योग से **(जलं जहा)** जल के समान **(अहं)** मैं **(तणुजोए)** शरीर का संयोग होने पर **(तिव्वेहिं)** तीव्र तथा **(अणोवमेहिं)** अनुपम **(दुक्खेहिं)** दुःखों के द्वारा **(णरसुरणारय तिरिए)** मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यन्च गति में **(तत्तो)** संतप्त हुआ हूँ ॥९७॥

टीका—तीव्र दुःखों की वेदना होने पर क्षपक को ऐसा विचार करना चाहिए कि जिस प्रकार

तथापि व्यवहारेण अहं तप्तोस्मि कदर्थितोस्मि। कैः? **दुक्खेहिं** दुःखैः। कीदृशैः? **अणोवमेहिं** अनुपमैः उपमारहितैः तथा **तिव्वेहिं** तीव्रैः दुस्सहतरैः। कदा। तनुयोगं वपुः संयोगं शरीरसंयोगमासाद्य दुःखपरंपरां परिगतोस्मीत्यर्थः। कस्मिन्? **णरसुरणारयतिरिए** नरश्च सुरश्च नारकश्च तिर्यङ् च नरसुरनारकतिर्यङ् 'द्वंद्वैकत्वमत्र' तस्मिन् नरसुरनारकतिरश्चि। तत्र मनुष्यगतौ इष्टवियोगानिष्ट-संयोगविपदागमाधिव्याधि-संभवैर्दुःखैरुपद्रुतः। देवगतौ इन्द्रादिविभूतिदर्शनसम्भूतैर्मानसैर्दुःखैः। नरकगतौ–

असुरोदीरियदुक्खं सारीरं माणसं तहा विविहं।
खितुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्णकयं च पंचविहं॥

इत्युक्तलक्षणैः पञ्चप्रकारदुखैः तिर्यग्गतौ अतिभारारोपणनासाछेदनभेदनविदारणक्षुत्तृष्णाजनितैरनेकविधैर्दुःखैस्तप्तो अयमात्मा। अमुमेवार्थं दृष्टांतेन व्यक्तीकरोति। **जहा जलं अग्गिजोएण** यथा जलं पानीयं शीतस्वभावमपि ज्वलनसंयोगेन तप्ती भवति तथाहमपीति विमृश्य। तथा–

[1]जानासि त्वं मम भव भवे यच्च यादृक् च दुःखं,
जातं यस्य स्मरणमपि मे शास्त्रवन्निष्पिनष्टि।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम्॥

जल स्वभाव से शीतल है परन्तु अग्नि के योग से वह संतप्त हो जाता है उसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मैं यद्यपि अनन्तज्ञानरूपी अमृत की वापी के मध्य बैठा हुआ सदा ही अनन्त सुख रूप स्वभाव से सम्पन्न हूँ तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा मैं शरीर का संयोग पाकर मनुष्य, देव, नारक और तिर्यञ्चगति में उपमा रहित तीव्र दुःखों से संतप्त हो रहा हूँ। मैं मनुष्य गति में इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, विपत्तियों की प्राप्ति, मानसिक व्यथा और शारीरिक पीड़ा से पीड़ित हुआ हूँ। देवगति में इन्द्रादि की विभूति देखने से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुःखों से दुःखी हुआ हूँ।

असुरोदीरिय—नरकगति में असुरकुमार देवों के द्वारा प्रकट कराया हुआ दुःख, शारीरिक दुःख, नाना प्रकार का मानसिक दुःख, पृथ्वी से होने वाला तीव्र दुःख और परस्पर में किया हुआ दुःख इस तरह पाँच प्रकार का दुःख होता है। इस गाथा में कहे हुए पाँच प्रकार के दुःखों से दुखी हुआ हूँ और तिर्यञ्चगति में अधिक भार लादना, नाक का छेदना, भेदना और विदारना तथा भूख प्यास से उत्पन्न नाना प्रकार के दुःखों से संतप्त हुआ हूँ। इस प्रकार व्यवहारनय से दुखी होने पर भी यदि मैं भगवान जिनेन्द्र की शरण में आ जाता हूँ तो मेरे वे सब दुःख नष्ट हो सकते हैं। ऐसा विचार कर हे क्षपक! तू जिनेन्द्रदेव की निम्न प्रकार से स्तुति कर उनकी शरण में जा।

जानासि इति—हे भगवान्! मुझे भव-भव में जो और जैसा दुःख प्राप्त हुआ है उसे आप

१. एकीभावस्तोत्रे वादिराजस्य मुनेः श्लोक ११

इति स्तुत्वा च देवं शरणं याया इति यावत् ॥९७॥

इति चिदानंदभावनापरिणतः स्वस्वभावास्तित्वं ध्रुवाणो ज्ञानामृते तत्सौख्यवान् भवतीत्याह–

ण गणेइ दुक्खसल्लं इयभावणभाविओ फुडं खवओ।
पडिवज्जइ ससहावं हवइ सुही णाणसुक्खेण ॥९८॥

ण गणेइ न गणयति। कोऽसौ? **खवओ** क्षपकः। किं न गणयति? **दुक्खसल्लं** दुःखशल्यं। कथं? **फुडं** स्फुटं प्रकटं। कीदृशः क्षपकः? **इयभावणभाविओ** इतिभावनाभावितः यदहमनादिकाले चतुर्गतिक्लेश–गर्तवर्तस्थपुटे पञ्चप्रकारे संसारे भ्रामं भ्रामं यानि दुस्सहानि दुःखान्यनुभूतवानस्मि तेभ्योऽमूनि क्षुत्तृट्प्रभवानि न किंचिदिव प्रतिभान्त्येवंरूपा भावना इतिभावना तया भावितः पुनः पुनः संस्कृतः इतिभावनाभावितः, अथवा मम जरामरणादिरहितस्य विशुद्धस्य निश्चयेन दुःखं नास्तीत्येवंरूपा भावना तया भावितः इतिभावनाभावितः क्षपकः। किं करोतीत्याह? **पडिवज्जइ** प्रतिपद्यते स्वीकरोति। कं? **ससहावं** स्वस्वभावं आत्मस्वभावम्। यदुक्तम्–

जानते हैं। ऐसा दुःख कि जिसका स्मरण भी मुझे होता है तो वह शस्त्र की तरह पीस डालता है। हे नाथ! आप सबके स्वामी हो और दयालु हो इसलिए भक्तिपूर्वक आपके पास आया हूँ। अब इस विषय में जो कुछ करने के योग्य हो उसमें आप ही प्रमाण हैं॥९७॥

आगे इस प्रकार चिदानन्द की भावना में परिणत, तथा स्व स्वभाव के अस्तित्व को ध्रुव करता हुआ क्षपक ज्ञान रूपी अमृत में सुखी होता है। यह कहते हैं–

ण गणेइ इति–गाथार्थ–(इयभावणभाविओ) इस प्रकार की भावना से ससुंस्कृत **(खवओ)** क्षपक **(फुडं)** स्पष्ट ही **(दुक्खसल्लं)** दुःखरूपी शल्य को **(ण गणेइ)** कुछ नहीं गिनता है **(ससहावं)** अपने स्वभाव को **(पडिवज्जइ)** प्राप्त होता है और **(णाणा सुक्खेण)** भेद ज्ञान जनित सुख से **(सुही)** सुखी **(हवइ)** होता है॥९८॥

टीका–क्षुधा आदि परीषहों का दुःख उत्पन्न होने पर क्षपक को विचार करना चाहिए कि चतुर्गति के क्लेशरूपी गड्ढों से ऊँचे नीचे पाँच प्रकार के संसार में घूम–घूमकर जो दुःसह दुःख मैने भोगे हैं उन दुःखों की अपेक्षा तो क्षुधा तृषा आदि से होने वाले ये दुःख कुछ भी नहीं जान पड़ते। अथवा ऐसा विचार करना चाहिए कि निश्चय नय से मैं जरामरण आदि से रहित विशुद्ध स्वभाव वाला हूँ मुझे क्षुधा–तृषा आदि का दुःख नहीं है। इस प्रकार की भावना से भावित–सुसंस्कृत क्षपक स्पष्ट ही दुःखरूपी शल्य को कुछ नहीं गिनता–पूर्वानुभूत दुःखों की अपेक्षा उसे वह अत्यन्त तुच्छ समझता है। स्वभाव को प्राप्त होता है तथा भेदज्ञानजन्य सुख से सुखी होता है। स्वभावस्थ होने की बड़ी महिमा है जैसा कि कहा गया है–

[१] इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलं बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति॥

आत्मस्वभावमास्थितः क्षपकः कीदृशो भवतीत्याह? **हवइ सुही णाणसुक्खेण** भवति। कीदृशो भवति। सुखी अनिर्वचनीयसुखसंपन्नः। केन कृत्वा? ज्ञानसौख्येन भेदज्ञानजनितविविधतराह्लादेन ॥९८॥

दुर्धरदुःखानि तृणाय मन्यमानः स्वात्मानमेवाराधयेति शिक्षां ददन्नाह–

भित्तूण रायदोसे छित्तूण य विसयसंभवे सुक्खे।
अगणंतो तणुदुक्खं [२]झायस्स णिजप्पयं खवया ॥९९॥

इत्यालोच्येति–जो पुरुष इस तरह पर और अपने भाव का निमित्त नैमित्तिकपना विचार कर उस समस्त परद्रव्य का बलपूर्वक त्याग करता है तथा पर द्रव्य मूलक इस नाना भावों की परिपाटी को एक साथ उखाड़ फेंकना चाहता है वह अतिशयरूप से बहने वाले पूर्ण एक संवेदनज्ञान से युक्त आत्मा को अच्छी तरह प्राप्त होता है जिससे कि कर्मबन्धन को मूल से उखाड़ देने वाला यह भगवान् आत्मा अपने आप में स्फुरायमान होने लगता है।

भावार्थ–आत्मा में जो रागादिक नाना विभाव भाव उत्पन्न हो रहे हैं उनका मूल–कारण पर द्रव्य है। अतः उन विभाव भावों को दूर करने का इच्छुक पुरुष बलपूर्वक समस्त पर द्रव्य का त्याग करता है। पर द्रव्य का त्याग हो जाने से उसके निमित्त से होने वाले रागादिक विभाव भाव स्वयं दूर हो जाते हैं और जब रागादिक विभाव भाव दूर हो जाते हैं तब आत्मा स्वभावभूत पूर्ण तथा एक अर्थात् केवलज्ञान से युक्त रह जाता है। उस दशा में इस जीव के समस्त कर्मों का बन्धन दूर हो जाता है और अनन्त ज्ञानादि ऐश्वर्य से युक्त आत्मा अपने आप में प्रकाश रूप हो उठता है ॥९८॥

आगे हे क्षपक! दुर्धर दुःखों को तृण जैसा मानता हुआ तू स्वकीय आत्मा का ही ध्यान कर ऐसी शिक्षा देते हुए कहते हैं–

भित्तूणेति–गाथार्थ–(खवया) हे क्षपक! तुम **(रायदोसे)** रागद्वेष को **(भित्तूण)** भेद कर **(य)** तथा **(विसयसंभवे)** विषयों से उत्पन्न होने वाले **(सुक्खे)** सुखों को **(छित्तूण)** छेद कर **(तणुदुक्खं)** शरीर के दुःख को **(अगणंतो)** कुछ नहीं गिनते हुए **(णिजप्पयं)** स्वकीय आत्मा का **(झायस्स)** ध्यान करो ॥९९॥

---

१. नाटक समयसारकलशेऽमृतचन्द्रस्य श्लोक १७८, २. झायसु णियअप्पयं ग०।

खवया भो क्षपक! **झायस्स** ध्यायस्व आराधय। कं? **णिजप्पयं** निजात्मानं चैतन्यस्वभावं यन्नाम्नैवायमात्मा सुखी भवति। यदुक्तम्–

नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्वते हि जगतां पतिं नरम्॥

किं कृत्वा? **भित्तूण रायदोसे** भित्वा रागद्वेषौ रागद्वेषविरहित एव स्वात्मानमनुभवति। यतः उक्तम्–

[१] **रायद्दोसादिहया डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।**
सो णियतच्चं पिच्छइ णउं पिच्छइ तस्स विवरीओ।

पुनः किं विधाय? **छित्तूण य विसयसंभवे सुक्खे** विषयेभ्यः संभव उत्पत्तिर्येषां तानि विषय-संभवसुखानि छित्वा मूलतः समुन्मूल्य। यदुक्तम्–

थक्के मणसंकप्पे रुध्दे अक्खाण विसयवावारे।
पयडइ बंभसरूवं अप्पाझाणेण जोईणं॥

पुनः किं कुर्वन् क्षपकः। **अगणंतो तणुदुक्खं** तनौ शरीरे यानि **दुःखानि** ज्वरावेशादीनि तानि अगणयन्। अनया भावनया निराकुर्वन्। तां भावनामाह–

टीका–यहाँ क्षपक को चैतन्य स्वभाव से युक्त निज आत्मा के ध्यान करने की बात कही गई है क्योंकि उसका नाम लेने से ही यह आत्मा सुखी हो जाता है। जैसा कि कहा है–

नाममात्रेति–उत्कृष्ट आत्मा के नाम मात्र की कथा से जब अनेक जन्मों में किए हुए पापों का क्षय हो जाता है तब उस उत्कृष्ट आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान, चारित्र और सम्यग्दर्शन इस मनुष्य को तीनों लोकों का स्वामी कर देते हैं इसमें आश्चर्य क्या है? निज आत्मा का ध्यान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि–रागद्वेष विद्यमान हैं इसलिए उन्हें छेदने के लिए क्षपक को उत्साहित किया है क्योंकि कहा है–

रायद्दोसादिहया–जिसका मनरूपी जल, राग-द्वेषादि द्वारा ताड़ित होकर हिलता नहीं है वही निज तत्त्व को स्वकीय शुद्ध आत्मा को देखता है उसका अनुभव करता है इसके विपरीत मनुष्य नहीं।

रागद्वेषादिक का अभाव तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इस जीव की विषय सम्बन्धी सुखों में प्रवृत्ति हो रही है इसलिए उन विषय सम्बन्धी सुखों को भी छेदने के लिए आचार्य क्षपक को उत्साहित करते हैं। जैसा कि कहा गया है–

थक्के इति–जब मन के संकल्प थक जाते हैं तथा विषयों का व्यापार रुक जाता है तब मुनियों के आत्म ध्यान से ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है।

विषयों का व्यापार तभी छूट सकता है जब यह जीव शरीर सम्बन्धी दुःखों की उपेक्षा कर उन्हें कुछ न गिने। इसलिए क्षपक को शरीर सम्बन्धी दुःखों को कुछ न गिनने की बात कही है जिस

---

१. रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्। स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्वं नेतरो जनः॥ समाधिशतके

[१] न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं [२]युवैतानि पुद्गले॥

ततो रागादीन् विभावान् मुक्त्वा अनन्तज्ञानस्वभावे स्वात्मनि निरतः क्षपकः सुखी भवतीति भावार्थः ॥९९॥

यावत्तपोऽग्निना न तप्तं चेतनं कार्तस्वरं तावत्कर्मकालिमा न मुच्यत इत्याह–

जाव ण तवग्गितक्कं सदेहमूसाइं णाणपवणेण।
ताव ण चत्तकलंकं जीवसुवण्णं खु णिव्वडइ ॥१००॥

ताव ण णिव्वडइ तावत्कालं तावन्तं कालं न निर्व्यक्तीभवति न कर्मकलंकात् पृथग्भूतं भवति इत्यर्थः। किं तत्? **जीवसुवण्णं** देदीप्यमानगुणत्वात् जीवसुवर्णं चिदानंदकार्तस्वरं। कथं? **खु** स्फुटं **जाव ण तवग्गितत्तं** यावत्कालं न तपोग्नितप्तं बाह्याभ्यन्तररूपं तप एव दुस्सहत्वादग्निस्तपोग्निस्तेन तप्तं मुहुर्मुहुरावर्तितं। कस्यामधिकरणभूतायां क्षिप्तं जीवसुवर्णं। **सदेहमूसाए** स्वदेहमूषायां स्वस्यात्मनो देहः स्वदेहः स्वदेह एव मूषा स्वदेहमूषा तस्यां स्वदेहमूषायां। केन करणभूतेन? **णाणपवणेण** ज्ञानपवनेन ज्ञानं

भावना से यह क्षपक शरीर सम्बन्धी दुःखों की उपेक्षा करता है वह भावना इस प्रकार है–

न मे मृत्यु रिति–मेरी मृत्यु नहीं होती फिर भय किससे ? मुझे रोग नहीं होता तब पीड़ा किससे? न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न जवान हूँ, यह सब पुद्गल में होते हैं। तात्पर्य यह है कि जो क्षपकरागादिक विभावों को छोड़ कर अनन्तज्ञान स्वभाव से युक्त स्वात्मा में लीन होता है वही सुखी होता है ॥९९॥

आगे आत्मारूपी सुवर्ण जब तक तप रूपी अग्नि में तपाया नहीं जाता तब तक कर्म रूपी कालिमा से नहीं छूटता यह कहते हैं–

जावण इति–गाथार्थ–(सु) निश्चय से **(जाव)** जब तक **(जीवसुवण्णं)** आत्मारूपी सुवर्ण **(सदेहमूसाइं)** अपने शरीररूपी सांचे के भीतर **(णाणपवणेण)** ज्ञानरूपी वायु द्वारा **(तवग्गितत्तं)** तपरूपी अग्नि से संतप्त **(ण)** नहीं होता **(ताव)** तब तक **(चत्तकलंकं)** कर्मरूपी कालिमा से रहित होकर **(ण णिव्वडइ)** नहीं निकलता ॥१००॥

टीका–यहाँ जीव में सुवर्ण का, ज्ञान में पवन का, स्वदेह में साँचे का, तप में अग्नि का और कर्म में कलंक का आरोप किया गया है। किट्ट–कालिमादि से मलिन सुवर्ण जब किसी सांचे (मूस) के भीतर रखकर वायु से प्रज्वलित अग्नि के द्वारा तपाया जाता है तब वह किट्ट–कालिमादि से पृथक् होकर जिस प्रकार शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार कर्म–कालिमा से मलिन यह जीवरूपी सुवर्ण स्वदेह रूपी साँचे के भीतर ज्ञानरूपी वायु से प्रज्वलित तपरूपी अग्नि के द्वारा जब तपाया जाता है

---

१. इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य, २. युवा चैतानि म०।

भेदज्ञानं तदेव पवनो वायुः तेन ज्ञानपवनेन करणभूतेन। कथंभूतं जीवसुवर्णं? **चत्तकलंकं** त्यक्तं कलंकं कर्मरूपं येन तत् त्यक्तकलंकं ज्ञानपवनेन भेदज्ञानपवनेन वर्धमानतेजसा तपोजातवेदसा तप्तं देहमूषायां स्थितं जीवसुवर्णं कर्मकालिमानमपहाय विशुद्धो भवतीत्यर्थः। यदुक्तम्–

तपोभिस्ताडिता एव जीवाः शिवसुखस्पृशः,
मुसलैः खलु सिद्ध्यन्ति तण्डुलास्ताडिता भृशम्।
तपः सर्वाक्षसारंगवशीकरणवागुरा,
कषायतापमृद्वीका कर्माजीर्णहरीतकी ॥१००॥

दुःखं देहस्य अहं च देहात्मको न भवामीति भावनया दुःखं सहस्वेति निर्दिशति–

णाहं देहो ण मणो ण तेण मे अत्थि इत्थ दुक्खाइं।
समभावणाइ जुत्तो विसहसु दुक्खं अहो खवय ॥१०१॥

विसहसु विशेषेण सहस्व। किं? **दुक्खं** दुःखं आधिव्याधिसमुद्भवं। किं विशिष्टः सन् सहस्व? **समभावणाइ जुत्तो** युक्तः संयुक्तः समभावनया। तामेव समभावनामाह। **णाहं देहो** अहं शुद्धद्रव्यार्थिक-नयापेक्षया विशुद्धचैतन्यात्मकः देहः काय औदारिकादिरूपो न भवामि। तथाहं शुद्धनिश्चयनयेन निर्विकल्प-स्वभावरूपो मनः संकल्परूपं चित्तं न भवामि यतो मनसः कायस्याप्यगोचरः। यदुक्तम्–

तब कर्म रूपी कालिमा को छोड़कर निश्चय से शुद्ध हो जाता है। जैसा कि कहा है–

तपोभिरिति–जीव तप के द्वारा ताड़ित होने पर ही मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं सो ठीक ही है क्योंकि निश्चय से मूसलों के द्वारा अत्यन्त ताड़ित होने पर ही चावल सीझते हैं।

तप इति–तप, समस्त इन्द्रियरूपी हरिणों को वश करने के लिए वागुरा–जाल है, कषाय रूपी गर्मी के लिए मुनक्का है और कर्मरूपी अजीर्ण के लिए हरड़ है ॥१००॥

आगे, दुःख शरीर को होता है और मैं शरीररूप नहीं हूँ, इस प्रकार की भावना से दुःख सहन करो ऐसा क्षपक के लिए उपदेश देते हैं–

णाहं इति–गाथार्थ–(अहं) मैं **(देहो ण)** शरीर नहीं हूँ **(मणो ण)** मन नहीं हूँ **(तेण)** इसलिए **(इत्थ दुक्खाइं)** शरीर और मन में होने वाले दुःख **(मेण अत्थि)** मेरे लिए नहीं होते **(समभावणाइ जुत्तो)** इस प्रकार की भावना से युक्त होते हुए **(अहो खवय)** हे क्षपक! तुम **(दुक्खं विसहसु)** दुःख सहन करो ॥१०१॥

टीका–आधि और व्याधि की अपेक्षा दुःख के दो भेद हैं। शारीरिक दुःख को व्याधि और मानसिक दुःख को आधि कहते हैं। शारीरिक और मानसिक दुःख उत्पन्न होने पर क्षपक उन्हें किस प्रकार सहे इसका उपाय इस गाथा में बताया गया है। क्षपक को विचार करना चाहिए कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मैं विशुद्ध चैतन्यरूप हूँ, औदारिकादि शरीररूप नहीं हूँ, इसी तरह शुद्ध निश्चयनय से मैं निर्विकल्प स्वभाव वाला हूँ, संकल्प–विकल्परूप जो मन है उस रूप मैं नहीं हूँ। जब शरीर

न विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरः।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वचसो जडात्मनः॥

तथाऽहमात्मा ईदृग्विधः–

[1]स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥

तेनैव प्रकारेण इत्थं एतस्मिन् काये व्यवहारनयापेक्षया वसतोपि मम निर्मलनिष्कलंकस्वभावस्य दुःखानि जन्मजरामरणरोगरूपाणि न सन्ति इति समभावनापरिणतः क्षपको व्याधिप्रतीकारचिंतनरूपेण आर्तध्यानेन न बाध्यत इति भावार्थः ॥१०१॥

शरीरे रागाद्युद्भवो न पुनर्मम अनन्तसुखसंपत्स्वभावस्य इति भावनापरः क्षपकोस्तीत्यादिशति–

ण य अत्थि कोवि वाही ण य मरणं अत्थि मे विसुद्धस्स।
वाही मरणं काए तम्हा दुक्खं ण मे अत्थि ॥१०२॥

और मन रूप मैं नहीं हूँ तब इनमें होने वाले दुःख मेरे कैसे हो सकते हैं ? मैं वास्तव में मन और शरीर का अविषय हूँ। इनसे भिन्न हूँ जैसा कि कहा गया है–

न विकल्पेति–यह विकल्प रहित चैतन्यस्वरूप वस्तु कर्मों से उत्पन्न होने वाले विकल्प रूप मन का भी जब कभी विषय नहीं होता तब जड़रूप वचन की तो कथा ही क्या है?

मेरा स्वरूप तो निम्न प्रकार है–

स्वसंवेदनेति–जो स्वसंवेदन से अत्यन्त प्रकट है, शरीर प्रमाण है, अविनाशी है, अत्यन्त सुख से युक्त है तथा लोक अलोक को देखने वाला है ऐसी आत्मा मैं हूँ।

यद्यपि मैं व्यवहारनय से इस शरीर में निवास करता हूँ तो भी मेरा स्वभाव निर्मल और निष्कलंक ही है इसलिए जन्म, जरा, मरण तथा अन्य रोगादिरूप दुःख मुझे नहीं हो सकते इस प्रकार की समभावना में लीन रहने वाला क्षपक, पीड़ा का प्रतिकार कैसे हो? इस प्रकार की चिंता रूप आर्तध्यान से पीड़ित नहीं होता ॥१०१॥

आगे रागादिक की उत्पत्ति शरीर में है, अनन्तसुखरूपी सम्पत्ति से युक्त मुझ में नहीं है, ऐसी भावना क्षपक को करनी चाहिए यह कहते हैं–

ण य अत्थि इति–गाथार्थ–(विसुद्धस्स) विशुद्ध स्वभाव को धारण करने वाले मेरे लिए **(ण कोवि वाही अत्थि)** न कोई शारीरिक पीड़ा है **(ण य मरणं अत्थि)** और न मेरा मरण है **(वाही मरणं)** शारीरिक पीड़ा और मरण तो **(काए)** शरीर में है **(तम्हा)** इसलिए **(मे दुक्खं ण अत्थि)** मुझे दुःख नहीं है ॥१०२॥

---

१. इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य श्लोक २१

ण य अत्थि कोवि वाही निरञ्जनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकस्य मम कोपि व्याधिर्नास्ति तथा मम नित्यानंदैकस्वभावस्य **ण य मरणं** प्राणत्यागरूपं मरणं मृत्युरपि नास्ति। कथंभूतस्य मम? **विसुद्धस्स** विशुद्धस्य रागद्वेषमोहाद्युपाधिरहितस्य अथवा वातपित्तश्लेष्मादि-दोषरहितस्य। यदि व्याधिमरणमपि परमात्मनि नास्ति तर्हि क्वास्ति? **वाही मरणं** व्याधिर्मरणं च काये **तम्हा दु:खं ण मे अत्थि** तस्मात्कारणात् दु:खादेरभावात् मम अविनश्वरपरमानंदमेदुरात्मनः दु:खं नास्ति। तदुक्तं-

''रुग्जरादिविकृतिर्न मेंजसा सा तनोरहमितः सदा पृथक्।
मेलनेपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिः ॥१०२॥''

यदि व्याध्यादिकं कायस्य तर्हि आत्मा कीदृश इत्याह-

सुक्खमओ अहमेको सुद्धप्पा णाणदंसणसमग्गो।
अण्णे जे परभावा ते सव्वे कम्मणा जणिया ॥१०३॥

सुक्खमओ इत्यादि। अनवरतस्यन्दिसुन्दरानन्दमुद्रितामन्दसुखेन निर्वृत्तः सुखमयः। अहं शरीराधिष्ठितोऽपि आत्मा शुद्धनयापेक्षया परमात्मा। यदुक्तम्-

---

टीका—बीमारी अथवा मरण का प्रसंग आने पर क्षपक को विचार करना चाहिए कि मैं तो निरञ्जन-शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चय-रत्नत्रय से तन्मय हूँ। यही मेरा स्वभाव है, रागद्वेष मोह आदि की उपाधि से रहित हूँ अथवा वात, पित्त, कफ आदि दोषों से रहित होने के कारण विशुद्ध हूँ इसलिए मुझे कोई प्रकार की बीमारी नहीं है। इसी तरह मैं नित्य आनन्दरूप एक स्वभाव को धारण करने वाला हूँ इसलिए मेरा मरण नहीं हो सकता। बीमारी और मरण शरीर में होते हैं और शरीर मेरा है नहीं, इसलिए मुझे कोई दु:ख नहीं है, मैं तो अविनाशी परमानन्द से मेदुर सम्पन्न हूँ जैसा कि कहा है-

रुग्जरादीति—रोग तथा बुढ़ापा आदि से होने वाला विकार वास्तव में मेरा नहीं है वह शरीर का है और मैं इस शरीर से सदा पृथक् हूँ भले ही शरीर के साथ मेरा संयोग हो रहा है। ठीक ही है विकार उत्पन्न करने वाले मेघों के साथ आकाश का संयोग होने पर भी आकाश में विकार नहीं होता ॥१०२॥

आगे यदि बीमारी आदिक शरीर के हैं तो आत्मा कैसा है ? यह कहते हैं-

सुक्खमओ इति—गाथार्थ—(अहं) मैं **(सुक्खमओ)** सुखमय **(एको)** एक **(सुद्धप्पा)** शुद्धात्मा तथा **(णाण दंसण समग्गो)** ज्ञान, दर्शन में परिपूर्ण हूँ **(अण्णे जे परभावा)** अन्य जो परभाव हैं **(ते सव्वे)** वे सब **(कम्मणा जणिया)** कर्म से उत्पन्न हैं ॥१०३॥

टीका—क्षपक को विचार करना चाहिए कि मैं सदा सुखमय हूँ-निरन्तर प्रकट होने वाले सुन्दर आनन्द से परिपूर्ण हूँ तथा शरीर से युक्त होने पर भी शुद्धनय की अपेक्षा परमात्मा हूँ। जैसा कि कहा है-

[१]यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

तथा **एक्को** असहायः रागद्वेषादिद्वितीयरहितः **सुद्धप्पा** शुद्धात्मा शुद्धश्चासौ आत्मा च शुद्धात्मा **णाणदंसणसमग्गो** ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने ताभ्यां समग्रः दर्शनज्ञानसमग्रः दृशिज्ञप्तिस्वभावः नियतिवृत्तिरूपः। एवंभूतात् स्वभावात् येऽन्ये ते परभावाः इत्याह **अण्णे जे परभावा** टंकोत्कीर्ण-चित्स्वभावादात्मनः सकाशात् येऽन्ये रागद्वेषमोहादयः आधिव्याधिमरणादयः **ते सव्वे** ते सर्वे परभावाः पुद्गलभावाः। किं विशिष्टाः। **कम्मणो जणिया** कर्मणः सकाशादुत्पन्नाः। अथवा कर्मणा करणभूतेन जनिता उत्पादिताः। ततोऽहमात्मा केवलं सुखस्वभावसम्पन्नो विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावोस्मीति ध्यानयोगमारूढस्य क्षपकस्य कर्मनिर्जरैव। यदुक्तम्–

परीषहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी।
जायते ध्यानयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥१०३॥

पुनरहमात्मा ईदृग्विध इति भावनापरः क्षपको भवतादित्यादिशति–

णिच्चो सुक्खसहावो जरमरणविवज्जिओ सयारूवी।
णाणी जम्मणरहिओ [२]इक्कोहं केवलो सुद्धो ॥१०४॥

यः परमात्मेति–जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है इसलिए मेरे द्वारा मैं ही उपासना करने योग्य हूँ अन्य कोई नहीं, यह वस्तु स्थिति है।

मैं एक हूँ–रागद्वेषादि द्वितीय से रहित हूँ, शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान, दर्शन से परिपूर्ण–देखने जानने वाले स्वभाव से युक्त हूँ, मैं टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभाव वाला हूँ, मुझसे भिन्न जो रागद्वेष, मोह आदिक अथवा आधि, व्याधि और मरण आदिक हैं वे सब परभाव हैं–पुद्गलरूप हैं तथा कर्म से उत्पन्न हुए हैं अथवा भावकर्म की अपेक्षा कर्म के द्वारा मुझमें उत्पन्न कराए गए हैं। इस प्रकार ध्यान में आरूढ़ क्षपक के कर्मनिर्जरा ही होती है। जैसा कि कहा गया है–

परीषहाद्यविज्ञानादिति–ऐसी अवस्था हो जावे कि जब आये हुए परीषहों का भान ही न हो, तब ध्यान से योग के आस्रव को रोकने वाली कर्मों की निर्जरा शीघ्र ही होती है ॥१०३॥

आगे फिर भी में कैसी आत्मा हूँ ? ऐसी भावना क्षपक को करना चाहिए ? यह कहते हैं–

णिच्चो इति–गाथार्थ–क्षपक को ऐसी भावना करनी चाहिए कि **(अहं)** मैं **(णिच्चो)** नित्य हूँ **(सया)** सर्वदा **(सुक्ख सहावो)** सुख स्वभाव वाला हूँ **(जरमरण विवज्जिओ)** जरा और मरण से रहित हूँ **(अरूपी)** हमेशा अरूपी हूँ **(णाणी)** ज्ञानी हूँ **(जम्मण रहिओ)** जन्म से रहित हूँ **(इक्को)** एक हूँ **(केवलो)** पर की सहायता से रहित हूँ और **(सुद्धो)** शुद्ध हूँ ॥१०४॥

---

१. समाधिशतके पूज्यपादस्य, २. एक्कोहं ग०।

अयमात्मा यद्यपि व्यवहारेण अनित्यस्तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया **णिच्चो** नित्यः अविनश्वरः। यद्यपि व्यवहारेण अनाद्यशुभकर्मवशात् कदाचिद्दुःखी शुभकर्मवशात्कदाचित्सुखी तथापि शुद्धद्रव्यार्थिक-नयापेक्षया सदा **सुक्खसहावो** सुखस्वभावः परमानन्दमेदुरानन्तसुखस्वरूपः, यद्यपि व्यवहारेण पञ्चप्रकारशरीराश्रितत्वात् जरामरणाक्रान्तः तथापि निश्चयनयेन **जरमरणविवज्जिओ** जरामरणविवर्जितः। यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण स्पर्शरसगन्धवर्णवत्पुद्गलाश्रितत्वात् मूर्तस्वरूपः गौरकृष्णादिरूपोपेतः तथापि शुद्धनयापेक्षया **अरूवी** अरूपी रूपवर्जितः। यद्यपि व्यवहारेण मतिश्रुतज्ञानाद्युपेतत्वात् ज्ञानी तथापि निश्चयनयापेक्षया केवलज्ञान-स्वभावत्वात् **जम्मणरहिओ णाणी** ज्ञानी। यद्यपि व्यवहारेण चतुरशीति-लक्षयोनिषु गृहीत-जन्मत्वाज्जन्मी तथापि शुद्धनिश्चय-नयादजन्मा। यद्यपि व्यवहारेण सुरनरादि-भेदादनेकस्तथापि निश्चयेन **इक्कोहं** टंकोत्कीर्णचित्स्वभावत्वादेकः। यद्यपि व्यवहारेण ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मसंयोगादकेवलः तथापि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया **केवलो** केवलः। यद्यपि व्यवहारेण रागाद्युपाधि-संयोगादशुद्धः तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया सुद्धो शुद्धः॥ यदुक्तं-

नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो,
नैको न क्षणिको न विश्वविततो नित्यो न चैकांततः।
आत्मा कायमितिश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं,
संयुक्तः स्थिरताविनाशजननैः प्रत्येकमेकः क्षणे॥

टीका—क्षपक ऐसी भावना में तत्पर रहे कि यह आत्मा यद्यपि व्यवहारनय से अनित्य है तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा नित्य—अविनश्वर है। यद्यपि व्यवहारनय से अनादि कालीन अशुभ कर्मों के वश होने से कभी दुःखी होता है और शुभ कर्मों के वश से कभी सुखी होता है तो भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सुख स्वभाव परमानन्द से युक्त अनन्त सुखस्वरूप है। यद्यपि व्यवहारनय से पाँच प्रकार के शरीर से आश्रित होने के कारण जरा और मरण से युक्त है तो भी निश्चयनय की अपेक्षा जरा मरण वर्जित—बुढ़ापा और मृत्यु से रहित है। यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त पुद्गल के द्वारा आश्रित होने से मूर्त स्वरूप—गौर तथा कृष्ण आदि रूप से सहित है तो शुद्धनय की अपेक्षा—रूप से रहित है। यद्यपि व्यवहारनय से मति, श्रुत आदि ज्ञानों से सहित होने के कारण ज्ञानी है तो भी निश्चयनय की अपेक्षा केवलज्ञान स्वभाव होने से ज्ञानी है। यद्यपि व्यवहारनय से चौरासी लाख योनियों में जन्म ग्रहण करने से जन्मवान् है तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अजन्म—जन्म से रहित है। यद्यपि व्यवहार नय से देव तथा मनुष्यादि के भेद से अनेक है तो भी निश्चयनय की अपेक्षा टंकोत्कीर्ण—टाँकी से उकेरे हुए के समान नित्य चैतन्य स्वभाव से युक्त होने के कारण एक हूँ। यद्यपि व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के साथ संयोग होने के कारण केवल नहीं है तो भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा केवल एक है। यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा रागादि उपाधियों के संयोग से अशुद्ध है तो भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा शुद्ध है। जैसा कि कहा है—

इति भावनापरिणतस्त्वमात्मानमेव तनोः सकाशान्निस्सारयेति शिक्षयति–

इयभावणाइं जुत्तो अवगण्णिय देहदुक्खसंघायं।
जीवो देहाउ तुमं कड्ढसु खग्गुव्व कोसाओ ॥१०५॥

हे क्षपक! **तुमं** त्वं **कड्ढसु** निस्सारय। कं। **जीवो** जीवं। अत्र कर्मणि प्रथमा न युक्तेत्यार्षत्वाददोषः। कीदृशस्त्वं इतिभावनायुक्तः, अहं देहात्मको व्याध्याधिनिष्पीतसारो न भवामि किन्तु परमानंदसांद्रः शुद्धश्चिदेवास्मि इत्येवंरूपभावनया संयुक्तः स्वात्मानं शरीरान्निष्कासय। किं कृत्वा पूर्वं? **अवगण्णिय देहदुक्खसंघायं** अवगण्य। कं? देहदुःखसंघातं देहे शरीरे यानि ज्वरावेशातिसारोद्भवानि दुःखानि तेषां संघातः समूहः देहदुःखसंघातः तं देहदुःखसंघातं। कमिव विग्रहाच्चेतनं पृथक् कुरु। **खग्गुव्व कोसाओ** खड्गमिव कोशात् असिमिव कोशात् खड्गपिधानकात् प्रत्याकारात्। यदुक्तं–

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्रकोशादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥१०५॥

नो शून्य इति–आत्मा एकान्त से न शून्य है, न जड़ है, न भूतों–पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से उत्पन्न है, न कर्तृभाव को प्राप्त है, न एक है, न क्षणिक है, न संसार में व्यापक है और न नित्य है किन्तु प्रत्येक क्षण शरीर प्रमाण है, चैतन्य का एक आधार है, कर्ता है, भोक्ता है, स्वयं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित है और एक है ॥१०४॥

आगे इस क्षपक की भावना से युक्त होते हुए तुम आत्मा को ही शरीर से अलग निकालो ऐसी शिक्षा देते हैं–

इय भावणाइ–गाथार्थ–(इय भावणाइं) ऐसी भावना से **(जुत्तो)** युक्त होकर **(तुमं)** तुम **(देह दुक्खसंघायं)** शरीर सम्बन्धी दुःखों के समूह की **(अवगण्णिय)** उपेक्षा कर **(जीवो)** जीव को **(देहाउ)** शरीर से **(कोसाओ)** म्यान से **(खग्गुव्व)** तलवार की तरह **(कड्ढसु)** पृथक् निकालो ॥१०५॥

टीका–गाथा में जीवो, यहाँ कर्म कारक में प्रथमान्त शब्द का प्रयोग यद्यपि उचित नहीं है तो भी आर्ष प्रयोग होने से उसे निर्दोष माना गया है। मैं शरीर रूप तथा शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से युक्त नहीं हूँ किन्तु परमानन्द से सान्द्र, शुद्ध चैतन्य रूप ही हूँ ऐसी भावना से युक्त हुआ क्षपक; शरीर में ज्वर के आवेश तथा अतिसार आदि रोगों से होने वाले रोग समूह की उपेक्षा कर शरीर से चेतन को उस तरह पृथक् करे जिस प्रकार कि म्यान से तलवार को पृथक् किया जाता है। जैसा कि कहा है–

शरीरत इति–हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार म्यान से तलवार को अलग कर लिया जाता है। उसी प्रकार आपके प्रसाद से मुझे अनन्त बल से युक्त आत्मा को शरीर से अलग करने की शक्ति प्राप्त हो ॥१०५॥

---

१. द्वात्रिंशिकायाम् अमितगतेः।

पुनः शिक्षां प्रयच्छन्नाह–

हणिऊण अट्टरुद्दे अप्पा परमप्पयम्मि ठविऊण।
भावियसहाउ जीवो कड्ढसु देहाउ मलमुत्तो ॥१०६॥

भावितः स्वभावितः पुनः पुनर्भावनया स्वायत्तीकृतः सहजशुद्ध–स्वभावः आत्मभावो येन स भावितस्वभावः तस्य सम्बोधनं भो भावितस्वभाव क्षपक! **कड्ढसु** निस्सारय परलोकं प्रापय। कं। जीवं स्वात्मानं। कस्मात् **देहाउ** देहात् शरीरात् विग्रहात्। किंकृत्वा पूर्वं। **हणिऊण** हत्वा मूलतः समुन्मूल्य। कौ। **अट्टरुद्दे** आर्तश्च रौद्रश्च आर्तरौद्रौ। पुनः किं कृत्वा? **अप्पा परमप्पयम्मि ठविऊण** स्वात्मानं परमात्मनि स्थापयित्वा स्वात्मनः परमात्मनि स्थितीकरणं सोऽहमिति संस्कार एव। यदुक्तम्–

[१]**सोहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।**
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनः स्थितिम्॥

यस्मान्निर्धूतार्तरौद्रदुर्ध्यानः परमात्मज्ञानसम्पन्नः। अत एव क्षपकः कलंकमुक्तः बाह्याभ्यंतरपरिग्रहादि–मलोज्झितः एतादृग्गुणोपेतः क्षपको निश्चितं सुगतिमात्मानं तच्चतुर्विधाराधनासामर्थ्यान्नयतीति भावार्थः ॥१०६॥

आगे और भी शिक्षा देते हुए कहते हैं–

हणिऊण–गाथार्थ–(भावियसहाउ) हे स्वभाव की भावना करने वाले क्षपक **(अट्टरुद्दे)** आर्त और रौद्रध्यान को **(हणिऊण)** नष्टकर **(अप्पा)** आत्मा को **(परमप्पयम्मि)** परमात्मा में **(ठविऊण)** लगाकर **(मलमुत्तो जीवो)** निर्मल जीव को **(देहाउ)** शरीर से **(कड्ढसु)** पृथक् करो ॥१०६॥

टीका–जिसने आत्म स्वभाव की बार–बार भावना की है ऐसे क्षपक को संबोधते हुए कहा है कि हे क्षपक! तू आर्त और रौद्र इन खोटे ध्यानों को छोड़ आत्मा को परमात्मा में लगा तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरूप मल से रहित आत्मा को शरीर से पृथक् कर। आज तक तूने शरीर और आत्मा को पृथक् नहीं समझा किन्तु एक मान कर शरीर को प्राप्त करने का ही प्रयास किया है, अब शरीर और आत्मा को पृथक् अनुभव कर ऐसा प्रयास करो कि जिससे आत्मा शरीर से सदा के लिए पृथक् हो जावे। आत्मा को शरीर से पृथक् करने के लिए तू आत्मा को परमात्मा में स्थापित कर अर्थात् ऐसा संस्कार आत्मा में उत्पन्न कर कि जो परमात्मा है वही मैं हूँ। जैसा कि कहा है–

सोऽहमिति–परमात्मा की बार बार भावना करने से 'मैं वही हूँ जो परमात्मा है, ऐसा संस्कार होता है और इस दृढ़ संस्कार से जीव परमात्मा में स्थिति को प्राप्त होता है।

भावार्थ–परमात्मा और आत्मा के अभेद का चिंतन करने से आत्मा परमात्मा रूप हो जाता है ॥१०६॥

---

१. समाधिशतके पूज्यपादस्य।

कालल‍ब्धिवशादाराधनाधीना भव्यास्तस्मिन्नेव भवांतरे सिद्ध्यन्तीत्याह–

कालाई लहिऊणं छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं।
केवलणाणपहाणा [1]भविया सिज्झंति तम्मि भवे ॥१०७॥

सिज्झंति सिध्यन्ति। के? **भविया** भव्याः आसन्नभव्या। कदा? तस्मिन् भवे तस्मिन्नेव भवांतरे वर्तमानशरीराधिष्ठाना भव्यात्मनः सिद्धिं साधयन्तीत्यर्थः। किं कृत्वा? **कालाई लहिऊणं** कालादिकं लब्ध्वा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणां सामग्रीं प्राप्य। यदुक्तम्–

[2]योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोप्यात्मता मता॥

पुनः किं कृत्वा? **छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं** छित्वा। कां? अष्टकर्मश्रृंखलां अष्टकर्माण्येवाति-दृढत्वात् शृंखला अष्टकर्मश्रृंखला तां अष्टकर्मशृंखलां सन्तः सिद्धयन्ति **केवलणाणपहाणा** केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानं तेन प्रधानाः संयुक्ताः एवंभूताः सन्तः केचित्तस्मिन्नेव भवांतरे निश्चयाराधना-महिमकमलालिंगिता मुक्तिकांतासुखं निर्विशन्ति ॥१०७॥

आगे काल लब्धि के वश आराधना को प्राप्त हुए भव्य जीव उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं। यह कहते हैं–

कालाई–गाथार्थ–(भविया) भव्य जीव **(कालाइं लहिऊणं)** काल आदि लब्धियों को प्राप्त कर **(य)** तथा **(अट्ठकम्म संखलयं)** आठ कर्मों की शृंखला को **(छित्तूण)** छेदकर **(केवलणाणपहाणा)** केवलज्ञान से युक्त होते हुए **(तम्मि भवे)** उसी भव में **(सिज्झंति)** सिद्ध हो जाते हैं।

टीका–कितने ही भव्य जीव, कालादि लब्धियों–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप सामग्री को प्राप्त कर आठ कर्मरूपी मजबूत सांकल को तोड़ डालते हैं और केवलज्ञान को प्राप्त कर उसी भव में निश्चयाराधना की महिमा रूपी लक्ष्मी से आलिंगित होते हुए मुक्ति कान्ता के सुख को प्राप्त होते हैं। कार्य की सिद्धि के लिए योग्य सामग्री का मिलना आवश्यक है जैसा कि कहा है–

योग्योपादानेति–जिस प्रकार योग्य उपादान के योग से पत्थर में स्वर्णता मानी गई है उसी प्रकार द्रव्यादि सामग्री की प्राप्ति होने पर आत्मा में आत्मता मानी गई है।

भावार्थ–जिस प्रकार सुवर्ण रूप परिणमने की योग्यता रूप उपादान तथा अग्नि आदि बाह्य सामग्री रूप निमित्त कारण के मिलने पर स्वर्ण पाषाण स्वर्ण रूप हो जाता है उसी प्रकार मुक्त रूप परिणमने की योग्यता रूप उपादान तथा मनुष्य भव और तपश्चरणादि रूप निमित्त कारण के मिलने पर आत्मा परमात्मा बन जाता हैं ॥१०७॥

---

१. केई ग०, २. इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य श्लोक २

आराधनाराधका उद्वृत्यपुण्यप्रकृतयः सर्वार्थसिद्धिगामिनो भवन्तीत्याह–

आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाइं जं सारं।
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो हुंति ॥१०८॥

हुंति भवन्ति। **केई** केचित् अनुद्धूतपुण्यप्रकृतयः। कीदृशा भवन्ति? **सव्वट्ठणिवासिणो** सर्वार्थसिद्धौ निवसन्तीत्येवंशीलाः सर्वार्थसिद्धिनिवासिनः कालादिसामग्रीमपेक्ष्यमाणाः सर्वार्थसिद्धिमाश्रित्य तिष्ठन्तीत्यर्थः। सर्वार्थसिद्धिगमनकारणमाह। किं विशिष्टाः केचित्। **उव्वरियसेसपुण्णा** उद्वृत्ता अनुच्छन्ना शेषाः अविशिष्टाः पुण्यापुण्यप्रकृतयो येषां येषु वा उद्वृत्तशेषपुण्याः। किं कृत्वा सर्वार्थसिद्धिनिवासिनो भवन्ति? **आराहिऊण** सम्यगाराध्य। किमाराध्य? **चउव्विहाराहणाइं जं सारं** चतुर्विधाराधनायां यं सारं चतुर्विधाराधनासु मध्ये यः सारः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा तं चतुर्विधाराधनायां सारं स्वस्वरूपलक्षणमाराध्य पञ्चलब्धि-सामग्री-अभावात् सर्वार्थसिद्धिनिवासिनो भवन्ति केचिदित्यर्थः ॥१०८॥

ये जघन्या आराधकास्तेप्याराधनासामर्थ्यात् कियत्स्वपि भवेष्वतीतेषु मोक्षमासादयन्तीति व्यनक्ति–

जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं।
सत्तट्ठभवे गंतुं तेवि[1] य पावंति णिव्वाणं ॥१०९॥

आगे जिनकी पुण्य प्रकृतियाँ समाप्त नहीं हुई है ऐसे कितने ही आराधक सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त होते हैं... यह कहते हैं–

आराहिऊणा–गाथार्थ–(उव्वरिय सेस पुण्णा) जिनकी पुण्य प्रकृतियाँ नष्ट होने से शेष बची हैं ऐसे **(केई)** कोई आराधक **(चउव्विहाराहणाइं ज सारं)** चार प्रकार की आराधनाओं में जो श्रेष्ठ है उस शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा की **(आराहिऊण)** आराधना करके **(सव्वट्ठणिवासिणो)** सर्वार्थसिद्धि में निवास करने वाले **(हुँति)** होते हैं ॥१०८॥

टीका–पिछली गाथा में आराधना का उत्कृष्ट फल बताते हुए कहा था कि आराधक उसी भव में मोक्ष को प्राप्त होता है। इस गाथा में उससे उतरते हुए उन आराधकों का जिनकी पुण्य प्रकृतियाँ उपभुक्त होने से शेष बची हुई है, आराधना का फल बताते हुए कहते हैं कि ऐसे जीव सर्वार्थ सिद्धि में निवास करते हैं और फिर वहाँ से आकर नियम से मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥१०८॥

आगे जो जघन्य आराधक हैं वे भी आराधना की सामर्थ्य से कुछ भव व्यतीत होने पर मोक्ष को प्राप्त होते हैं यह कहते हैं–

जेसिं इति–गाथार्थ–(हु) निश्चय से **(जेसिं)** जिन **(खवयाणं)** क्षपकों के **(जहण्णा चउव्विहाराहणा)** चार प्रकार की जघन्य आराधनाएँ **(हुँति)** होती हैं **(तेविय)** वे भी **(सत्तट्ठभवे)** सात आठ भव **(गत्वा)** व्यतीतकर **(णिव्वाणं पावंति)** निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥१०९॥

१. तेच्चिय ग०।

पावंति प्राप्नुवन्ति लभन्ते। के? **तेवि य** तेपि च। किं प्राप्नुवन्ति? **णिव्वाणं** निर्वाणं शाश्वता-नंदस्थानं। किं कृत्वा प्राप्नुवन्ति? **सत्तट्ठभवे गंतुं** सप्तभवान् अष्टसंख्याकान् वा भवान् भवांतराणि गत्वा अतिक्रम्य गत्वेति क्त्वाप्रत्ययांतः। सप्ताष्टभवान्तरेष्वतीतेषु मोक्षमक्षयसुखमासादयन्तीत्यर्थः। ते के इत्याह? **जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणाहु** हु स्फुटं येषां क्षपकानां चतुर्विधा आराधना जघन्या भवन्ति। तथाहि–ये खलु मनश्चांचल्यात्सहजशुद्धचिदानन्दात्मनि स्वात्मनि स्थितिमल्पतरामासादयन्ति व्यवहार-परमार्थरूपेषु दर्शनज्ञानचारित्रतपःस्वपि मनोवचनकायसामर्थ्यरहितत्वात्सम्यगाराधनां नाचरन्ति तेपि जघन्या आराधकास्त्रिचतुरेषु भवान्तरेषु अतीतेषु मोक्षमक्षयसुखमुपलभन्ते अतएवाराधनैव मोक्षं करोतीति भावार्थः ॥१०९॥

व्यवहारनिश्चयाराधनोपयोगभाजः शुभकर्मोत्पादितस्वैश्वर्यादिफलमनुभूय कमनीयमुक्तिकामुका भवन्तीत्याह–

उत्तमदेवमणुस्से सुक्खाइं अणोवमाइं भुत्तूण।
आराहणउवजुत्ता भविया सिज्झंति [1]झाणट्ठा ॥११०॥

सिज्झंति सिध्यन्ति। के? **भविया** भव्याः। किं कृत्वा? **भुत्तूण** भुक्त्वा अनुभूय। कानि? **सुक्खाइं** सुखानि। कथंभूतानि सुखानि? **अणोवमाइं** अनुपमानि उपमारहितानि। यदुक्तम्–

टीका–जो क्षपक मन की चंचलता से सहज शुद्ध चिदानन्द रूप स्वात्मा में अत्यन्त अल्पस्थिति को प्राप्त होते हैं तथा व्यवहार और निश्चय के भेद से दोनों प्रकार के दर्शन, ज्ञान,चारित्र और तप में भी मन, वचन, काय की सामर्थ्य से रहित होने के कारण समीचीन आराधना का आचरण नहीं करते हैं वे जघन्य आराधक कहलाते हैं तथा ऐसे जीव तीन चार भवान्तरों के व्यतीत होने पर अविनाशी सुख से युक्त मोक्ष को प्राप्त करते हैं। तीन–चार मनुष्य के और उनके बीच में प्राप्त होने वाले तीन चार देवों के इस तरह सात–आठ भव व्यतीत कर जघन्य आराधक अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं ॥१०९॥

आगे व्यवहार और निश्चय आराधना में उपयोग लगाने वाले क्षपक शुभकर्म के उदय से प्राप्त स्वर्ग के ऐश्वर्य आदि फल को भोग कर मोक्ष प्राप्त करते हैं...यह कहते हैं–

उत्तमदेव इति–गाथार्थ–(आराहणउवजुत्ता) आराधना में उपयुक्त तथा **(झाणट्ठा)** ध्यान में स्थित **(भविया)** भव्य जीव **(उत्तमदेव मणुस्से)** उत्तमदेव और मनुष्यों में **(अणोवमाइं)** अनुपम **(सुक्खाइं)** सुख **(भुत्तूण)** भोग कर **(सिज्झंति)** सिद्ध होते हैं ॥११०॥

टीका–यहाँ उत्तम देव से इन्द्रादि पद को प्राप्त वैमानिक देव और उत्तम मनुष्य से चक्रवर्ती आदि पद से युक्त मनुष्यों का बोध होता है। जो भव्य जीव निरन्तर आराधनाओं में लीन रहते हैं तथा

१. झाणत्था ग०।

[१]हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव॥

क्व। उत्तमदेवमणुस्से उत्तमदेवमानुषे उत्तमदेवत्वं इन्द्रादिपदप्राप्तिलक्षणं उत्तममानुषत्वं चक्रवर्तिपदवी उत्तमदेवश्च उत्तममानुषश्च उत्तमदेवमानुषस्तस्मिन् उत्तमदेवमानुषे चक्रित्वत्रिदशेन्द्रतादिपदवीमनुभूय तदनु सिद्धिसुखभाजो भवन्तीत्यर्थः। के सिद्ध्यन्ति? **आराहणउवजुत्ता** आराधनोपयुक्ताः तथा **झाणत्था** ध्यानस्था ध्याने तिष्ठन्तीति ध्यानस्थाः धर्मशुक्लादिध्यानभाजः। तथाहि। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागमाधाय गृहीतसंन्यासः निर्मलतरसमयसारसरणिपरिणतांतःकरणः निश्चय-व्यवहाराराधनोपयोगयोगी वर्धमानपुण्यप्रकृत्युदयजनित-स्वैश्वर्यादिकमनुभूय भव्यात्मा सिध्यतीत्य-सन्देहमिति ॥११०॥

अतितपश्चरणादिकं कुर्वाणोपि स्वात्मध्यानबहिर्भूतो मोक्षभाग् न भवतीत्युपदिशति–

अइ कुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं।
जाम[२]ण झावइ अप्पा ताम[३]ण मोक्खो जिणो भणइ ॥१११॥

धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में स्थिर होते हैं वे वैमानिक देवों में इन्द्र प्रतीन्द्र आदि पद प्राप्त करते हैं और वहाँ से मनुष्य गति में आकर चक्रवर्ती आदि का पद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उत्तम देव और मनुष्य गति के अनुपम सुख भोगकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। देवगति में देवों के सुख का वर्णन करते हुए कहा गया है–

हृषीकजमिति–स्वर्ग में देवों को इन्द्रियजन्य, रोग रहित तथा दीर्घकाल तक स्थिर रहने वाला जो सुख प्राप्त होता है वह स्वर्ग में रहने वाले देवों के सुख के समान ही है अर्थात् उस सुख के लिए अन्य किसी सुख की उपमा नहीं दी जा सकती है।

भावार्थ यह है कि बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर जिसने संन्यास धारण किया है, जिसका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल समयसार के मार्ग में परिणत हो रहा है, तथा निश्चय, व्यवहार आराधनाओं में जिसका उपयोग एवं योग लग रहा है ऐसा भव्य जीव, बढ़ती हुई पुण्य प्रकृति के उदय से उत्पन्न स्वर्ग के ऐश्वर्य आदि का उपभोग कर नियम से सिद्ध होता है ॥११०॥

आगे अत्यन्त तपश्चरणादिक को करता हुआ भी क्षपक यदि स्वात्मा के ध्यान से रहित है तो वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है। यह कहते हैं–

अइ कुणउ इति–गाथार्थ–प्राणी **(अइ तवं कुणउ)** अत्यन्त तप करे, **(संजमं पालेउ)** संयम का पालन करे और **(सयल सत्थाइं पढउ)** समस्त शास्त्रों को पढ़े किन्तु **(जाम)** जब तक **(अप्पा ण झावइ)** आत्मा का ध्यान नहीं करता है **(ताम)** तब तक **(मोक्खो ण)** मोक्ष नहीं होता ऐसा **(जिणो भणइ)** जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ॥१११॥

---

१. इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य श्लोक ५, २. जाव ग०, ३. ताव ग०।

अइ कुणउ करोतु अनुचरतु। कोसौ? प्राणी। किं तत्? **तवं** तपः पक्षे उपवासादिकं। कथं। अतीव उग्रोग्रं तथा **पालेउ** प्रतिपालयतु। कं? **संजमं** इन्द्रियादिसंयमं। तथा **पढउ** पठतु अधीतां। कानि। **सयलसत्थाइं** सकलानि च तानि शास्त्राणि सकलशास्त्राणि व्याकरण-छन्दोलङ्कार-तर्क सिद्धांतादीनि परं **जाम ण झायइ अप्पा** यावत्कालं चैतन्यात्मानं न ध्यायति भेदज्ञानेन कायादिभ्यः पृथगवबुध्य स्वसंवेदनेन यावन्न संवेदयति तावत्तस्य प्राणिनः क्षपकस्य मोक्षो नास्ति। को नाम एवमाचष्टे। **जिणो भणइ** निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारी केवली जिनः भणति कथयति। उक्तं च–

[१]पदमिदं ननु कर्म दुरासदं सहजबोधकला सुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत्॥
[२]यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः॥

एवंविधं विदधाना भव्यात्मानोऽवश्यं मुक्तिभाजो भवन्तीति निगदति–

चइऊण सव्वसङ्गं लिंगं धरिऊण जिणवरिंदाणं।
अप्पाणं झाऊणं भविया सिज्झंति णियमेण ॥११२॥

सिज्झंति सिध्यन्ति सिद्धिं साधयन्ति। के? **भविया** भव्यात्मानः। कथं सिध्यन्ति? **णियमेण** निश्चयेन।

टीका—उपवासादि तीव्र तप करने पर, संयम का पालन करने पर और सकल शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी यह जीव तब तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि भेदज्ञान के द्वारा चैतन्य स्वरूप आत्मा को शरीरादिक से पृथक् जानकर स्वसंवेदन ज्ञान से उसका ध्यान नहीं करता ऐसा समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष देखने वाले जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। जैसा कि कहा है–

पदमिदमिति—यथार्थ में मोक्ष पद मात्र क्रियाकाण्ड के द्वारा दुर्लभ है किन्तु सहज आत्मज्ञान की कला से सुलभ है इसलिए समस्त संसार इसे आत्मज्ञान की कला के बल से प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

यो नेति—जो शरीर में स्थित आत्मारूपी परम देव को नहीं जानता है वह परम तप तपकर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है ॥१११॥

आगे ऐसा करते हुए भव्य जीव अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं यह कहते हैं–

चइऊण इति—गाथार्थ—(भविया) भव्यजीव **(सव्वसंगं)** सर्व परिग्रह को **(चइऊण)** छोड़कर **(जिण वरिंदाणं)** जिनेन्द्र भगवान् का **(लिंगं)** दिगम्बर वेष **(धरिऊण)** धारण कर तथा **(अप्पाणं झाऊणं)** आत्मा का ध्यान कर **(णियमेण)** नियम से **(सिज्झंति)** सिद्ध होते हैं ॥११२॥

टीका—बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह के दो भेद हैं। उनमें बाह्य परिग्रह दश प्रकार

---

१. नाटक समयसारकलशेऽमृतचन्द्रस्य, २. समाधिशतके पूज्यपादस्य श्लोक ३३

किंकृत्वा? **चइऊण** त्यक्त्वा **सव्वसंगं** सर्वसङ्गं परिग्रहो बाह्याभ्यन्तररूपः। तत्र बाह्यो दशविधः। यदुक्तम्–

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
आसनं शयनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश।

अभ्यन्तरश्च परिग्रहश्चतुर्दशभेदभिन्नः। यदुक्तम्–

[१]मिथ्यात्वा वेदरागा हासप्रमुखास्तथा च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥

इत्येवं लक्षणं सर्वपरिग्रहं **चइऊणं** त्यक्त्वा विमुच्य। न केवलं सङ्गं त्यक्त्वा। तथा **लिंगं धरिऊण जिणवरिंदाणं** जिनेन्द्राणां लिंगं नग्नतादिलक्षणं धृत्वा सम्यक् प्रकारेण स्वात्मनि जिनदीक्षामारोप्येत्यर्थः। **यद्यपि** लिंगं जात्यादिविकलो निश्चयनयापेक्षया मोक्षहेतुर्न भवति। यदुक्तम्–

[२]लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मा [३]देते लिंगकृताग्रहाः।

तथापि व्यवहारेण जिनलिंगं मोक्षाय भवति। तथा **अप्पाणं झाऊणं** आत्मानं च ध्यात्वा। यदुक्तम्–

[४]संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसा।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥

का है। जैसा कि कहा है–**क्षेत्रमिति–**खेत, मकान, धन, धान्य, द्विपद–दासीदास, चतुष्पद–पशु, आसन, शयन, कुप्य–वस्त्र और बर्तन ये दस प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं।

अभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है। जैसा कि कहा है–**मिथ्यात्वेति–**मिथ्यात्व, वेदसम्बन्धी तीन, राग–हास्यादिक छह दोष और चार कषाय ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं।

इस तरह दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर जिनेन्द्र भगवान् की नग्न मुद्रा धारण करना मोक्षाभिलाषी जीवों के लिए आवश्यक है। यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा जाति आदि से रहित लिंग मोक्ष का हेतु नहीं है जैसा कि कहा गया है–

लिंगमिति–लिंग शरीर के आश्रित देखा गया है और शरीर ही संसार है इसलिए लिंग का आग्रह करने वाले ये पुरुष संसार से मुक्त नहीं हो सकते। तो भी व्यवहारनय से जिन लिंग मोक्ष का साधन होता है क्योंकि जिनलिंग सर्वपरिग्रह त्याग का प्रतीक है। सर्व परिग्रह का त्याग कर जिनलिंग–दिगम्बर मुद्रा धारण की फिर भी यदि आत्मध्यान नहीं हुआ तो यह जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए आत्मध्यान की बात कही गई है। जैसा कि कहा गया है–

संयम्येति–चित्त की एकाग्रता के द्वारा इन्द्रिय समूह को रोक कर आत्मज्ञ मनुष्य अपने आप में स्थित आत्मा का अपने आपके द्वारा ध्यान करे।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपायेऽमृतचन्द्रस्य श्लोक १६, २. समाधिशतके पूज्यपादस्य, ३. तस्माद्ये ते इति म०, ४. इष्टो० २२

एवं कुर्वाणा आराधनाराधकाः सिध्यन्तीत्यर्थः ॥११२॥

अथ ये व्यवहारनिश्चयाराधनाया उपदेशका आराधकाश्च तान्नमस्करोमीत्याह–

आराहणाइ सारं उवइट्ठं जेहिं मुणिवरिंदेहिं।
आराहियं च जेहिं ते सव्वेहं पवंदामि॥११३॥

जेहिं उवइट्ठं यैर्ज्ञातसम्यगाराधनारहस्यैः उपदिष्टं आदिष्टं कथितं। कीदृशैर्यैः? **मुणिवरिंदेहिं** प्रत्यक्षज्ञानिनो मुनयस्तेषां वरा गणधरास्तेषामिंद्राः स्वामिनस्तीर्थकरास्ते मुनिवरेन्द्रास्तैः मुनिवरेन्द्रैः तीर्थकृद्भिः। किं उपदिष्टं यैः। आराधनायां सारं सर्वस्या आराधनायाः सारः टंकोत्कीर्णचित्स्वरूप–परमात्माराधनालक्षणः स उपदिष्टो यैर्मुनिवरेंद्रैस्तान् **पवंदामि** प्रवन्दे नमस्करोमि। न केवलं तान् आराधनोपदेशकान् वंदे। **आराहियं च जेहिं** यैर्मुनिवरेंद्रैराराधितं द्रव्यभावाराधनासारं तान् सर्वानपि त्रिधा नमस्करोमीत्यर्थः ॥११३॥

स्वाहंकारपरिहारं विदधानः आचार्यः प्राह–

ण य मे अत्थि कवित्तं ण मुणामो छंदलक्खणं किंपि।
णियभावणाणिमित्तं रइयं आराहणासारं ॥११४॥

इस तरह गाथा का भावार्थ यह हुआ कि सर्व परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर दीक्षा को धारण करने वाले भव्य जीव यदि आत्मा का ध्यान करते हैं तो नियम से सिद्ध होते हैं। आत्मध्यान के अभाव में मुनिलिंग धारण करने पर भी सिद्ध होने का नियम नहीं है। ऐसे जीव देवगति में उत्पन्न होकर संसार भ्रमण के पात्र होते हैं ॥११२॥

आगे जो व्यवहार और निश्चय आराधना का उपदेश करते हैं तथा उनकी आराधना करते हैं उन्हें नमस्कार करता हूँ ऐसा कहते हैं–

आराहणाइ इति–गाथार्थ–(जेहिं मुणि वरिंदेहिं) जिन मुनिराजों ने **(आराहणाइ सारं)** आराधनासार का **(उवइट्ठं)** उपदेश दिया है **(च)** और **(जेहिं)** जिन मुनिराजों ने **(आराहियं)** उसकी आराधना की है **(ते सव्वे)** उन सबकी **(अहं)** मैं **(पवंदामि)** वन्दना करता हूँ ॥११३॥

टीका–प्रत्यक्ष ज्ञानी मुनि कहलाते हैं उनमें वर–श्रेष्ठ गणधर हैं उनके इन्द्र–स्वामी तीर्थंकर हैं इस प्रकार समीचीन आराधना के रहस्य को जानने वाले जिन तीर्थंकरों ने टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वरूप परमात्मा की आराधना रूप आराधनासार का उपदेश दिया है तथा जिन्होंने स्वयं उसकी आराधना की है उन सभी मुनिराजों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥११३॥

आगे अपने अहंकार का परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं–

ण य मे इति–गाथार्थ–(ण मे कवित्तं अत्थि) न मैं कवि हूँ **(य)** और **(ण किंपि छंद लक्खणं मुणामो)** न मैं छंदों का लक्षण जानता हूँ मैंने तो **(णियभावणा णिमित्तं)** मात्र अपनी भावना के कारण **(आराहणासारं)** आराधनासार **(रइयं)** रचा है ॥११४॥

ण य मे अत्थि कवित्तं मे मम कवित्वं व्याकरणविशुद्धं शब्दार्थालंकारसमन्वितं नास्ति। तथा **ण मुणामो छन्दलक्खणं किंपि** छन्दः पिंगलाद्याचार्यप्रणीतं छन्दःशास्त्रं छन्दश्चूडामण्यादिकं न जाने इत्यर्थः। तथा लक्षणं व्याकरणं जैनेन्द्रादिकं अथवा कवित्वस्य गुणलक्षणं न जानामि किञ्चित् स्तोकमपि। यदि न किंचिज्जानासि तर्हि किमर्थमारचितवानसि इत्युक्ते प्राह। **णियभावणाणिमित्तं** निजभावनानिमित्तं केवलमात्मभावनानिमित्तं आराधनासारो मया व्यरचि। कुतः? निजभावनां निमित्ती कृत्य मया–यमाराधना–साराख्यो ग्रन्थो व्यरचि न पुनर्यशोनिमित्तं। यदुक्तम्–

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।
कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम्॥

यद्यत्र प्रवचनविरुद्धं तदा द्रव्यभावश्रुतकेवलिनो दूषणमपाकृत्य विशुद्धममुं ग्रन्थं कुर्वन्त्विति ब्रवीति–

अमुणियतच्चेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धम् ॥११५॥

शोधयंतु तं मुनींद्राः भावद्रव्यश्रुतकेवलिनः अंतःस्वसंवेदनज्ञानसंयुक्ताः बहिर्द्वादशांगश्रुत–रहस्यकोविदाः।

टीका—आराधनासार के रचयिता आचार्य देवसेन अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि मुझे व्याकरण से विशुद्ध तथा शब्दालंकार और अर्थालंकार से युक्त काव्य का ज्ञान नहीं है और न मैं पिंगल आदि आचार्यों के द्वारा रचित छन्दचूड़ामणि आदि छन्दशास्त्र को जानता हूँ अथवा न मुझे छन्द शास्त्र, जैनेन्द्र आदि व्याकरण शास्त्र अथवा काव्य गुण आदि के लक्षण बताने वाले अलंकार शास्त्र का कुछ भी ज्ञान है। मैंने मात्र निज भावना के निमित्त–मुझे आत्मध्यान की प्राप्ति हो इस भावना से इस आराधना सार ग्रन्थ की रचना की है यशः प्राप्ति के लिए मैंने इस ग्रन्थ को नहीं बनाया है जैसा कि कहा है–

न कवित्वाभिमानेनेति—मेरी यह रचना न कवित्त के अभिमान से हुई है और न कीर्ति प्रसार की इच्छा से। किन्तु मात्र आत्मज्ञान के लिए हुई है ॥११४॥

आगे आचार्य फिर भी लघुता दिखाते हैं–

अमुणिय इति—गाथार्थ—(अमुणिय तच्चेण) तत्त्व को नहीं जानने वाले **(देवसेणेण)** देवसेन ने **(इमं)** यह **(जं किंपि)** जो कुछ **(भणियं)** कहा है इसमें **(हु)** निश्चय से **(जइ)** यदि कुछ **(पवयण विरूद्धं)** आगम से विरुद्ध हों तो **(तं)** उसे **(मुणिंदा)** मुनिराज **(सोहंतु)** शुद्ध कर लें।

टीका—देवसेन आचार्य कहते हैं कि मैं तत्त्वों का ज्ञाता न होने पर भी, जो यह आराधनासार ग्रन्थ रचा है उसमें अज्ञान वश यदि कोई बात आगम विरुद्ध लिखी गई हो, तो उसे द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के ज्ञाता, अन्तरंग में स्वसंवेदन ज्ञान से युक्त अथवा बाह्य में द्वादशांग श्रुत के रहस्य को

किं तत्। तं। तत् किं। **भणियं जं किंपि** यत्किञ्चित् भणितं निगदितं **इमं इदं** प्रत्यक्षीभूतमाराधनासाराख्यं शास्त्रं। केन भणितं? देवसेनेन देवसेनाख्येनाचार्येण। कथम्भूतेन। **अमुणियतच्चेण** अज्ञातं तत्त्वं येन स अज्ञाततत्त्वस्तेन अज्ञाततत्त्वेन। गर्वपरिहारार्थमिदं विशेषणं न पुनरज्ञाततत्त्व आचार्यः, ततः प्राचीनसूरयो नितरां गुणिनोपि विगताहंकाराः श्रूयन्ते। यदुक्तम्–

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे[1] गतौ निर्वृतेः।
येषां प्रागजनीह तेपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचरा–
श्चित्रं संप्रति लेशतोपि न गुणस्तेषां तथाप्युद्धताः॥

परं तदा शोधयन्तु अत्थि **हु जइ पवयणविरुद्धं** हु स्फुटं यदि चेत् प्रवचनविरुद्धं जिनागमविरुद्धं किंचिन्मया प्रत्यपादि तदा शोधयन्तु। ये भावश्रुतविरहिताः केवलं द्रव्यश्रुतावलंबिनस्तेषां पुनरिहाराधनासार–शोधने नाधिकारः। ये परमब्रह्माराधनातत्परास्त एवात्राधिकारिण इत्यर्थः ॥११५॥

इति श्रीदेवसेनाचार्यविरचित आराधनासारः समाप्तः।

जानने वाले मुनीन्द्र शुद्ध कर लें। यहाँ आचार्य ने अपना अहंकार दूर करने के लिए ही ऐसा कहा है यथार्थ में वे अज्ञात तत्त्व नहीं थे। प्राचीन आचार्य अत्यन्त गुणी होने पर भी अहंकार से रहित सुने जाते हैं जैसा कि कहा है–

सत्यमिति–पूर्व काल में जिनके वचन में सत्य, बुद्धि में श्रुत, हृदय में दया, भुजा में शूर वीरता, पराक्रम में लक्ष्मी, याचक समूह में अत्यधिक दान और मोक्षमार्ग में गति वे भी अहंकार से रहित सुने गए हैं परन्तु इस समय आश्चर्य इस बात का है कि जिनके लेश मात्र भी गुण नहीं हैं फिर भी वे अहंकार से उद्धत हो रहे हैं।

जो भावश्रुत से रहित होते हुए मात्र द्रव्यश्रुत का आलम्बन लेते हैं उन्हें इस आराधनासार ग्रन्थ के संशोधन करने का अधिकार नहीं है। किन्तु जो परमब्रह्म की आराधना में तत्पर हैं वे ही इस विषय में अधिकारी हैं।

इस प्रकार देवसेनाचार्य विरचित आराधनासार समाप्त हुआ।

---

१. मार्गो गतौ निर्वृतेः प०।

[1]टीकाकारस्य प्रशस्तिः

संस्कृत टीकाकार की प्रशस्तिः

अश्वसेनमुनीशोऽभूत् पारदृश्वा श्रुतांबुधेः।
पूर्णचंद्रायितं येन स्याद्वादविपुलांबरे ॥१॥

अश्वसेनेति—शास्त्र रूपी समुद्र के पारदर्शी अश्वसेन नाम के एक मुनि थे जो कि स्याद्वाद रूपी आकाश में पूर्ण चन्द्रमा के समान आचरण करते थे ॥१॥

श्रीमाथुरान्वयमहोदधिपूर्णचंद्रो
निर्धूतमोहतिमिरप्रसरो मुनींद्रः।
तत्पट्टमंडनमभूत् सदनंतकीर्ति—
र्ध्यानाग्निदग्धकुसुमेषुरनंतकीर्तिः ॥२॥

श्रीमाथुरान्वयेति—जो श्री माथुरान्वयरूपी महासागर को समुल्लसित करने के लिए पूर्ण चन्द्रमा थे, मोहरूपी अन्धकार के प्रसार को जिन्होंने नष्ट कर दिया था, जो प्रशस्त अनन्त कीर्ति से युक्त थे तथा ध्यानरूपी अग्नि से जिन्होंने काम को भस्म कर दिया था ऐसे अनन्तकीर्ति मुनि उन अश्वसेन मुनि के पट्टाभरण थे ॥२॥

काष्ठासंघे भुवनविदिते क्षेमकीर्तिस्तपस्वी
लीलाध्यान - प्रसृमरमहा - मोह-दावानलांभः।
आसीद्दासीकृत - रतिपतिर्भूपति - श्रेणिवेणी—
प्रत्यग्रस्रग्सहचरपदद्वंद्वपद्मस्ततोपि ॥३॥

कोष्ठेति—उन अनन्तकीर्ति के बाद संसार प्रसिद्ध काष्ठा संघ में क्षेमकीर्ति नाम के तपस्वी मुनि हुए जो विषय सम्बन्धी ध्यान से फैलने वाले महामोहरूपी दावानल को शान्त करने के लिए जल थे, जिन्होंने काम को दास बना लिया था और जिनके चरण कमलों के युगल राजसमूह की चोटी में लगी हुई नवीन मालाओं से सहित थे ॥३॥

तत्पट्टोदयभूधरेऽतिमहति प्राप्तोदयोदुर्जयं
रागद्वेषमहांधकारपटलं संवित्करैर्दारयन्।
श्रीमान् राजति हेमकीर्तितरणिः स्फीतां विकासश्रियं
भव्यांभोजचये दिगंबरपथालंकारभूतो दधत् ॥४॥

---

१. प प्रतौ टीकाकारप्रशस्तिर्नास्ति।

तत्पट्टोदयेति—उन क्षेमकीर्ति के पट्टरूपी विशाल उदयाचल पर उदय को प्राप्त करने वाले हेमकीर्ति नाम के मुनि हुए जो कि सूर्य के समान थे तथा कठिनाई से जीतने योग्य राग द्वेष रूपी महान् अन्धकार के समूह को सम्यग्ज्ञानरूपी किरणों से विदीर्ण करते थे, श्रीमान् थे, भव्य जीव रूपी कमलों के समूह में अत्यधिक विकास की शोभा को धारण करते थे और दिगम्बर पथ के अलंकार स्वरूप सुशोभित हो रहे थे ॥४॥

विदितसमयसारज्योतिषः क्षेमकीर्ति-
र्हिमकरसमकीर्तिः पुण्यमूर्तिर्विनेयः।
जिनपतिशुचिवाणीस्फारपीयूषवापी -
स्नपनशमिततापो रत्नकीर्तिश्चकास्ति ॥५॥

विदितेति—उन हेमकीर्ति के क्षेमकीर्ति नामक शिष्य थे जो समयसार रूप ज्योतिष के ज्ञाता थे, चन्द्रमा के समान कीर्ति से सहित थे तथा पुण्यमूर्ति थे। उनके शिष्य रत्नकीर्ति थे जिन्होंने जिनेन्द्र भगवान की पवित्र वाणी रूपी अमृत की वापिका में स्नान कर संताप को शान्त किया था ॥५॥

आदेशमासाद्य गुरोः परात्मप्रबोधनाय श्रुतपाठचंचुः।
आराधनाया मुनिरत्नकीर्तिष्टीकामिमां स्पष्टतमां व्यधत्त ॥६॥

इति प्रशस्तिः।

इति पंडिताचार्यश्री रत्नकीर्तिदेवविरचिताराधनासारटीका समाप्ता।

आदेश मिति—गुरु की आज्ञा पाकर आगम के स्वाध्याय में निपुण रत्नकीर्ति मुनि ने परात्मा का प्रबोध कराने के लिए आराधनासार की यह अत्यन्त स्पष्ट टीका रची है ॥६॥

इस प्रकार पण्डिताचार्य श्री रत्नकीर्ति देव द्वारा विरचित आराधनासार की टीका समाप्त हुई।

हिन्दीटीकाकारस्य प्रशस्तिः

गल्ली लालतनूजातो जानकीकुक्षिसंभवः।
पन्नालालो बुधष्टीकामेतां सागरसंस्थितः ॥१॥
देवसेनकृतेराराधनासारस्य मञ्जुलाम्।
राष्ट्रभाषामयींकृत्वा हृदये मोदनेतराम् ॥२॥
रत्नकीर्तिमुनिश्रेष्ठरचितां विशदार्थकाम्।
देवभाषामयीं टीका मालम्ब्यैषा प्रवर्तिता ॥३॥
पञ्चनवचतुईन्द्वन्प्रमिते वीरवत्सरे।
वैशाखकृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां तिथौ तथा ॥४॥

पूर्वाह्ले भौमवारस्य समाप्ता विदुषां प्रिया।
टीका भव्यजनानां स्यादात्मतत्त्वप्रदर्शिका ॥५॥
आचार्यपद- विभाजि - शिवसागर- सन्मुनेः।
आशिषं च शुभादेशं लब्ध्वेयं रचिता मया ॥६॥
टीका समाप्तिवेलायामसौ नो विद्यते क्षितौ।
अधिस्वान्तं महादुःखं वर्तते तेन मे ध्रुवम् ॥७॥
संयमस्य विधातारं स्वर्गस्थं सूरिसन्मणिम्।
यतीशं यतिभिर्मान्यं परोक्षं प्रणमाम्यहम् ॥८॥
श्रुतसागरनामानं श्रुतसागरसन्निभम्।
शिवसागरसंघस्थं मुनीशं विनमाम्यहम् ॥९॥
ब्रह्मचारी लाडमल्लो मल्लो मारविदारणे।
जीयात्सद्धर्मसस्नेहः सच्छास्त्रस्य प्रचारकः ॥१०॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रंथः॥

गाथा अनुक्रमणिका

आराधनासार की संस्कृत टीका में उद्धृत तथा प्रशस्तियों सम्बन्धी गाथा और श्लोकों की अनुक्रमणी

आराधनासार टिप्पण
कर्ता
पण्डितप्रवर आशाधर

प्रणम्य परमात्मानं स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम्।
आराधनासारगूढ - पदार्थान्कथयाम्यहम्॥१॥

१. **विमलेत्यादि**—विमलेभ्यः क्षीणकषायगुणेभ्योऽतिशयेन विमला विमलतराः शुद्धतराः गुणाः परमावगाढसम्यग्दर्शनादयः। सिद्धं जीवन्मुक्तं जगत्प्रतीतं वा। सुरसेनवंदिय-सह इनैः स्वामिभिर्वर्तन्ते सेनाः सस्वामिकाः निज निज स्वामियुक्तचतुर्णिकाय देवैस्तथा देवसेननाम्ना ग्रन्थकृता नमस्कृतमित्यर्थः।

२. **आराहणाइसारो**—सम्यग्दर्शनादीनामुद्योतनाद्युपायपञ्चकाराधना तस्याः सारः सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयं तया; तस्यैवाराधनतयोपादेयत्वात्। तपरत्नत्रयाविभावार्थमिच्छानिरोधस्तपः अतएवास्य प्रथममुपादानं यतो दर्शनादीन्युत्कर्षयते॥ समवाओ-समवायः आत्मनि तपः प्रभृतीनां कथंचित्तादात्म्यपरिणतिरिर्थः।

३. **ववहारेण**—णयववहारो भिन्नकर्तृकर्मादिविषयः। परमट्ठो अभिन्न कर्मादिविषयः। जिणभासिय-जिनेन तत्त्वार्थश्रद्धानादिरूपतया कथितः तथैव स्वयमेव आचार्यैर्व्याख्यातम्।

४. **भावाणं**—भावानो जीवादिपदार्थानाम्। सुत्ताउत्तजुत्ताहिं-सूत्रोक्तानि प्रवचनानि; युक्तयो नय-प्रमाणात्मिकास्तैस्ताभिश्च। सूत्रोक्ताभिर्वा युक्तिभिः।

५. **सुतत्थभावणा**-भावना पुनः पुनश्चेतसि सन्निवेशनम्। अधिगमोऽवबोधः।

६. **तेरसविहस्स**-पञ्चभिर्व्रतैस्त्रिभिर्गुप्तिभिः पञ्चभिः समितिभिर्भिन्नस्य। भावसुद्धाए-संक्लेश-रहितत्वेन। दुविहअसंजमचाओ-हिंसा विषयाभिलाषश्च द्विविधोऽत्रासंयमोऽविरतिस्तस्यास्त्यागः तदात्मक चरणमितियोज्यम्।

७. **वारसविह**—अनशनादिक षोढा बाह्यं प्रायश्चित्तादिकं च षोढाऽन्तरंगम्।

८. **सुद्धणये**—निश्चयनये विवक्षिते सति, चउखंधं-चतुर्णां सम्यग्दर्शनादीनां समुदायः, वियप्पा-विकल्पः कर्तृकर्मादिभेदाः। मुक्तोऽहमित्यत्यन्तजल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालं वा। सुद्धो-रागाद्यकलुषः अप्पा-चिच्चमत्कारमात्रं, णिरालंबो-स्वरूपमात्रावलम्बनः।

९.**सद्दहइ**—अभिनिविशते याथात्म्येन प्रतिपद्यत इत्यर्थः। सस्सहाव-स्वपरप्रकाशनरूपं, सुद्धं-चिद्रूप, अमुहयन्तमरज्यन्तमद्विषन्तं चेत्यर्थः। तथा विभक्तिपरिणामेन सुद्धैणेति योज्यम्, अमुहयता-अरज्यता-अद्विषता वात्मनानुभवतीत्यर्थः। तं चिय-शुद्धमात्मानमेव, अणवरइ-अनुतिष्ठति, शुद्धात्मनेन स्थितिं करोत्यर्थः। इंद्रिय इत्यादि-इन्द्रियाणि विषयेभ्यो व्यावृत्येत्यर्थः। एतेन तपोऽप्यात्मैवेत्युक्यं स्यात्।

११.**आराहणा**—आराहण-उद्योतनाद्युपायरूप आराधना, आराह-सम्यग्दर्शनादिकमाराध्य, फलं मोक्षः संवरनिर्जरे च।

१२. **पज्जयणयेण**—णिच्छयणयदो-शुद्धनयमाश्रित्य सद्दहइ सस्सहावं-इत्यादिसूत्रैर्भणितस्येति

योज्यम्।

१३. कारणकज्जविभागं-कारणं व्यवहाराराधना; कार्यमन्या, तथा कारणं निश्चयाराधना कार्यं मोक्षं कारणं मोक्षं कार्यमनन्तसुखमित्येवं त्रीणि युगलानि। काल पहुइलद्धीए–कालद्रव्यादिसाधन शक्तोः।

१४. जीवो भमइ–णरय णरतिरिय-नारकनर तिर्यक्पर्यायरूप, उपलक्षणाद्वेव-पर्यायरूपम्॥१४॥

१५. संसारकारणाइं–अलबणइ-आत्मस्वरूप व्यतिरिक्तानि श्रद्धानाविषयभूतानि वस्तूनि, तानि च संसारकारणानि; तद्द्वेषरागस्य बन्ध कारणत्वात्। तथा चोक्तं–

बज्झइ परदव्वरओ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिण उवएसो समासदो बंधमुक्खस्स॥

१६.भेयगया–पारंपरेण-पारंपर्येण न साक्षान्निश्चयाराधनया व्यवधानात् मोक्खस्स (मोक्षस्य) वि अपि वस्तुतो निर्जरासंवरयोस्तदनुषक्तरागजनितपुण्यस्याभ्युदयहेतुत्वादुपचारेणाभ्युदयस्य व्यवहाराराधना कारणमित्यपि शब्देन सूच्यते।

१७. णिहयकसाओ–कदाचिदपि कषायाविष्टो न भवतीत्यर्थः। दंसणवंतो–सम्यग्दर्शन शुद्धः। णाणसंपण्णो-नित्यं स्वाध्यायतत्परः। हवइ हु-भवत्येव।

१८. संसारेत्यादि–संसारसुखेभ्यो विरज्य विविधतपस्तप्तदेहोभूत्वा परमोपशमीरूपं वैराग्यं शान्तरसं संप्राप्त इत्यर्थः।

१९. अप्पेत्यादि–यतः परद्रव्यसङ्गसौख्यरसो वर्जितस्तत आत्मस्वभावे नियतमवश्यं रत आसक्त इत्यर्थस्ततश्च निःशेषमथितरागद्वेषः।

२०. जो इत्यादि–यो रत्नत्रयमात्मनो विशुद्धमात्मनः स्वभावं मुक्त्वा परद्रव्यं देहादिकमिदं मम इष्टमिदं वानिष्टमिति संकल्पयति स विराधको भवति; मिथ्यात्वं गत्वा म्रियते निश्चितमिति भणति जिनो जिनागमो वा। अथवा यो विशुद्धात्मानं त्यक्त्वा अविशुद्धात्मानमन्यद्रव्यं वा ध्यायति सोऽपि वा विराधका भवतीति निश्चयनयः कथयतीति।

२१. जो णवि–अप्पा आत्मानं आर्षप्राकृते विभक्तिविपर्ययदर्शनात्। णिच्छयं निश्चयनयं, समासेज्ज समाप्रेत्य; बोही-रत्नत्रयप्राप्तिः सुसमाहीराहणा भावरूपाराधना, द्रव्यरूपा न कदाचिदेव योग्या स्वादीतिभावः।

२२-२३ अरिहो इत्यादि–अनेन गाथाद्वयेन वक्ष्यमाणलक्षणोऽर्थ उद्दिष्टः। अहः स क्षपकश्चिरभव-बद्धानि कर्माणि, हणउ हन्तु। किं कृत्वा? मनोगजप्रसरस्य निरोधं कृत्वा। एतेषु चिकीर्षता तेन किं कर्तव्यमित्याह सगच्चाउ इत्यादि।

२४. छंडिय–गिह-गृहादिरचेतनपरिग्रहः। वावारो–कृष्याद्यारम्भः। सण्णासे समाधिमरणे।

२५-२८. जरवग्घिणीत्यादि–तरइ शक्नोति, णिज्जावओ निर्यापकः समाधौ स्थापयितुम्। सिढिलायंति य- आशिथिलानि शिथिलानि भवन्ति। संधिबंधाइसन्धिषु बंधो येषां। जमो यावज्जीवं धार्यव्रतम्। जोएसु-योग अत्तापनादिः उत्तमट्ठाणस्स समाधिमरणस्स।

२९. सो सण्णासे–विण्णासो-विधिपूर्वकं व्यसनमात्मनः।

३०. खित्त बाहिराणि—मिच्छ पहुदि–मिथ्यात्वादयश्चतुर्दश। णिरारंभो–पापक्रियारहितम्।

३१. संगच्चाएण—फुड स्वस्य परेणां च विदितम्।

३३. देहो बाहिरगंथो—अण्णो अभ्यन्तरग्रन्थः, परमत्थे निश्चयनयेन।

३४. इंदियमयं—तेसु इन्द्रियाणां गमणेच्छा–प्रवृत्त्याभिलाषः। ताणुबेरिं इन्द्रियविषयान्प्रति; हयमोहो विरतभोगत्वबुद्धिः।

३५. सल्लेहणा—सल्लेहणा कृशीकरणं बाहिरजोएहिं–आतापनादिभिः। विरत्या समाधिरसद्धितो।

३६. अत्थि कसाया—तिहुअणं त्रिजगज्जीववर्गः भभाडिज्जंतो स्वस्वरूपात्प्रच्यावमानः।

३७. जाम ण—स क्षपकः; कसायी कषायाविष्टः सन्, गुणा ज्ञानादयः।

३९. सल्लेहिया—चित्तसंखोइं मनश्चंचलत्व। उत्तमधम्मं यथाख्यातचारित्रम्।

४०. सीयाई—उपसम–रागद्वेषत्यागः। णाण–नरकादिदुक्ख चिन्तनम्।

४१. परिसहसुहडेहि—भग्गा–भग्ना आत्मस्वरूपान्प्रच्याविताः पलायिताश्च। सरीरपडियार–प्रावरण भोजनादि।

४२. दुक्खाइं—सवसोवि–स्वाधीनोऽपि सन्।

४३. अइ तिव्व वेयणाइं—भावणा–अन्यत्वाद्यनुचिन्तनानि। सुसमा–सुष्ठूपसमाहारिणी।

४४. परिसह—गुत्तितय–सम्यग्मनोवाक्कायनिग्रहः। गुत्ति–शत्रुभिरगम्य दुर्गम्। ठाणं–स्थान विशाखादि वा। मोक्खो अपवर्गो विसर्गश्च।

४५. परिसह दवग्गि—णिव्वाणं–आह्लाद शैत्यं च।

४६. जइ हुंति–समेत्यादि–शमः उपशमः भावना अन्यत्वाद्यनुप्रेक्षा, णाणं–ज्ञानं, अन्यत्शरीर–मन्योहमित्यादिबोधः तेषुचित्तं यस्य।

४७. णाणमय—भावियचित्तेहि–वासितमनोभि।

४९ शिवभूइणा–चेयणारहिओ अचेतनकृतः। तत्कथा संक्षेपतो यथासुकुमालस्वामिना तिर्यक्कृतो महोपसर्गो सोढो यथा संक्षेपतो लिख्यते–

एकदा कौशाम्ब्यामग्निभूतिना स्वपितृव्यं सूर्यमित्रमुनिं स्वगृहे भोजयित्वा तमनुव्रजितेन तस्माद्धर्ममाकर्ण्य तपो गृहीतम्। तद्भार्यया च तद्वार्तामाकर्ण्य दुखितया स्वदेवरो वायुभूतिभणितः–रे! निकृष्ट! त्वया स्वभ्रात्रा वारं वारं भणितेनापि तदा सूर्यमित्रमुनेः प्रणामो न कृतः प्रत्युत निन्दैव कृता, तेन कारणेनाग्निभूतिना तपो गृहीतमिति। तथा क्रोशन्ती सा वायुभूतिना पादेन मुखे हत्वा भणिता, पापिष्ठे! त्वमपि तस्यैवाशुचेर्नग्नस्य पार्श्वे गच्छेति। ततस्तया रोषान्निदानं कृतं–जन्मान्तरे तव पादं सपुत्राहं भक्षयिष्यामीति। ततो वायुभूतिस्तिर्यग्नर–भवेयु भ्रान्त्वा तपसाच्युते देवो जातः। तस्मादागत्योज्जयिन्यां सुकुमार नाम श्रेष्ठी जातः। एकदा तन्मातुलेन गुणधराचार्येण तस्य स्वल्पमायुर्ज्ञात्वा तदुद्यानवने आगत्य चातुर्मासयोगो गृहीतः। सुकुमालजनन्या तु त्वत्पुत्रो मुनिं दृष्ट्वा तपो गृहीष्यतीति पूर्वोक्तमवधिज्ञानिमुनिवाक्यं स्मरन्त्या गुणधराचार्यस्य स्वगृहप्रवेशः स्वाध्यायघोषश्च योगान्त यावन्निषिद्धः। तेन च योगं निष्ठाप्य ऊर्ध्वलोकप्रज्ञप्ति पठताच्युतस्वर्गं देवतानामायुरादिक व्यावर्ण्ययानं

श्रुत्वा सुकुमालस्वामी जातिस्मरोभूत्वा तन्मुनिसमीपे गतः। ततस्त्रीणि दिनानि तवायुरिति मुनिवाक्यं श्रुत्वा स प्रव्रज्य संन्यासं च गृहीत्वा पादोपयानमरणेन स्थितः। ततस्तयाग्निभूतिभार्यया कृतनिन्दानया संसारं परिभ्रम्य तत्रैव श्रृगालीभूतया चतु:पुत्रयुक्तया पूर्वभववैरसम्बन्धेन पादाभ्यामारभ्य खाद्यमानोऽपि सुकुमाल-मुनिस्तृतीयदिने परमसमाधिना कालं कृत्वाच्युते देवो जातः। कोसलेहिं-तस्य कथा

अयोध्यायां सिद्धार्थो नाम श्रेष्ठी तत्प्रियतमा जयावती तयोश्च पुत्रः सुकोशलो नामाभूत्। तन्मुखं दृष्ट्वा श्रेष्ठी मुनिर्जातः। ततो मां बालपुत्रां मुक्त्वा प्रव्रजित इति तस्योपरि जयावती भृशं कुपिता मुनीनां च किमस्य तपो दातुं युक्तमिति कोपाद्गृहे प्रवेशो निषिद्धः। ततो दिग्देशान्तरं विहृत्यागतं चर्यायां प्रविष्टं द्वारस्थमुनिं दृष्ट्वा कोऽयमिति तिरस्कृतं धात्रीमुखेन स्वपितरं ज्ञात्वा सुकोशलेन तस्यैव समीपे तपो गृहीतम् ततो जयावती तदार्तेन मृत्वा मगधदेश मौङ्गिलगिरौ व्याघ्री त्रिपुत्रा जाता। ततस्तौ मुनी तत्रैवगिरौ चातुर्मासेन योगं गृहीत्वा योगान्ते च चर्यायां प्रविष्टौ। तां व्याघ्रीं दृष्ट्वासंन्यासेन स्थितौ। पूर्वरोषात्क्रमेण वीक्ष्यमाणौ समाधिना मृत्वा सर्वार्थसिद्धावुत्पन्नौ।

५० गुरुदत्तपडवेहिं–गुरुदत्तस्य कथा–

हस्तिनागपुरस्य राजा गुरुदत्तो द्रोणीमतिपर्वते लोकोपघातकं व्याघ्रं श्रुत्वा सर्वजनैः सह गत्वा वेष्टितवान्। ततो व्याघ्रो गुहां प्रविष्टः। ततो राज्ञा काष्ठानि गुहान्तः प्रक्षिप्याग्निः प्रज्वालिनः। ततो व्याघ्रो मृत्वा चन्द्रपुर्यां कपिलोनाम ब्राह्मणोऽभूत्। अथ गुरुदत्तो मुनी भूय विहरत् तत्क्षेत्रसमीपं। गत्वा कायोत्सर्गेण स्थितः। कपिलोऽपि निजभार्यां भोजन गृहीत्वा शीघ्रं समागच्छेरित्युक्त्वा निर्गतः। तत्क्षेत्रं कर्षणायोग्यं मत्वा मदीया ब्राह्मणी यदि समागच्छति तदा मत्पार्श्वे प्रेषयति मुनिं निवेद्यान्यं क्षेत्रे गतः। ततो ब्राह्मण्या चागत्य पृष्टोऽपि मुनिः मौनेन स्थितः। ततः सा गृहं गता। बृहद्वेलायां कपिलेनागत्य सा निर्भर्त्सिता-रण्डे मुनिं पृष्टा किं नायातासि। तयोक्तं पृष्टोऽपि स न ब्रूते। ततो रुष्टेन तेन शाल्मलितूलेनावेष्टय ततोऽग्नौ प्रज्वलिते मुनिना परमध्यानेन केवल ज्ञानमुत्पादितं ततो देवागमने जाते कपिलः स्वनिन्दित्वा तस्माद्धर्ममाकर्ण्य मुनिः जातः।

पंडवेहिं-एतेषां कथा

अतिपक्षान्निर्जित्य राज्यं कुर्वद्भिर्युधिष्ठिरादिपाण्डवैः श्रीनेमिनाथो निर्वाणं गत इति कुतश्चिदाकर्ण्य निर्वेदं गत्वा राज्यं परित्यज्य तपोवनं प्रपन्नैः समाधिसिद्धये शत्रुञ्जयगिरीन्द्रशिखरमारुह्य स्थिरं प्रतिमायोगेन शिलोत्कीर्णरिव स्थितम्। तथा स्थितांश्च तानाकर्ण्य केनापि दुर्योधनगोत्रिकेण कूर्चापुरराणकेन तत्पूर्ववैर-मनुस्मृत्य क्रोधानलप्रज्वलितेन तत्रागत्य पाण्डवमहामुनीन् प्रत्युपसर्गश्चक्रुः। तथाहि मुकुटकुण्डलहार-केयूरकटकाद्याभरणानि लोहमयानि वह्निना आताप्य सन्दंशैगृहीत्वा तेन निर्दयेन मर्मच्छेदीनि वाक्यानि ब्रुवता पाण्डवानां मस्तकादिषु योजितानि। ततो युधिष्ठिर भीमार्जुनास्त्रयः स्वस्यैवकर्म विपाकं निर्वारं गण्यन्तः शरीरादात्मानं भिन्नं भावयन्तः शुक्लध्यानमनुप्रविश्य घातिकर्माणि क्षपयित्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य शेषाण्यपि कर्माणि निर्मूल्यान्तकृतो मुक्तिं गताः। नकुलसहदेवौ तु अद्यापि यदि राजा आदिशति तदा बाहुबलेन शत्रून् आवां हन्व इति क्षणं ध्यात्वा पुनः अतिबुध्यात्मानं निन्दित्वा परमधर्मध्यानेन सर्वार्थसिद्धिं गतौ।

गयवर कुवरेहिं अस्य कथा

द्वारावत्या राजा वसुदेवस्तत्पुत्रश्च गजकुमारोऽभूत्। एकदा पोदनपुरनरेन्द्रमपराजितं स्वस्यासाध्यं मत्वा वसुदेवेन घोषणा दापिता, योऽपराजितं बद्ध्वा आनयति तस्मै ईप्सितवरं ददामीति। ततो गजकुमारेण गत्वा युद्धे बद्धवा आनीय स पितुः समर्पितः ततश्च कामचारं वर वरीत्वा स द्वारावती स्त्रीजनं सेवमानः पांशुलश्रेष्ठिभार्यायामासक्तोऽभूत्। अन्यदा गजकुमारः श्री नेमिजिनाद्धर्मं श्रुत्वा प्रव्रज्य विहृत्योर्ज्जयंतोद्याने पादोपयानमरणं स्वीकृत्य संन्यासेन स्थितः। पांशुलश्च चिरक्रोधात्तं लोहकीलैः सर्वतः कीलयित्वा नष्टः। कुमारोऽपि तां तादृशीं घोरवेदनामगणयित्वा समाधिना मृत्वा स्वर्गगतः॥

५१. अमरकओ—सिरिदत्त अस्य कथा

इलावर्धनपुरे राजा श्रीदत्तो राज्ञी शुभमतिः। तयोर्द्यूतक्रीडतो राजनि हारिते सति राज्ञीशुक एकां रेखां ददाति ततो राज्ञा कोपाच्छुको गले मोटितः सन् मृतो व्यन्तरो देवोजातः। श्रीदत्तोऽप्येकदा प्रासादस्थो मेघविनाशमालोक्य वैराग्यान्मुनिभूत्वा विहरन्नैकाकी निजनगरमायातः। शीतकाले बहिः कायोत्सर्गेण स्थितः। तेन व्यन्तरदेवेन घोरशीतवातार्तः (पीडितं) कृत्वा शीतलजलेन सिक्तः परमसमाधिना निर्वाणं गतः।

५३ इंदियवाहेहिं—सर-कामो वाणश्च॥५३॥

५४. सव्वं चायं—अहलं-संवर निर्जरालक्षणफलहीनं। विषयाभिलाषस्य पापास्त्रव-तृष्णाभिर्वृद्धि-हेतुत्वात्।

५५. इंदियविसय वियारा—वियरा उत्कण्ठापरितापकरणादयः।

५६. इंदियमल्लेहिं—विषयाण-कामिन्यादीना। तत्थवि-अपि शब्दोऽत्र विस्मये आश्चर्यं यदुत कामिन्यादिवशवर्तितायामपि सुखं संभाव्यते पराधीनतया नरकवत् दुःखातिशयहेतुत्वात्। ‘‘को नरकः परवशता’’ इत्यभिधानात्।

५७. इंदियगयं—सुणाणिणो-स्वस्थात्मभाविनः। उक्तं च-यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्।

५९. मणणरवइ-जयं जगत्।

६०-६१. मणणरवइणो—मरणे-मनसो मरणं विकल्पाभावः। ताणं मरणेण-इन्द्रियाणां स्वस्व विषयस्य व्यावर्तनेन। मरंति-हतप्रभावाणि भवन्ति विनश्यति च मोक्खो-भव्ययोगापेक्षया निर्जरासंवरौ; सिद्धयोगापेक्षया च साक्षात् जीवन्मुक्तिः परम्परया च परममुक्तिः।

६३. पिच्छह णरयं—मण इत्यादि-शालिसिक्थाख्यो हि मत्स्यो महामत्स्यस्य कर्णे स्थितः। तस्य निद्रया वृत्ते मुखे प्रविशन्ति मत्स्यकुलानि पश्यन्नेवमेकाग्रचेतसा चिन्तयति-मूढात्मायं मुख नसंवृणोति यद्यहमेवंभूतो भवामि तदा मुखं संवृत्य सर्वाणीमानि ग्रसे। इति रौद्रध्यानवशान्पापमुपार्ज्य नरके गत इति श्रुतिः।

६४-६५. सिक्सह-उपसमवंतो-निग्रहं प्रसरनिरोधः।

६६. जहं जहं विसएसु—णाणमासिज्ज-दुःखहेतुत्वात् त्याज्या इमे इति ज्ञानात्। आलंवणारहिओ-

मनो हि इन्द्रियैः प्रीत्या गृह्यमानात् विषयनालम्ब्य प्रसरति बाह्यार्थग्रहणे तस्य स्वतन्त्रत्वात्।

६७. **विषयालंबणः**—संतो सत् तन्मनः।

६८. **णिल्लूरह**—णिल्लूरह-छिन्नविस्तारं कुरुतः। मणवच्छो मनोवृक्षं। अहलो रागद्वेषाविष्टस्य हि मनसः फलं कर्मबन्धः मोह-ममेदमहमस्येत्यादि विभ्रमः।

७०. **मणमित्ते**—प्रवर्तमाने वाक्कायव्यापारे सत्यसत्यपि चेत्यर्थः।

७१.**परिहरिय**—सुण्णं निर्विकल्पं।

७२. **तणुवयण**—आसवा आगमनानि। निष्पन्द-निर्व्यापारः। समनो निजचित्तं।

७३. **खीणे**—दुवियप्पे-कर्मागमनरूपे द्रव्यास्त्रवे तत्कारणात्मशक्तिरूपे भावास्त्रवे च।

७५. **उव्वासह**—उव्वसह निर्विकल्पं कुरुत। केवलो-चित्तादिसहायरहितः।

७६. **तणुमण**—तणुत्यादि-कायादिव्यापाररहितः। यो विवक्षितपदार्थः स सर्वोऽपि।

७७. **सुण्णज्झाण**—सुण्णज्झाकाणि स्वरूपमात्रालम्बनः समाधिः। परमाणंदे थक्को स्वस्वभाव सौख्यात् सम्पन्नात्पुनं प्रच्यवमानः। भरियावत्थो अनन्तज्ञानादि स्वरूपम्।

७८. **जत्थेत्यादि**-जत्थेत्यादि-उक्तञ्च

सोऽयं समरसीभावस्तदेकी करणं परम्।

अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि (ज्ञानार्णव ३१-३८)

झाणं मनःश्रुतज्ञानं च यं मनोगत वस्तु। झायारो-ध्यातिक्रियाविशिष्टः आत्मा। चिंतण शब्दानुविद्धं ज्ञानं। घारणवियप्पो पृथिव्यादिधारणानां मध्ये एकापि नास्तीत्यर्थः।

७९. **जो खलु**—सुद्धो भावो-मोह क्षोभविहीनात्मपरिणतिः।

८२. **एवं गुणोहिं**—मोक्खो आत्मनः शुद्धस्य कर्मक्षपणाभिमुख्यविवक्षया मोक्षमार्गत्वमुच्यते। कर्मविविक्तमात्रविविक्षायां तु मोक्षत्वमिति विभागः।

८३ **जामवियप्पो**—चिंता-अपरापरवस्तुषु मनसः संप्रवृतिः॥ एकवस्तुनि सैव सन्तानवर्तिनी भावना।

८५. **उव्वसिए**—उव्वसिए शून्यीभूते।

८७. **णीसेस कम्म**—अणंतणाण चउखंधं-अनन्त ज्ञानदर्शनवीर्यसुखानि अण्णेवि-क्षायिक लाभादयः।

९०. **इय एवं**—संसारमोक्खट्ठं संसारत्यागार्थं।

९१. **धण्णा ते**—उत्तमट्ठं निश्चयाराधनाचतुःस्कन्धः।

९२. **धण्णो सि तुमं**—सुजस हे सुकीर्ते। सुज्जय इति क्व चित्याः। तत्र हेतुरुच्यते-लद्धं येन त्वया प्राप्तं। उत्तमं समाधियुक्तं।

९३. **किसिए**—विगय यामस्स-निःशक्तिकस्य। कायमणहुयं शारीरं मानसं च॥९३॥

१००. **जावण**—णिव्वडइ-निःसरति।

१०१. **णाहं देहो**—एत्थ-एतयोर्देह मनसो ज्ञायमानानि।

१०४. **णिच्चो**—सया रूवी सदा अमूर्तः। एक्को असहायः एक द्रव्यरूपो वा। केवलःशरीरादिना

सम्बन्धरहितः। सुद्धोद्रव्यभावकर्मरहितः।

१०५. इयभावणाइं—अवगण्णिय अवहेल्य। कोसाओ-अप्रत्याकारात्।

१०७. कालाई—केइं चरमदेहाः (अट्ठकम्मसंखलं केइ) इति पाठे।

१०८. आराहिऊण—केई-अचरमदेहाः। उव्वरिय सेसपुण्णाः-प्रायःक्षपित् सवृत्त सुकृत समस्त पातका इत्यर्थः। सव्वट्ठ-सर्वार्थसिद्धिविमानं।

१०९. जेसि हुंति-जेसि श्रावकाणामसंयत्तसम्यग्दृष्टीनां च। जहण्णा-सम्यक्त्वज्ञानादयः। विशुद्धत्वेऽपि संयमतपसोः क्वचित्क्वचित्प्रभासप्ता बाह्यातिरूपतया भावच्। दात् सप्त वाष्ट अतिरूपतया भवांश्च।

११०. उत्तमदेव—आराहणा इत्यादि-झाणट्ठा-ध्यानेन धर्म्ये शुक्ले च स्थित्वा। आराहण उवजुत्ता-परमावगाढ सम्यक्त्व केवलज्ञानशैलेश्य लक्षणरत्नत्रयपरिणताः सन्तो भव्यः सिद्धयन्ति द्रव्यभाव कर्म निर्मुक्ता भवन्ति।

१११. अइ कुणइ—अप्पं आगुवताराधनापरिणतमात्मानम्।

११४. ण य मे अत्थि—णिय-आत्मा।

विनयेन्दुमुनेर्हेतोराशाधरकवीश्वरः। स्फुटमाराधनासारं टिप्पनं कृतवानिदम् ॥१॥

उपशमद्रवमूर्तेःसागरेन्द्रो मुंनीन्द्रा-दजनि विनयचन्द्रःसचचकोरैकचन्द्रः।

जगदमृत सगर्भाः शास्त्र संदर्भगर्भा शुचिचरित धरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः ॥२॥

एवमाराधनासत् गूढार्थविवृतिः शिशून्। श्रेयोऽर्थिनो बोधयितुं कृताशाधरधीमता।

श्री विनयचन्द्रार्थमित्याशाधरविरचिताराधनासारविवृतिः समाप्ता। शुभमस्तु, श्री आदिजिनं प्रणम्य।

लिपिकालः १५८१॥छ॥छ॥